हिन्दी क्रियाओं का अध्ययन

[STUDIES IN HINDI VERBS]

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत]

●

शोध-प्रबन्ध

●

प्रस्तुतकर्ता

राजकिशोर सिंह, एम०ए०

●

निर्देशक

डॉ० माताबदल जायसवाल

रीडर, हिन्दी-विभाग

प्रयाग, विश्वविद्यालय

●

हिन्दी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

इ ला हा बा द

१९७५

दो शब्द

क्रिया भाषा का आत्मस्वरूप है और हिन्दी का हिन्दीपन उसकी क्रिया में निहित है। आर्य-भाषा-परिवार में सबसे सरल, सबसे जटिल और सबसे अधिक लम्बी यदि कोई क्रिया है, तो वह हिन्दी-क्रिया है। लिंगभेद उसकी चरम विशेषता है लेकिन वही उसकी सबसे बड़ी कठिनाई भी है। इस ग्रन्थ की पूर्व-पीठिका में हिन्दी-व्याकरण के प्रति यह सहज प्रश्न जिज्ञासु मन में प्रारम्भ से ही उठते रहे हैं। लेकिन शोध की अवधि में यह भी अनुभव हुआ कि हिन्दी-क्रिया-रचना जितना अपने रूपबोध में जटिल नहीं है, उससे अधिक उसके लेखन-परीक्षण ने उसे जटिल बना दिया है। इसके तीन कारण हैं –

(१) अंग्रेज़ी-पद्धति पर हिन्दी-व्याकरण रचना
(२) संस्कृत व्याकरण के मोह के कारण हिन्दी के नियमन का संस्कृत-सूत्रों के अनुसार प्रयास
(३) यह तथ्य विस्मृत करना कि जब संस्कृत रूपों में सरलता आयी तब हिन्दी-क्रिया जटिल कैसे हो गई।

रूपावली की सरलता का अर्थ काल-रचना का विस्तार नहीं होता, लेकिन हिन्दी में १६ से २५ कालों तक की गणना की गई है। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार न तो सैद्धान्तिक है और न विकासात्मक। शोध का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से होता है।

हिन्दी में क्रिया के सिद्धान्तपक्ष पर कोई निश्चित सामग्री नहीं मिलती। इस रूप में, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध हिन्दी में सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रथम प्रयास है। सम्पूर्ण प्रबन्ध दो खण्डों और बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में क्रिया रूपों की व्युत्पत्ति और विकास है एवं द्वितीय खण्ड में व्याकरण। दोनों ही खण्डों में क्रिया के सैद्धान्तिकपक्ष पर विचार किया गया है। धातुरूपों की स्थिरता, क्रिया

के भेद, काल-रचना और संयुक्त क्रिया आदि में केवल व्युत्पत्ति और विकास से ही समाधान नहीं होता। इसलिये परिवर्तन के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कारणों, मानवीय मनोविज्ञान और लोकरुचि आदि पर भी विचार करने की आवश्यकता हुई है। इसी प्रकार प्रयोग की विकासमान प्रक्रिया में मुहावरेदार कथन और अलंकृतशैली को भी परवर्ती रूपों के विकास और अर्थ-विन्यास में सहायक पाया गया है।

द्वितीय खण्ड--व्याकरण के अन्तर्गत परिभाषा, लक्षण, और नियम निर्धारण में सिद्धान्त-विवेचन हिन्दी-क्रिया की दृष्टि से अनिवार्य था। इस विवेचन में कहीं कहीं प्रचलित व्याकरण-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता भी अनुभव हुई। परिणामस्वरूप प्रचलित नियमों की संख्या १५ से घट कर तीन ही रह गई। यह नवीन उपलब्धि भी है और सरलीकरण भी, जिसके पीछे क्रिया का विकास और सिद्धान्त दोनों ही प्रमुख रहे हैं। हिन्दी-क्रिया के अध्ययन में दो-तीन समस्याओं से बारबार जूझना पड़ा है। सर्वप्रथम, हिन्दी-व्याकरण में न तो पूर्णतया संस्कृतसिद्धान्तों का पालन किया गया है और न तो अंग्रेज़ी के नियमों का। दूसरे, कहीं कहीं मराठी और गुजराती व्याकरण का भी अवलम्बन किया गया है। तीसरे, अनुशासन सम्बन्धी ग्रन्थों में न तो प्रचलित प्रयोगों को ही मान्यता मिली है और न किसी निश्चित सिद्धान्तको। इसके विपरीत देव-बिहारी-शैली का द्वन्द्व ही अधिक पठनीय है। इसलिये कहीं-कहीं व्यवस्था और प्रयोग-निर्धारण के लिये निगमन शैली का भी आश्रय लिया गया है।

क्रिया के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। अभी तक इस सम्बन्ध में जो कार्य किया गया है उसे तीन रूपों में देखा जा सकता है --

(१) भाषा वैज्ञानिक और विकासात्मक दृष्टि से
(२) विदेशी जिज्ञासुओं के लिये अंग्रेजी में हिन्दी-ग्रामर की रचना और और अंग्रेजी आधार पर हिन्दी-व्याकरण की रचना
(३) प्रयोग-निर्भर अनुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में छिटपुट किन्तु गम्भीर विवेचनपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है, किन्तु क्रिया के सिद्धान्त पक्ष पर यत्किंचित विचार ही मिलते हैं। मैंने लगभग सभी प्रकार की सामग्री का उपयोग करने का प्रयास किया है। साथ ही यह भी ध्यान रखा है कि अन्य विद्वानों की सामग्री का पुनर्लेखन न किया जाय। ऐसी सामग्री केवल वहीं है जहां विवेचना-आलोचना या पुष्टि की आवश्यकता हुई है अथवा उदाहरणास्वरूप उद्धृत करना अनिवार्य था। आदरणीय डा० माताबदल जायसवाल जी का निर्देशन और पूर्ण सामग्री का पृष्ठ-पृष्ठ अवलोकन सचमुच आश्चर्यजनक लगता है। लेकिन उनके आत्मीयतापूर्ण निर्देशन में यह कार्य-सम्पन्न करके मैं अपना अहोभाग्य ही समझता हूं।

इस शोधकार्य में मेरी दृष्टि प्राय: उन रूपों की ओर रही है, जिन्हें प्राय: छोड़ दिया जाता है। प्राकृत प्रकाश आदि ग्रन्थों में एक सामान्य सूत्र है 'शेषं शौरसेनीवत्'। इसका आधार 'प्रकृति: संस्कृतम्' से भिन्न नहीं है। तब जन-सामान्य की जिस औक्तिकभाषा से हिन्दी के अनेक रूप विकसित हुए हैं, उनका निराकरण कैसे हो? इसके लिये मुझे व्यवस्था से अलग संस्कृत, पालि और प्राकृतादि के वैकल्पिक, अनियमित यत्किंचित् प्रयुक्त और त्रुटिपूर्ण कहे जाने वाले रूपों पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ा है। निश्चय ही ऐसे रूपों से हिन्दी-क्रिया के अनेक प्रश्नों को सुलझाने में सहायता मिली है। इसलिये क्रिया के विवेचन में परम्परागत किसी भी निश्चित पद्धति का अनुकरण करने की चेष्टा न होने से नवीन उपलब्धियों पर स्वयं चकित होता रहा हूं।

जहां तक सामग्री के चयन का प्रश्न है, लगता है, कहीं कुछ छूट गया है। अभी भी हिन्दी के कोशग्रन्थ अपूर्ण हैं। हिन्दी-धातुओं के संग्रह में शब्दकोशों से ही सारी सामग्री नहीं मिली। इसमें नाना प्रकार के ग्रन्थों से सहायता लेनी पड़ी है। इसके लिए मानक और अमानक सभी प्रकार की धातुओं का संग्रह किया गया है क्योंकि जो कल तक अमान्य या अशिष्ट था अथवा अप्रयुक्त था (गेल्हना, उफरना, पिराना आदि) आज वही मान्य और शिष्ट बन गया है। अभी और भी क्रियायें

प्रयोग में आयेंगी । अभी तक हिन्दी में प्रयुक्त सभी क्रियाओं की गणना नहीं हो पाई है । इनमें से कुछ ही सौ धातुओं के उदाहरण दिये जा सके हैं । यथासंभव नवीनतम सामग्री देने का प्रयत्न किया गया है, लेकिन व्युत्पत्ति का कार्य श्रमसाध्य और समयसाध्य दोनों है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची अधूरी है । इसके अनेक कारण हैं । हिन्दी-व्याकरण ग्रन्थों के अनेक रूपों और तत्वों का उपयोग पं० कामताप्रसाद गुरु ने अपने व्याकरण में किया है । उनमें प्लैट्स का हिन्दुस्तानी ग्रामर (जो उर्दू व्याकरण है) तथा दामले का शास्त्रीय मराठी व्याकरण प्रमुख रहे हैं । इसी प्रकार दुनीचन्द ने मराठी और गुजराती व्याकरण ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली है और रामलोचनशरण, रामावतार शर्मा तथा रामदहिन मिश्र के व्याकरण ग्रन्थों पर ग्रीव्ज़, नवीन चन्द्र राय और पं० हरिगोपाल पाध्ये आदि का प्रभाव स्पष्ट है । इसलिये, जिन ग्रन्थों की सामग्री, गुरु, रामावतार शर्मा, दुनीचन्द, रामदहिन मिश्र, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, धीरेन्द्र वर्मा, आर्येन्द्र शर्मा, हरदेव बाहरी, ना० नागप्पा, प्लैट्स, ग्रीव्ज़, एथरिंगटन, कैलाग, फिल्लट, हार्नले , ग्रियर्सन और बीम्स आदि के ग्रन्थों में आ जाती है, उनका उल्लेख नहीं किया गया है । इन ग्रन्थों की सूचना गुरु आदि में मिल जायेगी । इस प्रकार अद्यावधि हिन्दी के व्याकरण-ग्रन्थ मिली-जुली प्रणाली पर लिखे गये मिलते हैं । इसी प्रकार हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से लिखे गये 'हिन्दी मेड इंज़ी , डेली हिन्दी' जैसे ग्रन्थों का अथवा जिनका अन्तर्भाव चटर्जी, वर्मा, सक्सेना, तिवारी, तगारे, बाहरी, सुकुमार सेन प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों में हो जाता है, उनका उल्लेख नहीं किया गया । ग्रन्थ-सूची में वैदिक-साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों का नाम नहीं दिया गया है । इनसे उद्धृत अंश यथास्थान उल्लिखित हैं । दो प्रकार के ग्रन्थों का विस्तारभय से उल्लेख करना उचित नहीं प्रतीत हुआ एक तो सामग्री संचयन में उपन्यासादि साहित्यिक ग्रन्थ और दूसरे संस्कृत चुरादि का धात्वर्थ चरितार्थ करनेवाले ग्रन्थ । सुधीजन इनसे परिचित हैं । प्राय: उन्हीं ग्रन्थों की सूची दी गई है जिनका प्रबन्ध में उल्लेख है।

आधार ग्रन्थ के रूप में निश्चित धारणा लेकर नहीं चला, क्योंकि प्रारम्भिक और उच्च कक्षाओं की शब्दावली में क्रिया-रचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं मिलता। हिन्दी के लिये यह दुर्भाग्य की ही बात है कि जो संयुक्त क्रिया कक्षा ५-६ में उल्लिखित है उसका वर्गीकरण व्याकरण-ग्रन्थों में नहीं मिलता और एम०ए० कक्षाओं की क्रियाओं में उल्लिखित रूप भी कहीं विवेचन के विषय नहीं बने इसलिये जहां से भी उदाहरण मिल सके हैं उन्हें ग्रहण किया गया है। ऐसी दशा में पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सम्पूर्ण सामग्री पर नये सिरे से विचार करना उचित प्रतीत हुआ। प्रबन्ध का कलेवर बढ़ाना उद्देश्य नहीं था, इसलिये उदाहरणों और तालिकाओं की संख्या नितान्त आवश्यक रूप में ही दी गई हैं। इसी प्रकार जिन क्रिया रूपों पर प्रचुर सामग्री मिलती है, अथवा कार्य हो चुका है, वहां तत्सम्बन्धी उल्लेख-मात्र ही किया गया है।

सामग्री शोध की दिशा में गुरुवर डा० उदयनारायण तिवारी का आदेश बहुत सहायक हुआ है। यद्यपि अनेक स्थलों पर विवश असहमति प्रकट करनी पड़ी है, लेकिन उनकी सदाशयता में मेरी धृष्टता सदैव क्षम्य रही है और उनका आशीर्वाद मेरा मार्गदर्शन करता रहा है। वस्तुत: उन्हीं के आदेश से मैंने इस दुरूह विषय पर स्वर्गीय डा० धीरेन्द्रवर्मा के निर्देशन में कार्य प्रारम्भ किया था। किन्तु उनके जबलपुर प्रवास के कारण क्रिया-संग्रह से अधिक कार्य न हो पाया था। बीच के वर्षों में अनेकबार भयानकरूप से बीमार हो जाने से कार्य में मन नहीं लगता था। फिर भी धीरे-धीरे कार्य करता रहा। एक प्रकार से सामग्री-संचयन और विशद अध्ययन की दृष्टि से यह व्यवधान अच्छा ही सिद्ध हुआ। लेकिन इसीकारण घर और बाहर मित्रों के उलाहने, गुरुजनों की फटकार और कुछ और भी बटोरता रहा। अन्तत: यह सब कुछ मेरे लिये आशीर्वाद बन गया।

शोधप्रबन्ध का वास्तविक कार्य आदरणीय डा० माताबदल जायसवाल के निर्देशन में किया गया। गुरुवर डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग के समक्ष जब अवधि बढ़ाने का प्रार्थनापत्र लेकर गया तो उन्होंने जायसवाल जी को

सौंपते हुए कहा कि कार्य और कार्य का निर्देशन आज से प्रारम्भ होगा, अवधि बढ़ती रहेगी । डा० जायसवाल ने जिस स्नेह भाव से सारी सामग्री का अवलोकन किया और जितनी तत्परता से एक एक वाक्य का निरीक्षण-निर्देशन किया वह सब कुछ अब विस्मयजनक ही लगता है कि इतना व्यस्त होते हुए भी वे इतना समय दे सके । मैं उन्हें बारबार नमन करता हूं ।

डा० पी०एस०जौब, प्रधानाचार्य ईविंग क्रिश्चियन कालेज,इलाहाबाद ने समय-समय पर द्रविड़भाषाओं, विशेषरूप से मलयालम् और तमिल के सम्बन्ध में जो बहुमुल्य सम्मतियां दी हैं, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं । इससे संयुक्त क्रिया-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियां दूर करने में मुझे अत्यधिक सहायता मिली है । इस शोध-प्रबन्ध के टंकण में मित्रवर पंडित मेवालाल जी मिश्र ने जिस योग्यता, लगन और परिश्रम से कार्य किया है, वह श्लाघनीय है । निश्चय ही वे अपने कार्य में दक्ष हैं । उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूं । यहां यह निवेदन कर दूं कि टंकण मशीन की अवैज्ञानिकता के कारण शोध-प्रबन्ध में -ब्- के लिए सर्वत्र -व्- टंकित है (जैसे -शब्द के लिए शव्द) और अनुस्वार भी प्राय: सवर्णदोष से युक्त हैं । यद्यपि इन्हें सुधारने का प्रयास किया गया है, फिर भी इस अनिवार्य (अ- निवार्य) त्रुटि के लिये क्षमा प्रार्थी हूं ।

इस शोध-प्रबन्ध के लिखने के पीछे मुझे निरन्तर उलाहना देने वाले मित्रों की ज़बर्दस्त प्रेरणा है, जिन्होंने बलपूर्वक यह कार्य करवा ही लिया । इनमें कुछ तो 'शुद्ध भारतीय शव्दावली' का प्रयोग करने में भी नहीं चूकते थे । यह सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं । जिन मित्रों की प्रेरणाएं निरन्तर मन-मस्तिष्क में गूंजती रही है उनमें सर्वश्री विपिनबिहारी पाण्डेय, दूधनाथ सिंह, रामधनी वर्मा तहसीलदार, भाई कमलेशकुमार,प्रिंसिपल इन्द्रदमन सिंह , बहन रामकुमारी मिश्रा, हरीशचन्द्र जायसवाल, शिवमूर्ति शर्मा, डा० मिस रीता रुद्रा, कु० जयश्री मित्रा और पद्माकर मिश्र का बरबस स्मरण हो आता है । मेरे सहयोगी श्री ब्रजकुमार मित्तल और कु० रमोला ने

जो सहयोग दिया है उसके लिये मैं उन सबको हार्दिक धन्यवाद देता हूं ।

मूलप्रति से मिलान करने और टंकित प्रतियों में संशोधन कार्य सत्यकुमारी मानचन्दा, सुशील, सुनीति, रागिनी, यामिनी और अलका ने जिस धैर्य के साथ किया है, उन बेटे-बेटियों के स्नेह-संबल का ही यह प्रतिफल है , उन्हें मेरा आशीर्वाद और इन सबके साथ अपनी सहधर्मिणी कान्ती, जिनके बिना यह कार्य शायद ही पूरा होता ।

अन्ततः पूज्य मां और बाबू जी के आशीर्वाद की पुनः पुनः कामना करता हूं जिनके चरणों की कृपा से मेरा साहस और धैर्य स्थिर रह सके हैं । और, समापन के क्षणों में मौनहांधिपति मौनी स्वामी को मेरा प्रणाम जिनके स्पर्शमात्र से मेरी अवरुद्ध लेखनी को गति मिली और यह कार्य करने में समर्थ हो सका ।

२० जनवरी १९७५ — राजकिशोर सिंह

अनुक्रम

प्रथम खण्ड – इतिहास

विषय — पृष्ठ संख्या

विषय पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

द्वितीय खण्ड--व्याकरण

प्रथम खण्ड – इतिहास

अध्याय – १

धातु : विकास और वर्गीकरण

अध्याय - १

धातु: विकास और वर्गीकरण

धातुओं का विकास

हिन्दी-क्रियापदों और धातुओं का विकास संस्कृत, पालि, प्राकृत अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है। वैदिक युग की अपेक्षा संस्कृत में धातुओं का प्रचलन कम हो गया और प्राकृतकाल में क्रिया की रूपावली तथा धातुओं में परिवर्तन अधिक हुआ। भारतीय[1] तथा विदेशी[2] विद्वानों ने संस्कृत धातुओं की संख्या लगभग २००० निश्चित की है (भ्वादि १०३५, अदादि ७२, जुहोत्यादि २४, दिवादि १४०, स्वादि ३५, तुदादि १५७, रुधादि २५, तनादि १०, क्र्यादि ६१, चुरादि ४११)[3]। मौनियर विलियम्स[4] की गणना के अनुसार अदादि में २०, जुहोत्यादि में २०, स्वादि में १०, रुधादि में ६, तनादि २ और क्र्यादि में १५ धातुएं ही संस्कृत काल में प्रचलित रह गई थीं। डा० धीरेन्द्र वर्मा[5] के अनुसार प्राय: ८०० से कुछ अधिक धातुओं का प्रयोग प्राचीन - साहित्य में मिलता है। इन ८०० धातुओं में २०० धातुओं का प्रयोग केवल वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है, ५०० धातुएं वैदिक और संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुई हैं और

---

१. (क) चटर्जी, बै०लै० ६१४
   (ख) धी०वर्मा-हि०भा०इति०, ३०२
   (ग) सक्सैना-सं०व्या०प्र०, पृ० ३०५

२. (क) मौनियरविलियम्स - सं०ग्रा०- २५६
   (ख) व्हिटनी - सं०ग्रा०-१०३

३. सक्सैना - सं०व्या०प्र०- नवम् सोपान

४. संग्रा० २५६

५. हिं०भा०इति० ३०३

१०० से कुछ अधिक धातुएं केवल संस्कृत में मिलती हैं । इस प्रकार मध्य भारतीय आर्य भाषा काल में वैदिक साहित्य की दो सौ धातुओं का प्राय: लोप हो गया और संस्कृत धातुओं की संख्या में भी कमी हो गई । संभवत: इन्हीं रूपों पर विचार करते हुए प्रोफेसर मैक्समुलर ने यहअनुमान किया था कि संस्कृत कीशाब्दिक स्थिति मुलत: ५०० धातुओं पर ही अवलम्बित है । म०भा०आ०भा० काल में धातुसंख्या में कमी आ जाने का एक परिणाम यह हुआ कि परम्परागत धातुओं के अतिरिक्त प्राचीन धातुओं के आधार पर कुछ नवीन धातुओं का उदय हुआ और कुछ आर्येतर भाषाओं से ग्रहण कर ली गईं, जिन्हें वैयाकरणों ने धात्वादेश[1] के अन्तर्गत रखा । इन्हीं धातुओं को देशी[2] भी कहा गया ।

२. संस्कृत भाषा की दुरूहता को परवर्ती परिवर्तन का मुख्य कारण[3] माना गया । परिवर्तन की यह गति इतनी तीव्र थी कि विभिन्न प्रान्तों में उसकी वास्तविक स्थिति को निश्चित करना लिखित प्रमाणों के अभाव में संभव नहीं है । स्थान-भेद से भाषागत परिवर्तन के उदाहरण शिलालेखी प्राकृत में देखे जा सकते हैं । साधारणात: दो-एक कालों के अतिरिक्त संस्कत- क्रिया की स्थिति संयोगात्मक थी । संस्कृत में जहां प्रत्येक क्रिया[4] के छ: प्रयोगों, दसकालों, तीन पुरुषों और तीन वचनों के (६ x १० x ३ x ३) ५४० रूप होते थे, वहां पाली में छ: प्रयोगों में आत्मने पद की अपेक्षा परस्मैपद के अधिक प्रभावशाली हो जाने से पांच ही प्रयोग रह गए । संस्कृत के लुट् और लृङ्० के कम हो जाने से पाली में आठ ही लकार रह गए और द्विवचन का सर्वथा लोप हो गया । इस प्रकार पाली धातु के पांच प्रयोगों, आठ लकारों दो वचनों और तीन पुरुषों के (५ x ८ x २ x ३) २४० रूप होने लगे । आगे चल कर प्राकृत युग में इनके लगभग ७२ रूप[5] ही अवशिष्ट रह गए । प्राकृत में केवल तीन प्रय

---

१. पिशेल- प्रा०भा०व्या० ६

२. वही, ८,६

३. तिवारी- हि०भा०उद्०वि०, पृ० ४७७

४. धी०वर्मा, हिं०भा०इति०, ३०२

५. नामवरसिंह- हि०वि०अप०योग, पृ० १३२

कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा प्रेरणार्थक, दो वचन, चारकाल- वर्तमान, भविष्य, आज्ञा तथा विधि के कुछ अवशेष ही रह गए ।[१] इनके स्थान पर कृदन्तों का व्यवहार बढ़ गया और भाषा में वियोगात्मक तत्वों के दर्शन होने लगे ।

३. संस्कृत-क्रिया में इतने अधिक परिवर्तन आने के कई कारण हैं । प्रत्येक धातु के तिङन्त और कृदन्त रूपों की विविधता से संस्कृत की धातु-प्रक्रिया अत्यन्त जटिल हो गई थी । आर्येतर भाषा-भाषियों के सम्पर्क में आने पर संस्कृत की रूप-प्रक्रिया में व्यत्यय आना स्वाभाविक था ।[२] आर्येतर भाषा-भाषियों से जटिल एवं विविध रूपात्मकभाषा के शुद्ध प्रयोग की अपेक्षा नहीं की जा सकती । ब्यूरिट[३] महोदय ने इस कठिनाई का उल्लेख सम्भ्रान्त विद्वानों के संदर्भ में भी किया है । बीम्स[४] ने तो संस्कृत धातुओं और उनके विशिष्ट रूपों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए व्याकरण की अपेक्षा अभिधान को ही सहायक माना है । यह एक मनोरंजक तथ्य है कि संस्कृत भाषा अपने व्याकरण की दुरूहता के कारण सामान्य जन की अपेक्षा विद्वानों की भाषा बन गई । संस्कृत के अध्येताओं में बोपदेव का संस्कृत-अध्ययन प्रसिद्ध है । संस्कृत युग में भी यह भाषा जन-साधारण की भाषा नहीं थी । पुराण, इतिहास और स्मृति ग्रन्थों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत वर्गीय भाषा थी । दूसरे, आर्यो-अनार्यो के पारस्परिक एवं सामाजिक आचार-व्यवहार और तत्कालीन युद्ध-प्रवृत्ति आदि के कारण भी भाषा-जनित परिवर्तन बहुत अधिक हुए । आगे चलकर संस्कृत में प्राकृत शब्दों के व्यवहार का एक कारण यह भी है । इन सब का एक निश्चित प्रभाव यह हुआ कि जन-साधारण ने उन धातुओं अथवा उन गणों की धातुओं का प्रयोग बन्द कर दिया, जो सामान्यतया क्लिष्ट थीं । जुहोत्यादि गण की धातुओं के भ्वादि में परिवर्तन अथवा लोप का मूल कारण यही है ।

---

१. धी०वर्मा- हि०भा०इति०, ३०२

२. तिवारी - हि०भा०उद्०वि०, पृ० ५७

३. ए संस्कृत हैंडबुक फार द फ़ायर साइड - लन्दन, १८७८, पृ० ३१

४. बीम्स - कं०ग्रा०, भाग ३, पृ० ५

परिवर्तन की दिशायें--

४ हिन्दी-धातुओं के निर्माण में केवल वाह्य कारण ही सहायक नहीं थे, वरन् भाषा के ऐतिहासिक विकास और संस्कृत रूपावली की आन्तरिक समता पर भी विचार करना आवश्यक है। नीचे उन विशिष्ट रूपों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है, जिनमें परिवर्तन के बीज विद्यमान थे।

(१) संस्कृत में कभी-कभी एक ही धातु के अनेक रूप लक्षित होते हैं। ह्विटनी[1] ने ऐसी अनेक रूपात्मक धातुओं के प्रतिनिधि रूप के निर्धारण में संस्कृत-व्याकरण को प्रमाण नहीं माना। उनके अनुसार ऐसे रूप का निर्धारण भारोपीय के तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर किया जाना चाहिए। मैक्समूलर[2] ने इस प्रकार की उन धातुओं का संक्षिप्त परिचय दिया है जो किंचित् ध्वनिभेद से अथवा अविकृत रूप में एकाधिक गणों में प्राप्त होती हैं, जैसे —भ्राश्, म्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट्, लष् भ्वादि तथा दिवादि गणीय धातुएं हैं - भ्राशते, भ्राश्यते (पाणिनि- ३-१-७०), स्कु, स्तंभ्, स्तुंभ्, स्कंभ्, स्कुंभ् स्वादि तथा क्र्यादि गणीय धातुएं हैं -- स्कुनोति, स्कुनाति (पाणिनि - ३- १- ८२)। इनके अतिरिक्त ऐसी अनेक धातुओं का विवेचन मिलता है जो उभयगणी ही नहीं उभयपदी भी हैं। इनमें अर्थभेद की भी संभावना है। कुछ धातुएँ ऐसी भी हैं जो अपनी अर्थवत्ता कायम रखते हुए भी भिन्न गणों और पदों[3] में प्रयुक्त होती हैं। जैसे √हृ - हरति। हरते। जिहर्ति, मा--माति। मिमीते। मीयते, शक् - शक्यति। शक्यते। शक्नोति। विशेष विवरण के लिए संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थ देखे जा सकते हैं। इन सबों में जनता ने उन्हीं रूपों को स्वीकार किया जो अधिक सरल थे अथवा भ्वादिगण के निकट थे।

(२) संस्कृत-धातुओं को दस गणों में विभाजित किया गया है, जिसका मूल आधार विकरण-भिन्नता है, किन्तु विभिन्न गणों में 'अ' विकरण युक्त और 'अ' विकरण रहित धातुओं की स्थिति पर भी विचार किया गया। वैयाकरणों ने इस अर्थ में गणों के दो विभाग किये —१. प्रथम व्यूह - इसमें उन गणों (प्रथम,

---

१. सं०ग्रा० १०५

२. सं०ग्रा० २६३

३. भौ०ना०ति०, हि०भा०, पृ० ३३६-३७

क. 'अ' विकरण युक्त - भ्वादि, दिवादि, तुदादि, चुरादि

ख. 'अ' विकरण रहित - वे धातुएं जिनमें धातु और प्रत्यय के मध्य कोई स्वर नहीं आता, जैसे - अदादि, जुहोत्यादि, रुधादि

ग. वे धातुएं जिनमें 'न' (व्यंजन-विकरण) के पूर्व 'उ', 'आ' अथवा 'ई' स्वर संयुक्त किए जायं। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत स्वादि, तनादि तथा क्र्यादि गण आते हैं।

संस्कृत धातुओं की प्रकृति :

५. उपर्युक्त तुलनात्मक तालिकाओं और विभिन्न गणों की धातु-संख्या को देखते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :-

क. संस्कृत धातुओं की प्रकृति मूलत: भ्वादि गणीय ही है, क्योंकि उसमें संस्कृत की अधिकांश धातुएं आ जाती हैं और स्वर-समता अथवा विकरण-समता के आधार पर भी प्रथम व्यूह के शेष तीन गणों पर उसका प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। कालान्तर में, इस प्रकार, भ्वादिगण ने तीन चौथाई से भी अधिक धातुओं को आत्मसात् कर लिया।

ख. द्वितीय व्यूह की 'अ' विकरण रहित अदादि, जुहोत्यादि और रुधादि गण की प्रचलित ४१ धातुएं भी भ्वादि से प्रभावित हुईं।

ग. यद्यपि 'न' (व्यंजन-विकरण) संयुक्त 'उ, आ, ई' स्वर वाली धातुएं (स्वादि, तनादि क्र्यादि गण), जिनकी प्रचलित संख्या केवल २७ रह गई, भ्वादि से प्रभावित हुईं और हिन्दी-युग तक आते-आते 'न' व्यंजन के होते हुए भी धातु रूपावली की तदाकारिता बढ़ गई।

घ. ब्यूरिट [१] के अनुसार मूल संस्कृत-धातुओं को दस गणों में विभाजित तो किया गया है, किन्तु इससे उनके विविध रूपान्तरों की कोई सूचना नहीं मिलती, वरन् धातुओं को ही रूपावली के अनुसार संयोजित किया

---

१. ए संस्कृत हैंडबुक फार द फायर साइड, पृ० ३१

गया है ।

ङ०. भारोपीय की अन्य भाषाओं (ग्रीक और लैटिन) में उन्हीं रूपों के प्राप्त न होने से रूपावली की समस्या ऐतिहासिक अधिक बन जाती है और उन धातुओं के विकरण तथा रूपों को मूल भारोपीय में खोजने की आवश्यकता होती है, जो अल्पसंख्यक होकर भी भ्वादि में वर्णित नहीं हैं ।

च. स्वयं संस्कृत के वैयाकरण भी धातु विशेष को एक ही गण में रखने के पक्ष में नहीं हैं । पाणिनि के बाद ऐसा अनेक व्याकरण ग्रन्थों और धातुपाठ में किया गया है । उदाहरण के लिये कृ धातु को ले सकते हैं । पाणिनि के अनुसार यह तनादिगणीय धातु है, किन्तु हेमचन्द्र के सिद्धहेम शब्दानुशासन (३।४।८३ और ४।२।८६) की टीका में गुणरत्न सूरि[१] ने इसे भ्वादिगणीय माना है ।

छ. संस्कृत की अनेक धातुओं के रूपान्तर अनियमित हैं । यह मनोरंजक तथ्य है कि एक तो द्वितीय व्यूह की धातु संख्या पहले से ही कम थी और दूसरे उनमें बहुत सी धातुएं प्रचलन में नहीं रह गईं थीं, और तीसरे उनमें भी कुछ धातुएं अनियमित[२] रूपान्तर वाली थीं । नीचे मूल, प्रचलित और अनियमित संख्याएं दी जाती हैं —

गण	मूल	प्रचलित	अनियमित	धातु
जुहोत्यादि	२४	१५	६	(ऋ, दा, निज, विष्, भी, मा, हा
स्वादि	३५	१०	१	(श्रु)
रुधादि	२५	६	१	(तृह्)
तनादि	१०	२	१	(कृ)
क्र्यादि	६१	१५	३	(धू, गृह्, ज्ञा)

द्रष्टव्य है कि इन पांचों में कुल १५५ धातुएं ही पठित हैं, और उनमें भी केवल ४८ धातुएं संस्कृत-साहित्य में प्रचलित थीं, शेष सौ से अधिक धातुएं लुप्त-प्राय थीं अथवा

---

१. क्रियारत्न समुच्चय, पृ० १०६-११३

२. कीलहार्न - एक ग्रामर आव् द संस्कृत लैंग्वेज - २८४ - २९६

केवल शब्दकोशों में ही प्राप्य थीं । इन प्रचलित धातुओं में भी १५ धातुएं अनियमित थीं, जिनमें हिन्दी में दा, पृ, श्रु, कृ, ज्ञा धातुएं ही आई हैं । मा धातु का हिन्दी 'मापना' रूप वस्तुत: कृदन्तीय किंवा तत्सम 'माप' से व्युत्पन्न है । 'दा' और 'कृ' आद्यन्त अनियमित हैं । ज्ञा > जान् का रूपान्तर हिन्दी में सामान्य नहीं है, विशेषत: जनाना, जनवाना के स्थान पर 'ज्ञात' से व्युत्पन्न 'जताना, जतलाना' ही प्रचलित है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत धातुओं का गण-विभाग तभी किया गया जब भ्वादि की सीमा में उनका वर्गीकरण संभव नहीं हुआ और अन्य गणों की कुछ दर्जन क्रियाएं ही वस्तुत: संस्कृत युग में भी, प्रचलन में थीं । यही कारण है कि भ्वादि की रूपावली को अन्य गणों की अवशिष्ट धातुओं ने स्वीकार कर लिया, अथवा जन-समूह ने एकरूपता को ही प्रमुख माना । धातुओं के गण-परिवर्तन का एक प्रमुख कारण यह भी है ।

धातु-निर्माण और सहायक क्रिया :

६. हिन्दी-धातुओं और उसकी वर्तमान रूपावली के निर्माण में सहायक क्रियाओं का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । संस्कृत युग में ही कुछ धातुओं का असाधारण महत्त्व बढ़ गया था और उनका सहायक क्रिया के रूप में प्रयोग भी होने लगा । परवर्ती युग में सहायक क्रियाओं के प्रयोग की मूलस्थिति यही है । संस्कृत की सर्वाधिक प्रचलित धातु 'भू' है, और 'अस्' की भांति यह भी सहायक क्रिया की भांति प्रयुक्त होती थी । इनके अतिरिक्त कृ, धा, इ धातुएं भी सहायक अथवा संयुक्त-क्रिया-रचना में, प्रयुक्त होती थीं । ह्विटनी[1] ने इस प्रकार के सहायक एवं संयुक्त क्रिया-प्रयोग को वैदिक युग से ही विकसनशील माना है । वाक्य-संगठन और क्रिया के अर्थ-द्योतन में आगे चलकर इनका अधिक विकास हुआ ।

७. संस्कृत क्रियाओं की आन्तरिक समता के सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है । यद्यपि दिवादि गण में कुल १३० धातुएं पठित हैं, किन्तु संस्कृत की समस्त धातुओं

---

१. सं० ग्रा०- १०५० (द्रष्टव्य--(क) कीलहार्न- ५०५,
(ख) ब्युर्टिट, पृ० ४५
(ग) बीम्स- भाग ३,अ७-२)

की भाववाच्य की रूपरेखा इसके आत्मने पद की रूपावली के ही अनुरूप है ।[१] फलस्वरूप, एक ओर जहाँ अद्भुत साम्य दृष्टिगत होता है, वहाँ कठिनाइयाँ भी संभावित हैं । हिन्दी भाववाच्य और कर्मवाच्य के विवाद का मूल कारण यह स्थिति ही प्रतीत होती है ।

८. संस्कृत की प्रत्येक धातु का प्रेरणार्थक रूप भी होता है, किन्तु हिन्दी-धातुओं में सबके साथ ऐसा नहीं होता । संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार प्रेरणा, नामधातु और दशम्गण (चुरादि) की धातु-रूपावली समान होती है, किन्तु इस गण की बहुत सी ऐसी सकर्मक धातुएं भी हैं जो अपने अर्थ में प्रेरणार्थक नहीं हैं । फलत: इनकी रूपावली और प्रेरणार्थक रूप में कोई अन्तर नहीं रह जाता । अतएव, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि धातु-विशेष चुरादिगणीय है अथवा प्रेरणार्थक । मोनियर विलियम्स[२] ने इस स्थिति को देखते हुए यह उचित ही कहा है कि इस प्रकार बहुत हद तक चुरादि और प्रेरणार्थक रूप एक दूसरे में मिल गए । इसके अतिरिक्त कभी कभी प्रेरणार्थक धातु को मूलधातु के रूप में स्वीकार किया जाता था और इससे अन्य रूप निर्मित किए जाते थे, जैसे --'पातय' से भाववाच्य'पात्य' और उससे पुन: प्रेरणार्थक'पिपातयिश' । किन्तु ऐसे रूपों को वैयाकरणों और साहित्यिकों के प्रयोग कह सकते हैं , जन-सामान्य के नहीं । फिर भी परवर्ती युग में इस प्रवृत्ति की एक सूचना अवश्य मिलती है, और वह है --प्रेरणार्थक धातु का मूलधातु के रूप में प्रयोग का प्रचलन ।

९. हिन्दी की अनेक सकर्मक धातुएं संस्कृत के प्रेरणार्थक रूपों से आई हैं । प्रेरणार्थक की यह प्रमुख विशेषता है कि अन्य गणों की अकर्मक धातुएं प्रेरणार्थक रूप ग्रहण करने पर (क्योंकि प्रेरणार्थक सकर्मक होता ही है) सकर्मक अर्थ देने लगती हैं । जैसे --बोधति= --√बुध् - भ्वादिगण - प्रेरणा में बोधयति और क्षुभ्यति- क्षुभ् - दिवादिगण - प्रेरणा में क्षोभयति हो जाता है ।[३]

---

१. मोनियरविलियम्स- सं०ग्रा० - २७७

२. सं० ग्रा० २८६

३. वही, ४७६

१०. यद्यपि संस्कृत में धातु के ५४० रूप होते थे, किन्तु आन्तरिक समानता की दृष्टि से कुछ नये प्रश्न भी सामने आते हैं । ऊपर प्रत्येक धातु के भाववाच्य तथा दिवादिगण की आत्मनेपद की रूपावली की समानता और प्रेरणा, नामधातु तथा चुरादि की समानता स्पष्ट की गई है । इसी प्रकार प्रत्येक धातु के अभ्यस्त रूप और जुहोत्यादि गण की धातुओं की समानता भी द्रष्टव्य है । ऐसा लगता है कि अभ्यास-प्रक्रिया और जुहोत्यादि धातुओं का अन्योन्य सम्बन्ध कभी न कभी अवश्य रहा होगा । हिन्दी की 'दे देना' और 'ले लेना' इन्ही प्रक्रियाओं के परिणाम प्रतीत होते हैं ।

धातुओं का सैद्धान्तिक आधार :

११. हिन्दी धातुओं के निर्माण में उपर्युक्त तथ्यों से जहां बहुत अंशों में सहायता प्राप्त होती है, वहीं कुछ विशिष्ट भाषा-वैज्ञानिकों ने धातुओं का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया । दसों गणों के विभाजन के संदर्भ में ब्युरिट के मत का उल्लेख किया जा चुका है । बीम्स[१] के अनुसार धातुओं का, बोलचाल की भाषा में, कोई अर्थ अस्तित्व नहीं होता । डा० धीरेन्द्र वर्मा[२] ने धातुओं को वैयाकरणों के मस्तिष्क की उपज कहा है । बीम्स[३] और ब्युरिट[४] ने इन्हें सुविधा और अध्ययन की दृष्टि से वर्गों या गणों में संयोजन मात्र माना है । जो भी हो, लेकिन यह सत्य है कि जहां व्याकरण-शिक्षा की विभिन्न पद्धतियां प्रचलित थीं और एक ही क्रिया, पद्धति-भेद के कारण, भिन्न गणों में प्राप्त होती है, वहां इन कथनों का विशिष्ट महत्व है और इन्हें भुठलाया नहीं जा सकता ।

१२. संस्कृत-धातु और उनकी रूपावली के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जो हिन्दी-धातुओं के निर्माण में सहायक हुए हैं । यथास्थान इनका विवेचन किया जायेगा

---

१. कं०ग्रा०,भाग ३, पृ० ५

२. हि०भा०इति० ३०३

३. कं०ग्रा० - पृ० ३

४. संस्कृत हैंड बुक फार द फ़ायर साइड, पृ० ३१

हिन्दी और उसकी विभाषाओं के विकासमूलक एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने धातुओं का वर्गीकरण कई रूपों में किया है । इनमें दो प्रकार के वर्गीकरण प्रमुख हैं । प्रथमत: व्युत्पत्ति की सामान्य दृष्टि से हार्नले[1] ने हिन्दी-धातुओं को दो मुख्य वर्गों - मूल और यौगिक- में विभक्त किया । हार्नले के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना ने अवधी[2] तथा तुलसीदास के रामायण,[3] देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने तुलसी की भाषा,[4] डा० चटर्जी ने प्राचीन कोसली[5] और नामवर सिंह ने अपभ्रंश के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-धातुओं[6] का वर्गीकरण किया । दूसरा वर्गीकरण अपेक्षया अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से डा० चटर्जी[7] ने बंगला-धातुओं का किया । डा० चटर्जी के वर्गीकरण की वैज्ञानिकता को स्वीकार करते हुए डा० उदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी भाषा[8] और हिन्दी[9] धातुओं का तथा डा० सुभद्र झा ने मैथिली-धातुओं[10] का वर्गीकरण प्रस्तुत किया । कुछ तथ्यों को छोड़ कर प्राय: सभी विद्वानों के तर्कों - उदाहरणों का समाहार डा० चटर्जी के वर्गीकरण में हो जाता है । परवर्ती लेखकों ने कोई नवीन सूचना नहीं दी है । लेकिन इन दोनों ही पद्धतियों में कुछ ऐसे वैज्ञानिक तत्त्व भी हैं जो नहीं आ सके हैं और कुछ सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ रह गई हैं, जिन पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है । नीचे इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है ।

---

१. जे०ए०एस०, बी०ं, पृ० ३४-३५

२. इवोल्यूशन आव् अवधी २८८-८६

३. ए०यू० स्टडीज़ , १६२६- ५,६

४. तुलसीदास की भाषा-पृ० १०८-१०६

५. उक्तिव्यक्ति प्रकरण,स्टडी ७०

६. हिं०वि०अप०योग- पृ० १३१-१३४

७. बैंलै० - ६१५

८. भोजपुरी भाषा और साहित्य - ४५२

६. हिं०भा० उद्०वि०, पृ० ४७८-७६

१०. ऐन एनालिसिस आव वर्बल फार्म्स आव् मैथिली - जे०जी०आर०आइ०ए०, पृ० ५१ और आगे ।

१३. हिन्दी धातुओं के वर्गीकरण में हार्नले,[1] डा० चटर्जी,[2] डा० तिवारी[3] तथा नामवर सिंह[4] ने साधारण-ध्वनि-परिवर्तन युक्त धातुरूप भी माना है। वस्तुत: ध्वनि-परिवर्तन भाषा के विकास में, अति सामान्य रूप से, दो प्रकार का माना जा सकता है -आन्तरिक और बाह्य। फलत: व्युत्पत्ति और व्याकरण का अधिकांश इसके अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये जहां ध्वनि-परिवर्तन स्वतंत्र शोध का विषय बन जाता है, वहां उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया का पृथक् अध्ययन अपेक्षित है, न कि इस आधार पर धातुओं का विभाजन। उदाहरण के लिये इन विद्वानों ने ध्वनि परिवर्तन नामक वर्गीकरण में जिन धातुओं का विवेचन किया उनमें से अधिकांश धातुओं को साधारण नहीं मान सकते। जैसे -खा, चू, तोड़्, पड़्, टूट्, जुट्, चूम्, नहा, ताक्, जल्, कर्, कांप्, काढ़्, कूद्, चूक्, घट्, जीत्, ढंक्, ढूंढ़, देख् आदि धातुएं दी गई हैं। इनमें भी कुछ ऐसी धातुएं हैं जो एक से अधिक विभाजनों में रखी गई हैं जिससे उलझन की संभावना बढ़ जाती है। इन्हें साधारण न मानने के कुछ विशिष्टकारण नीचे दिए जाते हैं -

(क) इनमें कुछ धातुएं या तो संस्कृत की नहीं हैं, अथवा संस्कृत में इनका प्रयोग बाद में मिलता है, जैसे- डा० चटर्जी[5] और डा० तिवारी[6] के अनुसार कूद् -कूर्द द्रविड़ है और संस्कृत में इसका प्रयोग बाद में मिलता है और काढ़ तथा घट् की व्युत्पत्ति प्रा० भा०आ०भा० से अस्पष्ट है।[7]

---

१. (क) हिन्दी रूट्स - जे०ए०एस०बी०, पृ० ३४-३५

(ख) कं० ग्रा० गौ०लैं० - ३४३

२. बैलें० - ६१५ -६१७

३. हिं०भा०उद्०वि० पृ० ४७८-७६

४. हिं०वि०अप०योग, पृ० १३२

५. बैलें०, ६२१

६. हिं०भा०उद्०वि०, पृ० ४६०

७. वही, पृ० ४७६-८०

(ख) कुछ धातुएँ कृदन्तज हैं, जैसे —जीत् - सं० जि०- भुत कालिक कृदन्त 'जित' - जीता हुआ। हट्- भूतकालिक कृदन्त भ्रष्ट- भट्ट-हट्ट- हट्।[1]

(ग) कुछ धातुओं के रूप प्रा०भा०आ०भा० में नहीं मिलते, जैसे —चूक्, ढंक्, ढूंढ़।

(घ) कुछ धातुएँ वर्ण-विपर्यय[3] अथवा काल-परिवर्तन[4] के स्पष्ट उदाहरण हैं, जैसे- नहा < स्ना, डूब् < ब्रुड, देख< दृश्यते।

(ङ०) कुछ धातुओं की व्युत्पत्ति संभावित या अनुमानित है, जैसे - चूक < म०भा० आ० चुक्र< सं० च्युत,[5] ढग्< सं० स्थग्, थक्< सं०स्थग्।[6]

१४. इन रूपों और उदाहरणों को देखते हुए इन्हें न तो साधारण ध्वनि-परिवर्तन से युक्त माना जा सकता है और न तो इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक ही कह सकते हैं, क्योंकि एक ही धातु को साधारण ध्वनि परिवर्तन से युक्त मानते हुए उसे संस्कृत युग के बाद का, अस्पष्ट व्युत्पत्ति वाली, कृदन्तज, वर्णविपर्यय और काल-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। विशेष रूप से ऐसा इसलिए और भी नहीं कह सकते कि उसी वर्गीकरण में अन्यान्य धातुओं को गण, वाच्य, काल-परिवर्तन और कृदन्तज आदि नामों से इनका पृथक् वर्गीकरण भी किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से इनका स्वतंत्र अध्ययन ही अपेक्षित है। सत्य यह है कि धातु ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय-आर्य-भाषा-विज्ञान में ध्वनि परिवर्तन का असाधारण महत्व है। यदि भारोपीय की आदि-स्थिति को छोड़ भी दिया जाय, तो भी वैदिक और लौकिक संस्कृत में ही ध्वनि-परिवर्तन के अनेक नियम प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में यद्यपि यास्क आदि के नियमों की विभिन्न स्थलों पर अवहेलना की गई है, तथापि उनका महत्व आज भी कम नहीं है। इस प्रकार जहाँ यह शोध का एक स्वतंत्र विषय बन जाता है, वहाँ इसके संक्षिप्त किन्तु आवश्यक

---

१. हिं०भा०उद्०वि०, पृ० ४८२
२. वही, पृ० ४८१ तथा ४८४
३. हिं०वि०अप०योग, पृ० १३२
४. वही
५. वै०,लै०, ६१७
६. वही

तत्वों का विवेचन अनिवार्य हो जाता है ।

निर्वचन : निरुक्त, व्याकरण, अलंकार

१५. निर्वचन या व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो, साधारण रूप से, दो प्रकार के सैद्धान्तिक ध्वनि-परिवर्तन लक्षित किए जा सकते हैं । प्रथमत: एक ही भाषा के शब्दों तथा धातुओं आदि के व्याकरणिक ध्वनि-परिवर्तन और दूसरे ऐतिहासिक निर्वचन की दृष्टि से । संस्कृत में प्रथम प्रकार के परिवर्तनों का विशेष महत्त्व है और भारतीय भाषा-विज्ञान में द्वितीय प्रकार का । प्राकृत भाषाओं में प्रथम प्रकार का महत्त्व होते हुए भी प्राकृत युग से लेकर आ०भा०आ० भाषाओं में विशेषत: दूसरे प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन अधिक व्यापक हैं, लेकिन जहां व्याकरणिक और ऐतिहासिक निर्वचन असमर्थ हो जाते हैं वहां तीसरे रूप के भी दर्शन होते हैं । व्याकरणिक व्युत्पत्ति में संस्कृत की प्रकृति- प्रत्यय-मूलकता के साथ-साथ वर्णागम और वर्ण-विपर्यय आदि पांच प्रकार की व्युत्पत्ति का उल्लेख दुर्गाचार्य[1] ने भी किया है । इसके बहुत पूर्व[2] यास्क ने आदि, अन्त, उपधा, वर्ण, द्विवर्ण के लोप, आदि और आद्यन्त विपर्यय आदि का विवेचन किया था । यास्क के बाद संस्कृत वैयाकरणों ने

---

१. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार नाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ।।

२. प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते । अथापि अस्ते: निवृत्तिस्थानेषु आदि लोपो भवति - स्त: सन्तीति । अथापि अन्तलोपो भवति - गत्वा गतमिति। अथापि उपधालोपो भवति - जग्मतु: जग्मु: इति अथापि उपधाविकारो भवति - राजा दण्डी इति । अथापि वर्णलोपो भवति- तत्त्वायाम इति । अथापि द्विवर्ण-लोप: - तृच: इति । अथापि आद्यन्त विपर्ययो भवति - स्तोक : रज्जुः सिकता: तर्कु: इति । अथापि अन्त व्यापत्ति: भवति ।। निरुक्त ।। २-१-१ ।।

इन्हें अधिक विस्तार के साथ स्वीकार किया । प्राकृत वैयाकरणों[1] और आलंकारिकों[2] ने शब्द-विचार की दृष्टि से इन्हें सीधे ग्रहण कर लिया और 'देशज' शब्दों की व्याख्या में 'प्रकृति-प्रत्यय' शब्द ही महत्वपूर्ण बन गया । यद्यपि यास्क ने व्युत्पत्ति के निश्चित सिद्धान्त स्थिर किये थे, तथापि व्युत्पत्ति की कठिनाई और रूप तथा अर्थ की व्याघातपूर्ण समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए अपने निरुक्त[3] में निर्वचन के तीन रूप लक्षित किए –

१.* जिन शब्दों में स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थसम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार से सम्बद्ध हों, उनका निर्वचन उसके अनुसार ही करें ।

२. किन्तु (शब्द में दिखलाई पड़ने वाले धातु का) अर्थ असंगत होने पर या (शब्द का अर्थ रखने वाले धातु से उस शब्द की व्युत्पत्ति करने में) विकार (आन्तरिक परिवर्तन) के व्याकरण सम्मत न होने पर किसी रूप (धातु या शब्द) की समानता से अर्थ की सत्ता जांच लें ।

३. इस प्रकार की समानता न मिलने पर किसी स्वर या व्यंजन की समानता देख कर निर्वचन करें । व्याकरण की व्युत्पत्ति का सहारा न लें, क्योंकि रूप (संज्ञा और क्रिया की बनावट) संदेहात्मक होते हैं । (ऋचाओं की व्याख्या के समय) अर्थ के अनुसार विभक्तियों को बदल दें ।* यहां यह द्रष्टव्य है कि ध्वनि - परिवर्तन के कारण रूप और अर्थ सम्बन्धी कठिनाई से यास्क पूर्णतया परिचित थे । यद्यपि यास्क के युग से आज की परिस्थितियां भिन्न हैं और अध्ययन की विकसनशील शैलियां भी परिवर्तित हो चुकी हैं, किन्तु हिन्दी-क्रियाओं में गण, वाच्य, काल, विकरण, ध्वनि आदि परिवर्तनों और हिन्दी-कारकों के नवीन परसर्गों को देखते हुए यास्क

---

१. (क) लक्षणे शब्दशास्त्रे सिद्धहैमचन्द्रनाम्नि
ये न सिद्धा: प्रकृतिप्रत्ययादि विभागेन न निष्पन्नैस्ते त्र निबद्धा: ।।

टीकावली.

(ख) प्राकृते च प्रकृतिप्रत्ययलिंगकारकसमाससंज्ञादय: संस्कृतवद्वेदितव्या: ।

सिद्धहैमशब्दानुशासन १-१

२. प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य । तन्मडहादि
कथंचन रूढिरिति न संस्कृते रूपयते । रुद्रट- काव्यालंकार -७२७

का विभक्ति बदलने का सिद्धान्त मिथ्या नहीं कहा जा सकता ।

१६. ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक व्युत्पत्ति में शब्द या क्रिया की मूल स्थिति, मध्ययुग में उसमें आन्तरिक परिवर्तन आदि की दिशाएं और आधुनिक काल में उसका विद्यमान स्वरूप और अर्थ क्या है, सूचित किए जाते हैं । उदाहरण के लिए सं० आत्मन् > प्रा० अप्पण- हिं > अपना, सं० भगिनि > प्रा० बहिणी> हिं बहिन्, सं० चलति> प्रा० चलइ > हिं० चले आदि ।

आनुमानिक व्युत्पत्ति - अपवाद का अर्थ :

१७ तीसरे प्रकार की व्युत्पत्ति स्वतंत्र या आनुमानिक है । स्वतंत्र से अभिप्राय व्याकरण से भिन्न है । इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रो० उमाशंकर - शर्मा[1] ने यास्क के 'न संस्कारम् आद्रियेत्' (निरुक्त २-१-१) को उनकी एक बहुत बड़ी वैज्ञानिक भूल घोषित करते हुए इसे भाषा-विज्ञान के ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध माना है और यह भी कहा है कि 'वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि कुछ

---

३ पिछले पृष्ठ का शेष –

३. अथ निर्वचनम् । तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ- स्याताम् तथा तानि निर्ब्रूयात् । अथ अनन्विते अर्थे अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्य: परीक्षेत केनचित् वृत्ति सामान्येन । अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसा- मान्यात् निर्ब्रूयात् । न तु एव निर्ब्रूयात् । न संस्कारम् आद्रियेत् । विशयवत्य: हि वृत्तय: भवन्ति । यथार्थं विभक्तीः संनमयेत् ।। २-१-१ ।।

---

१. निरुक्तम् - भूमिका, पृ० ३७

निश्चित ध्वनियां ही किसी निश्चित रूप में किसी निश्चित समय पर बदलती हैं।[१]' लेकिन स्वयं शर्मा जी का इसी संदर्भ में यह विवेचनात्मक कथन विचित्र सा लगता है कि 'भाषा के परिवर्तन में यह सभी सिद्धान्त सहायक होते हैं, किन्तु यह अनियमित (SPORADIC) हैं, किस स्थान में होंगे, नियम बनाना बड़ा कठिन है[२]।' ऐसा प्रतीत होता है कि शर्मा जी अपनी विरोधी स्थितियों में डा० स्कोल्ड[३] के इस कथन से प्रभावित हुए हैं कि -'यास्क के अनुभव तो ठीक हैं, किन्तु उनके निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण हैं।' और यह अधिक सत्य है कि स्कोल्ड का वह तर्क ही भ्रम पूर्ण है। हिन्दी में तो परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी अधिक व्यापक है कि उसमें ध्वनि, गण, वाच्यादि का ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वरन् दो भिन्न क्रियाओं के समीकरण से काल रचना का भी संयोजन हुआ है, जैसे- जाना और गया। इसी प्रकार जानना और जतलाना विकास की दो भिन्न स्थितियां हैं, किन्तु हिन्दी में एक ही क्रिया की भिन्न रूपावली में नियोजित हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी भाषा में अपवादों[३] का होना अनियमितता ही सूचित करता है। संस्कृत णिजन्त या प्रेरणार्थक रूपों में ऐसे अनेक अपवादों की सूचना मैक्समूलर,[४] ह्विटनी[५] और मोनियर विलियम्स[६] ने दी है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे -√भी - भाययामि, भीषये, भापये, √चि - चापयामि, चाययामि, चययामि।

१८. यास्क के निर्वचन की प्रक्रिया आगे चलकर अधिक व्यापक बनी। प्राकृत युग में आकर उसे अप्रत्यक्ष रूप से अधिक मान्यता मिली। उदाहरण के लिए यास्क ने इन्द्र की १४, जातवेदस् की ६ और अश्व की ५ व्युत्पत्तियां दी हैं। प्राकृत युग

---

१. निरुक्तम्-भूमिका, पृ० ३७

२. वही, पृ० ३६

३. द निरुक्त, पृ० १८२

३ ३. सक्सेना -सा०भा०वि०-पृ० ११३-११४

४. सं०ग्रा० ४६२-४६३

५. सं० ग्रा० १०४२

६. सं० ग्रा० ४८४- ४८७

में रूप, अर्थ और उद्देश्य-भिन्नता से शब्द-विशेष की अनेक ढंग से निरुक्ति की गई । 'प्राकृत' शब्द का निर्वचन पांच[1] प्रकार से किया गया है । 'मंत्र'[2] और 'संत' शब्द की अनेक निरुक्तियां भी इसी ओर संकेत करती हैं ।

भ्रामक व्युत्पत्ति :-

१६. आज का भाषा-विज्ञान भी यास्क से पूर्णतया मेल खाता है । यास्क के सिद्धान्तों का खण्डन - मण्डन अनेक विद्वानों[3] ने किया है और यहां उस विवाद में उलझना उद्देश्य नहीं है, इसलिए ध्वनि-सम्बन्धी अथवा सामान्य व्युत्पत्ति के संदर्भ में ही विचार किया जाता है । नीचे दिए गए उदाहरणों से यास्क और अन्य

---

१. (१) क. प्रकृति: संस्कृतम् । तत्र भवं तत आगतम् वा प्राकृतम् । - हेमचन्द्र १-१
ख. प्रकृति: संस्कृतम् । तत्रभवं प्राकृतम् उच्यते ।- मार्कण्डेय-प्राकृतसर्वस्वम् १-१
ग. प्रकृति: संस्कृतम् । तत्र भवत्त्वात् प्राकृतम् स्मृतम् । - प्राकृतचन्द्रिका-
३४३-७ पिटर्सन की तीसरी रिपोर्ट

(२) प्रकृतेः संस्कृतायास् तु विकृति: प्राकृती मता । नरसिंह - प्राकृतशब्दप्रदीपिका

(३) प्रकृतेर् आगतम् प्राकृतम् । - धनिक - दशरूप की टीका - २।६०

(४) प्राकृत्या स्वभावेन सिद्धम् प्राकृतम् ।- हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ
(आधुनिक युग)

(५) प्राकृतेति सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार: सहजो वचन-व्यापार: तत्र भव: सैव वा प्राकृतम् । - नमिसाधु-रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका

२. (क) रजनीकान्त शास्त्री - वैदिक साहित्य परिशीलन- पृ० ३
(ख) परशुराम चतुर्वेदी - उत्तरी भारत की संतपरंपरा- भूमिका, पृ० ३-४

३. यास्क के निरुक्त की वैज्ञानिकता - अवैज्ञानिकता के लिए देखिए -

१. डा० स्कोल्ड - द निरुक्त, लंदन १९२६, पृ० १८१
२. डा० स्वरूप - द निघंटु ऐण्ड द निरुक्त , आक्सफोर्ड १९२०, भूमिका,पृ०६४
३. वी०के० राजवाडे - यास्क'स निरुक्त, पूना, १९४०, पृ० cli,civ और आगे
४. डा० सिद्धेश्वर वर्मा - द एटिमोलौजीज़ आव् यास्क, होशियारपुर, १९५३

सिद्धान्तों का महत्व स्पष्ट हो जायेगा । आचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी[१] ने आगम और आदेश से युक्त इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है -

आगमोऽनुपघाती यः प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा ।
तयोर्य उपघाती स आदेशः परिकीर्तितः ।।

अर्थात् आगम उसे कहते हैं जो प्रकृति और प्रत्यय को नहीं मारता, पर जो उसे मार देता है, या उसकी जगह छीन लेता है, वह आदेश कहलाता है । एक अक्षर की जगह दूसरे अक्षर का आ जाना ही आदेश नहीं, शब्द का बिल्कुल बदल जाना भी आदेश है ।" इसकी पुष्टि में वाजपेयी जी ने आगे लिखा है कि "शौरसैनी प्राकृत का १८ वां सूत्र प्राकृत-प्रकाश में दिया है -दृशेः पेक्खः । यहाँ दृश् की जगह पेक्ख आदेश है ।"

सामान्यतः यह व्याकरण की व्युत्पत्ति है और हेमचन्द्र आदि के व्याकरण ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति को आधुनिक भाषा-विज्ञान स्वीकार नहीं करता । उदाहरण के लिए हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रभवति' का (प्र+√भू - हुच्च) - पहुच्चइ[२] आदेश होता है , किन्तु डा० चटर्जी[३] इसे भारोपीय *प्रो - भु - स्के - ति> *प्रभुच्छति > *पहुंचक्कइ> पहुंच्चइ मानते हैं । डा० जोशी ने कुमाउनी में 'पहुंचना' के लिये 'पूजना' [४] का उल्लेख किया है, जो कि 'प्र- भू' से 'पहुच्च' होकर बना है और बाद को 'च' का 'ज' उच्चारण होने लगा । जोशी जी की यह व्युत्पत्ति संगत नहीं है, क्योंकि उन्हीं के अनुसार अगली पंक्तियों में 'पूजना' का व्यवहार किया है और उस काल में च> ज नहीं मिलता ।

---

१. सरस्वती-फरवरी १९६१ में वाजपेयी जी का लेख - निरुक्त और भाषाविज्ञान, पृ० ८८- ८६

२. हेमचन्द्र - प्राकृत व्याकरण - ४।३६०

३. बैलैं० - ६१८

४. सरस्वती - नवम्बर १९६० , डा० हेमचन्द्र जोशी का लेख,' हिन्दी कोशों में पाली का स्थान' , पृ० ३०८

व्युत्पत्ति के इसी रूप को भ्रामक व्युत्पत्ति[१] कहा गया है । 'पहुँचना' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में चौदहवीं शती की रचना 'शृंगार शत' ८३ में 'पहूतउ'[२] का प्रयोग एक नवीन सूचना है । ऊपर विवेचित धातुओं में √दृश् > देख न मानकर 'दृश्यते' से व्युत्पन्न मानी गई है । यहाँ यास्क के अनुसार व्याकरण की व्युत्पत्ति का सहारा नहीं लिया गया है, वरन् स्वर या व्यंजन की समानता देखकर निर्वचन किया गया है । अतएव यह कह सकते हैं कि ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखती है । इस सम्बन्ध में इतना और द्रष्टव्य है कि प्राचीन युग से लेकर आज तक अनेकानेक ध्वनि नियमों की स्थापना की गई है जिनमें सामान्य रूप से डा० भोलानाथ तिवारी[३] ने ही साठ से अधिक परिवर्तनों का उल्लेख किया है । परिवर्तन की दिशा में केवल यही रूप नहीं है, वरन् एक स्वर या व्यंजन का दूसरे स्वर या व्यंजन में परिवर्तन और कालक्रम से उनके अनेक बार परिवर्तन कुछ विशिष्ट समस्याओं को जन्म देते हैं, जिनमें बौद्ध विकृत संस्कृत और देशज कहे जाने वाले शब्द भी हैं । पिशल[४] ने ऐसे शब्दों का उल्लेख किया है, जो सामासिक या सन्धियुक्त रूप में प्राकृत में तो मिलते हैं, किन्तु संस्कृत में उनका प्रयोग नहीं मिलता । जैसे -"अच्छिवडणम् (आँख बन्द करना - देशी० १ ' ३६ , त्रिविक्रम १३ ' ५) । असल में यह शब्द अक्षि + पतन से बना है, पर संस्कृत में अक्षिपतन शब्द इस काम में नहीं आता , सत्तावीसंजोअणो, जिसका अर्थ चांद है, (देशी० ८।२२, चंड १।१ और वाग्भटालंकार की सिंहदेवगणिन् की टीका २।२ में भी आया है । सप्ताविंशति + द्योतन है जो इस रूप में और इस अर्थ में संस्कृत में नहीं मिलता ।" डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने[५]

---

१. डा० भोलानाथ तिवारी- भाषा विज्ञान, पृ० ३७८

२. स्वर्गीय श्री बहादुर सिंह जी सिंधी, स्मृति ग्रन्थ-१९४५, पृ० २१४-२२३

३. भाषा विज्ञान-सातवां अध्याय - ध्वनि विज्ञान

४. प्रा०भा०व्या० ६

५. प्राकृत विमर्श , पृ० ६५

'अण्यणिग्गमो' शब्द का उल्लेख किया है, जो ध्वनि-परिवर्तन युक्त तो है, परन्तु इसका तत्सम रूप 'अमृतनिर्गम' संस्कृत कोषों में नहीं मिलता। ऐसे शब्दों के न पहचाने जाने का मूल कारण, पिशल की राय में,[1] ध्वनि परिवर्तन ही है। संस्कृत की विशिष्ट ध्वनि-- स्वर या व्यंजन--परवर्ती भाषाओं में कितनी बार और कितने स्थानों में परिवर्तित हुई, इसका पूर्ण अध्ययन अभी तक प्रस्तुत नहीं किया गया। जहाँ तक ध्वनि-परिवर्तन का प्रश्न है यह अकारण[2] और सकारण[3] दोनों ही प्रकार का मिलता है। हिन्दी में आँख, आँसू, ऊँट, कुआँ, साँप, साँच और साँस आदि शब्दों में अनुनासिकता अकारण ही है। इन सभी रूपों और सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् यह कहना सरल हो जाता है कि ध्वनि परिवर्तन के आधार पर हिन्दी-धातुओं का वर्गीकरण उचित नहीं है। वस्तुत: वर्तमान स्थिति में ध्वनिपरिवर्तन भाषा के ऐतिहासिक विकास की वह सामूहिक परम्परा है, जिसके अन्तर्गत व्युत्पत्ति और व्याकरण का अधिकांश आ जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन और धातुएं :--

२० भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से, हिन्दी-क्रियाओं के रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक परिवर्तन को देखते हुए, इनका अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपों में भी संभव है। (१) प्रथमत: ऐतिहासिक दृष्टि से सामान्य व्युत्पत्ति - जैसे चलति > चलइ > चले, पठति > पढइ > पढ़े, अथवा लिखति > लिहइ > किन्तु हिन्दी लिखे। (२) दूसरे, व्याकरणिक परिवर्तन- जैसे - गण, वाच्य आदि के परिवर्तन। (३) तीसरे, अपभ्रंश से हिन्दी में ध्वन्यात्मक परिवर्तन की दिशाएं। इस दृष्टि से यदि संस्कृत-पालि-प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी के परिवर्तन सूचित किए जायं और हिन्दी के आदिकाल से अब तक के परिवर्तन भी लक्षित किये जायं तो कुछ नवीन तथ्य सामने आयेंगे। इसी स्थिति में ध्वनि-परिवर्तन की पूर्ण-प्रक्रिया स्पष्ट हो सकती है। इसलिए,

---

१. प्रा०भा०व्या० ६

२. ग्रियर्सन - ए०एस०ओ०बी०, १६२४, पृ० ८४-८५

३. (क) ग्रियर्सन द्वारा उद्धृतज्यूल ब्लाख, ७७
 (ख) टर्नर-जे०आर०ए०एस०, १६२१, पृ० ३४४

यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि विकास की परम्परा में संस्कृत रूपों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन की स्थिति को सीधे हिन्दी से संयुक्त करना उचित नहीं है । अपभ्रंश और हिन्दी के निकटस्थ रूपों में भी परिवर्तन की दिशाएं सूचित की जानी चाहिए । ध्वनि-विकास प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय न होने से सामान्य-परिवर्तन सम्बन्धी रूपों के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :-

२१. (क) स्वर -

१. अ > अ

√करकर (पउमचरिउ ६३-३) हिं-√करकर,√थरथर (प०च० ६३-३) √थरथर,√चलक्क (महापुराण-२१६-४)>√चल सतावउ (हरिवंश पुराण-१-२) सताओ, चलणा (ह०पु० २- ३) चलना ।

२. आ > आ .

पइट्ठा (रिट्ठणेमि चरिउ २८- ५)>पैठा, भग्गा (करकंडचरिउ ३।१८।२।११)>भागा, दिट्ठा (परमप्पयासु- २- १३२)>दीठा, किआ (प्राकृतपैंगलम् २।७७)>किया, हेमचन्द्र (२।२०४) में यह 'कया' है । इसी प्रकार हिन्दी 'पाया' के अपभ्रंश में दो रूप मिलते हैं --पाआ (प्रा० पैं०१ -१३०), पावा (प्रा०पैं ० २- १०१) । हूआ (प्रा०पैं० २-१५७) हुआ (हे०च० ४-३५१)>हिं• हुआ । शब्दों के भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं -बुड्ढा (प्रा० पैं० २-५४५),बंका (प्रा०पैं० ३।५६३- ३)> हिं• बांका । थूलिभद्दफागु १४ में हिंडोला, कचोला, मसूरा, संखूरा जैसे प्रयोग मिलते हैं जो हिन्दी में ज्यों के त्यों हैं ।

३. ई > ई

~~आवइ-(-प्रा०पैं०-४-३५८)--आवे~~

करती (नेमिनाथ च उपई १८)>करती, आई (थुलिभद्दफागु १८)> हिं• आई, गई (प्रा०पैं० २-४३५)>हिं० गई ।

(४) अइ> ए, ऐ

आवइ प्रा० पैं०(४-३५८)>आवै, ढलइ (म०पु० ८-६-१२) > ढलै।
पीसइ (म०पु० ५१।२।१)>पीसै , आयइ (ह०पु० ८४।१)>आयै, पल्लट्टइ
(जंबुसामिचरिउ)>पलटै (बदलने के अर्थ में), मुअइ (करकंडचरिउ ६।६)>
मुयै (-मरै), पावइ (योगसार ३२)>पावै। इइ (नेमिनाथ चउपइ २०)
> है।

२२. (ख) व्यंजन

(५) ड > ट

रडेवि लग्ग (प०च० २८।३) - रटने लगा, फुट्टइ (म०पु० १४।६।७)>
फूटै, चप्पेडदेंता (ह०पु० ८६।१२)> चपेट देता ।

(६) ड > ड़

णिवडइ (म०पु० ७।१)> हिं०निबड़े , पढ़इ (हिन्दी काव्यधारा -
पृ० १)>पढ़ै, तोडइ (जसहर चरिउ २।३७-२-७)>तोड़ै। मोडइ (ज०च०
२-३७-२-७)>मोड़ै, फाडइ (ज०च० २-३७-२-७)> फाड़ै।

(७) ण > न

णिझालइ (म०पु० ५१-२-१)> निझारै, णीसरइ (हे०व०-४-१६)> निसरै,
णिज्झरइ (हे०च० ४-२०) > निझरै, जाणइ (प०च० ६३-३)>जानै,
मण्णहु (दोहा कोश व -१०२)> मानौ ।

(८) व > ब

वडवडइ (पाहुड दोहा ६, हे०च० ४-१४८) > बड़बड़ावै , वसइ (पा०
दो० ५३)>बसै, विप्फुरइ (पा०दो० २४, ६५)> बिफरै, वुणणइं
पा०दो०१०८) > बुनना, उव्वहंति (प०च० १-१०)> उबहना ।

२३. (ग) ऊष्मध्वनियाँ -

(९) प्राकृत-युग में ही श् , ष् , स् के स्थान पर 'स्' का प्रयोग शेष

रह गया था । अपभ्रंश युग में भी यही प्रवृत्ति बनी रही । इसका एक प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी-क्रियाओं में केवल 'स' ध्वनि ही पाई जाती है । फारसी अथवा अरबी से आगत क्रियाओं में 'श' ध्वनि प्राप्त होती है, अन्यत्र नहीं ।

२४. (३) संयुक्त व्यंजन

(१०) प्रा०भा०आ० भाषा के संयुक्त व्यंजनों की प्रक्रिया म०भा०आ० और अपभ्रंश में भी बनी रही, किन्तु यह प्राय: एक वर्गीय संयुक्त व्यंजन बन गए थे । हिन्दी में संयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन की तीन प्रमुख दिशाएं हैं :-

अ. मध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जाता है और यदि पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व है तो वह दीर्घ हो जाता है :-

मुक्कइ (म०पु० १ - ८ - ७)>मूकै, चुक्कइ (म०पु० ४-८-५) > चूकै, कज्जइ (म०पु० १५-१२-५-३) > काजै, बुज्झइ, जुज्झइ (म०पु० २८-३४-१- ७)>बूझै, जूझै ।

आ. कभी-कभी पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घ नहीं होता :-

वज्झइ (म०पु० ३१-१०-६)>बझै, चक्खइ (म०पु० २-१६-४) > चखै । लुक्कइ (म०पु० ६-१४-१२) > लुकै ।

इ. यदि पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ है तो संयुक्त व्यंजन में से एक का स्वत: लोप हो जाता है :-

जोक्खइ (म०पु० ४-५-५) > जोखै, डोल्लइ (म०पु० ४ - १८- २)> डोलै, बोल्लइ (म०पु० ८-५-१७) > बोलै ।

१५. (ठ०) वर्ण-विपर्यय -

(११) बुड्डइ (म०पु० ४-१-११,है०च० ४-१०१) > डूबै । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[१] ने अपभ्रंश में इसके 'डिब्बिउं' और 'डुब्बिउं' रूप

---

१. बुद्धचरित -ना०प्र०सभा काशी, १९७६ वि०, भूमिका, पृ० २- ३

दिए हैं। मुझे यह रूप नहीं मिले। यदि यह रूप सत्य है तो प्रस्तुत क्रिया में वर्ण-विपर्यय अपभ्रंश में ही हो गया था।

विकरण विशिष्टता और प्रत्यय :-

२६. धातुओं के वर्गीकरण में इस प्रकार, साधारण अथवा विशिष्ट ध्वनि-परिवर्तन का वह स्थान नहीं रह जाता जो हार्न ले और डा० चटर्जी आदि ने व्यक्त किया है। इसी तरह गण-परिवर्तन और विकरण-विशिष्टता को दो भिन्न वर्गों में विभाजित करना उपादेय नहीं है। वस्तुत: संस्कृत धातुओं का गणों में विभाजित विकरणों और आन्तरिक रूपों के आधार पर किया गया है लेकिन उनके तिङ्०न्त प्रत्ययों में कोई भेद नहीं है। विकरण आन्तरिक स्थिति है और तिङ्०न्त बाह्य, इसी प्रकार उपसर्ग भी। हिन्दी धातुओं में विकरण की स्थिति को किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है। यदि इस रूप में देखा जाय तो वैज्ञानिक दृष्टि से तीन प्रकार के प्रत्यय माने जा सकते हैं - पूर्व प्रत्यय या उपसर्ग, मध्य विन्यस्तप्रत्यय अथवा विकरण और पर-प्रत्यय अथवा तिङ्०न्त प्रत्यय या वास्तविक क्रिया-प्रत्यय। इनमें उपसर्ग धातु के अर्थ से सम्बद्ध हैं और तिङ्०न्त काल-रचना की मूल-प्रक्रिया से, विकरण धातुओं के गण-विभाग सूचित करते हैं। हिन्दी-धातुओं और क्रिया रूपों की स्थिरता का मूलकारण ध्वनि-परिवर्तन ही है। इसलिये विकरण युक्त धातुरूपों के वर्गीकरण को ध्वनि-परिवर्तन की सामान्य प्रक्रिया से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में विद्वानों का यह कथन बहुत उचित है कि म०भा०आ० भाषा काल में प्राय: सभी गणों में एकरूपता आने लगी। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि अनेक गणों के स्थान पर एक भ्वादि गण ही प्रमुख बनने लगा। मूलत: यदि देखा जाय तो संस्कृत युग के बाद से लेकर अब तक क्रियारूपों का विकास हुआ है, धातु-रूपों का नहीं। उदाहरण के लिए हिन्दी की

पैठ्, जम्, बैठ् आदि धातुएं कृदन्त थीं, किन्तु हिन्दी में अपभ्रंश के पइट्ठा, जम्मइ बइट्ठा आदि के कारण इनका प्रयोग अन्यकालों में धातुरूप में ही स्वीकृत हुआ। इसी प्रकार विकरणयुक्त सुन् और जान् धातुएं भी हैं। सामान्यजन धातु और क्रियारूप में भेद को स्वीकार नहीं कर पाते थे। संभवत: इन्हीं रूपों को देखते हुए बीम्स और डा० धीरेन्द्रवर्मा आदि विद्वानों ने विकरणों को वैयाकरणों के मस्तिष्क की उपज कहा है (दे०अनु० ११)। ऊपर यह कह चुके हैं कि संस्कृत की वृहद् रूपावली परवर्ती युग में निरन्तर कम होती चली गई। इसका प्रमुख कारण था विविधता की अपेक्षा एक सरल, संक्षिप्त एवं स्पष्ट क्रिया-रूप की स्थापना जो सर्वजन सुलभ हो। ध्वनि-परिवर्तन के कारण तिङ्न्त और कृदन्त रूपों में भी परिवर्तन हुआ, आत्मने और परस्मैपदों के अन्तर के लोप का एक कारण यह भी है।

उभयगणी और अनियमित धातु

२७. यद्यपि गण-परिवर्तन के कारण विकरण की स्थिति बहुत कुछ समाप्त हो जाती है, क्योंकि आगे चलकर एकरूपता का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण बन गया, तथापि कुछ अंशों तक उसका प्रभाव शेष बना रहा। ऊपर प्रथम और द्वितीय व्यूह की धातुओं में 'अंग' (स्वर और स्वर रहित) का भेद व्यक्त किया गया है। इनमें अदादि और जुहोत्यादिगणीय धातुएं विकरण विहीन हैं। भ्वादि और तुदादि में 'अ' विकरण की स्पष्ट समानता है, स्वादि और चुरादि भी स्वर-युक्त मानी जा चुकी हैं, शेष व्यंजन-विकरणवाली हैं। इनमें से लगभग ५० धातुएं ही हिन्दी में आ सकी हैं। यदि सम्पूर्ण रूप से देखा जाय तो इस सम्बन्ध में दो समस्यायें लक्षित हो सकती हैं, जिन्हें गण-परिवर्तन अथवा एक रूप-सिद्धि में सहायक मान सकते हैं।

(क) कठिन उच्चारण वाली रूपावली की अपेक्षा भ्वादि की सरल रूपावली के अनुरूप धातुओं का प्रयोग। ऐसी धातुओं में उभयगणी, उभयपदी अथवा

अनियमित धातुएं अधिक आती हैं, जैसे —सं० √मृज्- मार्ष्टि (अदादि) की अपेक्षा मृंजति (भ्वादि) से हिन्दी की मांज् धातु व्युत्पन्न हुई है। इसी प्रकार सं० √मृद् - मृद्नाति (क्र्यादि), मर्दति (भ्वादि), √भृ, √हृ, √नी, √शक् और √तृप् (तर्पति। तर्पयति। तर्पते। तृप्यति। तृप्नोति। तृपति) आदि धातुएं आती हैं, जिनके सरल रूप ही विकसित हुए हैं। ऐसे रूपों में अर्थभेद भी संभव है। तनादि गण की कुल ६ धातुओं में केवल दो धातुएं ही हिन्दी में आई हैं जिनमें सं० √तन् के प्रेरणार्थक रूप तानयति से हिन्दी √तान्[1] का विकास माना गया है और √कृ की अनियमित[2]—वैदिक में यह 'करति'[3] है, और में 'करोति'।[4] √कर् की हिन्दी रूपावली में अनियमितता का मूलकारण यही है। इनके अतिरिक्त कठिन उच्चारण वाली रूपावली की अपेक्षा प्राकृत युग में संस्कृत धातुओं को ही ग्रहण कर लिया गया और नये रूप में स्वीकार कर लेने के पश्चात् उनकी रूपावली भ्वादि गणी धातुओं के ही समान रखी गई। जैसे - सं० √भंज् - भनक्ति, किन्तु प्रा० भंजइ, सं √भुंज् - भुनक्ति, किन्तु प्रा० भुंजइ, सं० √तुर् - तुतोर्ति, किन्तु प्रा० तुरइ आदि।

धातुओं का प्राकृतीकरण :-

(ख) प्राकृत युग में व्याकरण ग्रन्थों के आधार पर शब्दों का 'प्राकृतिकरण' (पिशल १२) भी किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत-प्रकाश के प्रसिद्ध सूत्रों - 'क ग च ज........ प्रायोलोप:' आदि के आधार पर और प्राकृत की सामान्य प्रकृति के अनुसार कवियों ने संस्कृत शब्दों को प्राकृत रूप दे दिया। यह

---

१. हार्नले - हिन्दी रूट्स- पृ० ४८
२. कीलहार्न - अ०ग्रा० सं० - लैंग्वेज़ २६३
३. पिशल - प्रा०भा०व्या०, ४७७
४. सं०व्या०, पृ० ४५३

प्रवृत्ति ठीक उसी प्रकार की है, जैसे तुलसी, सूर, विद्यापति आदि कवियों ने संस्कृत शब्दों को (अवधी, ब्रज और मैथिली में) ध्वनि-परिवर्तन के साथ स्वीकार किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] के अनुसार प्राकृत और अपभ्रंश में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनके संस्कृत रूप भिन्न प्रकार के थे । उदाहरण के लिए 'गज' और 'गत' के लिए 'गये' तथा 'काक, काच, काय, कार्य' के लिए केवल 'काय' के प्रयोग से कार्य सम्पादित किया जाता था । लेकिन जहाँ शुक्ल जी के कथन से यह स्वाभाविक प्रयोग थे, वहाँ मुझे ऐसे शब्द कृत्रिम प्रतीत होते हैं —व्याकरण सूत्रों के आधार पर निर्मित । अपभ्रंश युग में प्राय: संस्कृत शब्दों से ध्वनि-भेद को हटाकर अलंकारपरक रचनाओं में चमत्कार उत्पन्न करना एक प्रमुख विशेषता बन गई थी । विशेष रूप से श्लेष और ध्वनि-काव्यों में यह प्रवृत्ति अधिक है । शब्द और क्रिया-दोनों ही क्षेत्रों में इसे लक्षित किया जा सकता है ।

(१) मालइ कुसुम भमरु जिह वज्जइ । घरे घरे गहेरु तूरु तहि वज्जइ ।

मंद मंद मलयानिल वायइ । महुर सद्दु जणु वल्लइ वायइ[3] ।

(वीर कवि-जंबुसामिचरिउ ३।१२)

(२) महासरं पत्र विसेस भूसियं
सुहालयं सक्कइ विंद सेवियं ।
सुलक्खणालंकरियं सुणाययं
णिउव्व रामुव्व वणं विराइयं ।

(नयनंदी-सुदंसण चरिउ ७-८)[4]

---

१. बुद्धचरित- भूमिका, पृ० १२

२. हिन्दी साहित्य की आदिकाल, पृ० २२

३. डा० हरिवंश कोछड़ - अपभ्रंश-साहित्य, पृ० १५५ से उद्धृत

४. वही, पृ० १६३ से उद्धृत

इन उदाहरणों से कवि के संस्कृत और प्राकृत-ज्ञान की अभिधेयता तो प्रकट ही होती है, यह भी निश्चय हो जाता है कि यह कथित की अपेक्षा कृत्रिम भाषा भी है। हिन्दी की अनेक धातुओं का स्रोत केवल लिखित होने के कारण ऐसे रूप भी हिन्दी में स्वीकृत हुए हैं जिनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ऐसे रूपों ने नये सिरे से एक रूपसिद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया है। डा० हरिवंश कोछड़ ने इनके अर्थ और काव्यगत चमत्कार पर विशेष प्रकाश डाला है।

२८. हिन्दी की कुछ धातुओं में विकरण की ऐतिहासिक स्थिति को भी स्वीकार किया गया है। यह द्वितीय व्यूह की व्यंजन विकरण वाली धातुएं हैं जिनमें कुल मिलाकर चार धातुएं ही हिन्दी में प्राप्त होती हैं -- √चुन् < चि, √जान् < ज्ञा, √धुन् < धु, √सुन् < श्रु। संस्कृत √चि उभयपदी है - चिनोति। चिनुते। इनमें चिनोति से हिन्दी √चिन् और चिनुते में स्वरविपर्यय (चिनुते > चुनते) के कारण हिन्दी √चुन् का विकास हुआ। इनके अतिरिक्त कुछ धातुएं ऐसी हैं जिनमें ध्वनि-परिवर्तन की स्थिति को ही विकरण मान लिया गया, लेकिन यह रूप विकरण नहीं हैं। जैसे - नृत्यति, बुध्यति, युध्यति के - य - की स्थिति को नाच्, बूझ्, जूझ् आदि में स्वीकार किया गया। डा० चटर्जी से लेकर डा० नामवर सिंह तक अनेक विद्वानों द्वारा विवेचित अन्य धातुओं में भी आज विकरण नहीं हैं, यदि कुछ शेष है तो उनका परिवर्तित-हिन्दी-रूप। नामवर सिंह द्वारा प्रस्तुत √कृ > कर्, √दृ > दर्, √धृ > धर्, √हृ > हर् में 'र' को विकरण नहीं मान सकते। साथ ही रुद्-रोदिति से हिन्दी 'रो' का विकास न मान कर वैदिक रुदति प्रा० रुवइ हिं: रोवे अधिक संगत है। अन्ततः यह कह सकते हैं कि यह सब गण-परिवर्तन का परिणाम मात्र है।

२६. चुरादि प्रेरणा और नामधातु -

चुरादिगणीय धातुओं का द्विधात्मक विकास हुआ है - एक तो विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में और दूसरे नामधातु तथा प्रेरणार्थक प्रत्ययों की समानता

के कारण एक भिन्न किन्तु सम्मिलित प्रक्रिया के रूप में । फलत: इन पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है ।

३०. यद्यपि प्रेरणार्थक और चुरादि प्रत्यय समान हैं, तथापि प्रेरणार्थक का एक अन्य रूप भी है - हिन्दी प्रेरणा- प्रत्ययों का विकास । दूसरे प्रेरणार्थक धातु नहीं होती, क्रिया का रूप विशेष होता है और हिन्दी में जहां एक ही क्रिया अकर्मक, सकर्मक, प्रथम और द्वितीय प्रेरणार्थक का रूप धारण कर सकती है, वहां उसे धातु विशेष नहीं माना जा सकता । धातु एक होगी, उसके रूपात्मक प्रयोग चार प्रकार के हो सकते हैं । इसलिये यह मूलत: व्याकरण का प्रश्न है, व्युत्पत्ति और धातु के वर्गीकरण का नहीं । यदि संस्कृत के प्रेरणार्थक रूप से ही (किसी अन्य रूप से नहीं) हिन्दी-धातुओं का विकास हुआ है, तो उसे एक निश्चित शीर्षक में विभाजित करने की आवश्यकता होगी ।

३१. नामधातुओं के स्पष्टत: तीन रूप हैं । प्रथमत: वे धातुएं जो संस्कृत में नामधातु थीं, किन्तु परवर्ती युग में इन्हें धातु रूप में प्रयुक्त किया गया और विकसित होकर हिन्दी में मूल धातु के रूप में आईं । दूसरे, वे धातुएं जिनके 'नाम' और 'धातु' दोनों ही रूप आज तक प्राप्त होते हैं । तीसरे प्रकार की नामधातुएं तत्सम हैं अथवा हिन्दी की अपनी हैं । हार्नले आदि ने इन्हें स्पष्ट नहीं किया है ।

३२. देशी शब्द और धातु स्वीकार नहीं किए जा सकते । अतएव इस प्रकार का वर्गीकरण संभव नहीं है (दे० अनु० ६२ और आगे) ।

३३. डा० चटर्जी आदि ने सिद्ध और साधित वर्गों की संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुओं को अलग-अलग वर्गों में विभक्त करने का कोई ठोस आधार नहीं दिया है । सत्यता यह है कि जो संदिग्ध हैं, वह संदिग्ध है, उसे एक ही स्थान पर रखना चाहिए ।

वाच्य और धातु

३४. संस्कृत कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य तथा भविष्यत्काल से व्युत्पन्न धातुओं को डा० चटर्जी आदि ने ध्वन्यात्मक परिवर्तन और औपम्य की दृष्टि से उनके स्रोत का निर्धारण करते हुए 'साधारण' माना है । लेकिन यह साधारण न होकर विशिष्ट हैं, क्योंकि यह मूल धातु से विकसित न होकर क्रिया की विशिष्ट रूप-रचना से गृहीत हैं । इस सम्बन्ध में यह अधिक उचित जान पड़ता है कि वर्तमानकाल में धातु रूपों की स्पष्टता के कारण ऐसे रूप साधारण कहे जा सकते हैं, परन्तु अन्यकालों में इनमें विकार की संभावना अधिक रहती है और उन रूपों से प्राप्त धातुरूप स्वाभाविक नहीं होते, अत: इन्हें विशिष्ट कहना ही संगत है । इसी प्रकार वाच्य परिवर्तन आदि से प्राप्त धातुएँ भी परिगणित की जा सकती हैं ।

तत्सम धातु

३५. तत्सम धातुओं का प्रश्न विवादग्रस्त अधिक है । सिद्धान्तत: डा० चटर्जी आदि ने इनका वर्गीकरण तो किया है, किन्तु उदाहरण 'अर्द्धतत्सम' धातुओं के दिए हैं - अर्प् < अर्प्, तज् < त्यज् , बरज् < वर्ज् , दुह् < दुह् , आदि । डा० ग्रियर्सन [१] तत्सम धातुओं की स्थिति ही नहीं मानते । उनके अनुसार धातु अपने अविकृत रूप में प्रयुक्त हो ही नहीं सकते, क्योंकि तत्सम धातुएं क्रिया की रूपरचना में तद्भव रूप धारण कर लेती हैं । आ०भा०आ०भाषाओं की तरह हिन्दी की भी क्रियायें तद्भव हैं । जो क्रियायें तत्सम प्रतीत भी होती है, वे वस्तुत: किसी न किसी तद्भव क्रिया की सहायता से ही क्रिया का कार्य करने में समर्थ होती हैं । डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार हिन्दी के क्रियापद और सर्वनाम सब तद्भव हैं ।[२]

---

१. भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १, पृ० २३८ (अनुवादक - डा० उदयनारायण तिवारी)

२. भाषा-विज्ञान, पृ० २६०

डा० प्रेमनारायण टंडन ने इन्हें तत्सम नाम न देकर संस्कृत से प्रभावित[1] रूप कहा है और उदाहरणस्वरूप सूर की भाषा से ग्रथति, तिष्ठति, भाषति, भ्राजति आदि का उल्लेख किया है । मध्यकालीन अन्य कवियों ने भी इस प्रकार के प्रयोग किए हैं । तुलसी में सृजति, पालति, हरति, रोदिति, वदति आदि हैं । किन्तु इन्हें हिन्दी की धातु नहीं मान सकते । इसके कुछ प्रमुख कारण हैं – (क) संस्कृत में ग्रंथति की धातु √ग्रथ् और तिष्ठति की √स्था है, लेकिन हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप √ग्रन्थ् और √तिष्ठ् को धातु मानना आवश्यक है, जो संभव नहीं है ।
(ख) उक्त रूप वर्तमान काल के हैं, भूत और भविष्यत् में इनके रूप कदाचित् किंवा व्याकरण विरुद्ध प्रतीत होंगे --ग्रन्था, ग्रंथेगा, तिष्ठा, तिष्ठेगा । संभवतः यही कारण है कि ग्रियर्सन ने तत्सम धातुओं को मान्यता नहीं दी । अतएव यह कह सकते हैं कि जिन धातुओं के रूपान्तर सभी कालों में नहीं प्राप्त होते वे मूल धातु नहीं हैं और हिन्दी में तत्सम धातुएं नहीं होतीं । जो तत्सम धातुएं हिन्दी में प्रयुक्त हुई हैं, वे हिन्दी की प्रकृति से मेल नहीं खातीं । मध्यकालीन-काव्य-भाषा में इनका प्रयोग प्रचुरता से हुआ है । आधुनिक युग में इन्हें अप्रचलित कहना ही श्रेय है । काव्य-भाषा में ऐसी धातुओं के प्रयोग का विविध वर्णन डा० बाबूराम सक्सेना ने किया है ।

३६. संयुक्त धातु एक अपूर्ण परिभाषा है । स्वयं डा० चटर्जी ने भी यह स्वीकार किया है कि इस प्रकार के धातु रूपों को धातु नहीं कह सकते ।

धातु-वर्गीकरण

३७. धातुओं की वर्गीकरण-सम्बन्धी उक्त कठिनाइयों और हिन्दी धातुओं की प्रकृति को देखते हुए हार्नले की मूल और यौगिक धातुओं को मूल धातु ही मानना

---

१. सूर की भाषा, पृ० ३०३

२. रामचरितमानस २।१२६

पड़ेगा । अन्य वर्गीकरणों के प्रति भी यही बात कही जा सकती है । स्रोत की दृष्टि से इसके कई विभाग किए जा सकते हैं, लेकिन हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप केवल दो ही विभाग उपयुक्त होंगे । प्रस्तुत वर्गीकरण में परम्परागत धातुओं के वे रूप जो स्पष्टत: संस्कृत से सम्बद्ध किए जा सकते हैं प्रमुख माने गये हैं। जिनके रूप संस्कृत धातु अथवा वर्तमान काल के अतिरिक्त अन्य रूपों से आए हैं वे स्रोत की दृष्टि से गौण कहे गये हैं । हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप यह सभी मूल धातु हैं । इनमें वाच्य, काल, प्रेरणा ,नाम आदि सभी आ जाती हैं । मूल के ही अन्तर्गत संस्कृतेतर धातुएं भी आती हैं । दूसरा विभाजन नाम धातुओं का है । तीसरा वर्ग वस्तुत: कोई वर्ग नहीं माना जा सकता, प्रत्युत यह संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली अथवा अनिर्णीत धातुओं का संग्रह रूप है ।

(१) मूलधातु

क. प्रमुख - साधारण, गण-परिवर्तन, सोपसर्गज

ख. गौण (अ) क्रिया रूपों से विकसित - वाच्य-परिवर्तन , काल -परिवर्तन, प्रेरणार्थक

(आ) नामधातु

(इ) विशिष्ट प्रत्यय युक्त

ग. संस्कृतेतर धातुएं —

(२) नाम धातु—

क. परम्परागत

ख. आधुनिक

(३) संदिग्ध अथवा अनिर्णीत —

नीचे प्रत्येक शीर्षक पर विचार किया जाता है ।

३८. (१) मूल धातु -

हिन्दी की साधारण धातुओं का विकास संस्कृत-धातुओं का क्रमिक विकास है। यह वर्तमान काल के विकसित रूपों से प्राप्त हुई हैं। गण-परिवर्तन की प्रक्रिया म०भा०आ० भाषाकाल में अत्यन्त सामान्य थी और इन्हें साधारण-धातुओं से भिन्न नहीं माना जा सकता। यह प्रक्रिया ध्वन्यात्मक और रूपात्मक दोनों ही प्रकार की थी। साधारण धातुओं के कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

अछ् (सं० अस्> प्रा० अच्छइ > अप० अच्छइ सरहपा-का०धा० १०,६०, जसहर च० पृ० २५, पा०दो० ५८)। कर् (सं० कृ- करोति, वैदिक करति > प्रा० करइ वर० ८-१३, है०च० - ४- ३२६)। कस् (सं० कृष् - कर्षति > प्रा० कसइ हा० २५> हिं० कस् - बांधना)। कस्। सं० कष् - कषति > प्रा० कसइ हा० २४> हिं कस् - (परीक्षण करना) कह् (सं० कथ् - कथयति > प्रा० कहइ है०च० ४-२, कहिजै - कहियै रा०म०पृ० १०)। कांप् (सं० कम्प - कम्पति > प्रा० कंपइ, है०च० १-३०, डी० तिवारी ने कंपते > म० कम्पइ > पं० कम्बदा से व्युत्पन्न माना है, उ०र० ३८ में कम्पते> कौंपइ आया है)। कांछ्- काछ् - हथेली से किसी द्रववस्तु को उठाना सं० कृष् - कर्षति > प्रा० कच्छइ प्लै०, हिं०दि०)। काढ्- सं० कवयति > कढइ वर० ८, ३६, है०च० ४, ११६, पि० २१३। कीन् (सं० क्री -क्रीणाति > प्रा० किणइ वर० ८,१३, किणी वि०)। कुढ़् (सं० क्रुध् - क्रुध्यति > प्रा० कुढइ प्लै० हिं० डि०), कूट् (सं० कुट्ट- कुट्टयति> प्रा० कुट्टइ हा० ३१, उ०ना०ति० १, दो० को० ५४ में कुट्टन्ते आया है, पुष्पदन्त ने कुट्टणाइं - का०धा०,पृ० २३६ और हरिभद्र सूरि ने कुट्टहिं का प्रयोग किया है, कुद् - हा० ३२ और प्लै० इसे सं० स्कुन्द् - स्कुन्दते > प्रा० कुंदइ से व्युत्पन्न मानते हैं, डा० चटर्जी और डा० तिवारी प्रा० कुद्द् से, जो उनके अनुसार सं० में आर्येतरांश है, व्युत्पन्न स्वीकार करते हैं। कोंच् - सं० कुच् - लिखना, चुभाना श्या०सु० दास, हिं०श०सा० - कुंचइ - पुष्पदन्त - का०धा०- २१० कुंचणाइ वही २३६ प्लै० की व्युत्पत्ति अशुद्ध है। कोट् - सं० कुट् - कोटयते >

प्रा० कोड्ड या कोड्ड , > पू०हि० और हां० ३३ तथा प्लै०, हि०डि० । कोप्
सं० कुप् - कुप्यति > प्रा० कुप्पइ - है०च० ४, २३०, पि० ने २७६ में कुप्यति > कुप्पइ
और ४४८ में कुप्यते > कुप्पइ दिया है, उ०र० ३८ में कुप्यति>कुपइ दिया है ।
कोड़ा - सं० कुब्यते उ०र० ३८ । क्नू - सं० क्नू - क्नाति > पाली क्नाति > प्रा०
क्नाइ - वनै १७५ , भुसुकपा- का०धा० १३२ में क्नाअ तथा धनपाल- का० धा०
२८४ में क्नानु है, उ०र०३८ में काइ है । क्सु - प्लै० इसे सं० क्सु से मानते हैं ,
उ०र० ३६ में क्षति - क्सइ है, वै०सा० २ में क्सइ आया है । कांस् - सं० कास् -
कासते > प्रा० कासइ या कासइ - है०च० १, १८१ में कासित > कासिअं दिया है,
उ०र० ३६ कासते > खासइ है । खा० - सं० खाद्- खादति > प्रा० खाअइ या खाइ
है०च० ४, २२८ । खीज् - सं० खिद् - खिद्यते > प्रा० खिज्जइ है०च० ४, २२४ , पुष्प-
दन्त में का०धा० १६८ पर खिज्जइ आया है, पू०हिं० में यह खीझ है । खुभ् - सं०
क्षुभ् क्षुभयति > प्रा० खुब्भइ प्लै०, हिं०डि० । खुंद् - सं० क्षुद् > प्रा० खुंदि ,
विद्याधर में यह टप्पु खुंदि - टाप से खुंद कर - आया है, (का०धा० पृ० ३६८) ।
खेद् - सं० खेटयति > खेडइ उ०र० ३८ प्लै० की व्युत्पत्ति अशुद्ध है । खे (ना) - सं०
क्षिप-क्षेपयति > प्रा० खेययइ > पू०हिं० खेयइ, तथा क्षिप्यति प्रा० खिव्वइ> हिं
खेवइ है० हिं०डि० । खेल० - सं० क्रीड् - क्रीडति > प्रा० खेड्डइ है०च० ४, १८८,
अर्ध मा० तथा जै०म० खिड्डा, खेड्डा (क्रीडा), अप० खेड्डइ है०च० ४,४२२, कबीर
खेड़, खेल्लइ है०च० ४,३८२, खिल्ल,खेल्ल है०च० ४,१६८, ४।३८२, ह०पु० ६१।१०।२१
ना०कु०च० ३।१२।१०, खेलइ-भुसुकपा- का०आ० १३४ । खो - सं० क्षिप् -
क्षिपति > प्रा० खिवइ, हां० ४३ तथा सं०ग्रा० १२२ । खोल्- सं० खुड् - खोडयति >
प्रा० खोडेइ, खोडइ,> खोलइ हा० ४४ । खोल् - सं० क्ष्वेल्, क्ष्वेलति प्लै० हि०डि० ।
गसे -सं० ग्रस् - ग्रसति > प्रा० गसइ/जस०च०पृ० २५ यह वस्तुत: अच्छइ के तुक पर
प्रयुक्त हुआ है, हिन्दी में भी केवल मध्यकालीन काव्यों में ही आया है, दे० हिं०
श०सा० । गाठ् - सं० ग्रंथ् - ग्रन्थति तथा ग्रथाति - प्रा० गंठइ है०च० ४-१२०,
गांठना भी इसी से व्युत्पन्न है, पू०हि० में यह गठियाना है । गढ्- सं० घट् -
घटते > प्रा० गढइ है०च० ४-११२, हिन्दी घढ़ना भी । गन्, गिन् - सं० गण् -

गणायति > प्रा० गणेइ, गाइ - हे०च० ४-३५८, गणेइ, गणिज्जइ - स्वयंभू-काव्धा० ७०, गिणइ उ०र० ३७ गरज् - सं० गर्ज् - गर्जति >प्रा० गज्जइ, गज्जइ प्लै०, हि०डि० । गरिया - सं० गर्ह् गर्हयति > प्रा० गरिहावइ- हे०च० २-१०४ । गल्- सं० गल्-गलति > प्रा० गलइ हे०च० ४-११८ , गलइ काव्धा० २८० । गह्-सं०ग्रह् - डा० नै ५२ में इसे गृह्णाति > प्रा० गेण्हइ व०र० ८-१५ माना है और प्लै० सं० गृह्णाति > प्रा० गेण्हइ, गेण्हइ देते हैं, किन्तु यह अधिक उचित है कि इसे ग्रसति की भाँति ग्रहति से व्युत्पन्न माना जाय - पृ० रा० रा० में यह गह है । गाँठ्- दे० गठ । गाँथ् - दे०गठ् । गा - सं० गै - गायति > प्रा० गाअइ व०र० ८-२६, गायइ उ०र० ३७ । गाड् - दे० गड् । गिर् - सं० गृ - गिरति > प्रा० गिरइ, उ०र० ३७, डा० वले १७६ - इसे IE * $g^{w}ela$ - सं० गिरति* गृत, म०भा०आ० *(सं० गडति, गलति),*गिड, प्रा० गड्डइ, हिं , गिर् मानते हैं , जो उचित नहीं जँचता । डॉ०५५ में इसे टीक देते हैं और उ०र०३७ की भी सम्मति यही है । गुह् - सं० गुफ् - गुफति> प्रा० गुहइ हे०च० १-२३६ । गुंथ्, गुंथ्, गुथ्, गुंध् - सं० ग्रथ् - दे० गठ् । गोंच् - सं० ग्लुच्, ग्लुंचति > प्रा० गुंचइ डॉ० ५७ । घड् - सं० घट्- घटते > प्रा०घडइ हे०च० ४-११२, क०च० ६-१६-८, घडउ स्वयंभु-काव्धा० २४ । घस्, घिस् - सं० घृष् - घर्षति > प्रा० घसइ (घृषति) घिसइ हे०च० ४,२०४ में इसे ग्रसति के स्थान पर मानते हैं जो अशुद्ध है, प्लै० इसे घर्षणीयं > प्रा० घसणां, घिसणाअं लिखते हैं, यह भी उचित नहीं है, उ०र० ३६ में घर्षति > घसइ आया है, व०र० ८-२८ में घिसइ है, जिसे पिशल १०३ घस्ति और घसति का विकास मानते हैं, दो०को० ३५ में यह घसि है और का०धा० ४५६ में घसइ है । घाल् - सं० घट्- घट्टते> प्रा० घट्टइ तथा घल्लइ , हे०च० ने ४-३३४ में इसे क्षिपति का स्थानापन्न माना है, डॉ० (६१) का यही मत है , पा०दो० ७१ में घल्लेप्पिणु आया है, डा० जैन इसे घल्ल < क्षिप् > क्षिप्त्वा मानते हैं, वले १७६ में*सं० घलयति, घरति का समानार्थी बताते हुए म०भा०आ० घल्ल् > अप० घल्लइ रूप देते हैं, दो०को० ३५ में घालइ है । घुलना - सं० घूर्ण् - घूर्णति > प्रा० घुलइ, घोलइ, व०र० ८-६, हे०च० ४-११७ । डा० ६२ में घुण्, घोल् -घोलयति-रूप देते हैं, हमारे बाद वाले रूप से सहमत हैं, ज०च० ३-१४-५ में घोलियउ है और

प०च० ३८-३ में घोलइ है, भ०क० २६६-६ में घोलिवि मिलता है, दो०को० २५ में घोलियइ आया है, का०ग० १८८ में घुलिय, घुलइ रूप मिलते हैं, उ०र० ४० में घोलइ है। घुस्- सं० घुष् प्लै०, हि० डि०, वर्ले १७७ में पुष् - घृष् से मानते हैं, घुम्- सं० घूर्ण - घूर्णति > प्रा० घुम्मइ - हे०च० ४-११७, बीम्स १-३३४, हा० ६२, जंबु० सा०च० ३-१२ में घुम्मइ है, रा०भा० ६० में घुम्माइय और १८९ में घुम्मइ है, उ०र० ४४ में घूमइ < घूर्णयति है। घोंट् - सं० घुट- आवर्तन-हि०भ०सा० > प्रा०, अप० घुट्टिवि- कु०पु० ११०-४, हे०मा०मा० २-१०६, हे०च० ४-१०, ह०पु० ८५-१०-४ में घोट्टइ है, ना०कु०च० ५- ५- ५ में घोट्टन्ति है, दो०को० ३५ में घोट्टइ आया है। घोंड्, घोंस् < घुष् - घोषति,> घोसइ उ०र० ३६, चंप् - सं० चप् > अप० चप्पिउ पुष्पदंत का०धा० २२४, चांपइ उ०र० ४१, उ०म०पु० ६-२३ में चपति > चाप आया है, शृं०श० ५ में यह चांपउ है, हा० ने ६६ में इसे भा०वा० चप्यते > चप्पइ- माना है, हे०च० ४-३९५ में चप्पइ है। हिन्दी चाप्, चांप् इसी से व्युत्पन्न हैं - दे० हा० ६६। चल् - सं० चष् जू० ब्लाक़ के अनुसार चक्खइ है, ह०पु० ८५-१०-६ और ज०च० ३-२३-६ में चक्खइ है, म०पु० २-१६-४ में भी यही है। चबा, चाब, चाभ् - सं० चर्व - चर्वति > प्रा० चव्विय, तगारे ३८२, हा० ७०, बीम्स ३-४०, उ०र० ३६ में चाबइ < चर्वयति है। चर् - सं० चर् - चरति > प्रा० चरइ हा० ६७। चल् - सं० चल् - चलति,> प्रा० चलइ, चल्लइ हे०च० ४-२३१, ह०पु० २-३ में क्रियार्थक संज्ञा चलणा का प्रयोग हुआ है। चाह् - सं० इच्छति उ०व्य० प्र० १२-२६, दो०को० ३८६ में चाहन्ते, चाहिअ आया है, हा० की व्युत्पत्ति इच्छाइइ, इच्छाअइ अंशतः सही है। प्लै० तथा वर्ले १७७ ने गलत व्युत्पत्ति दी है। चुभ् - सं० क्षुभ् - क्षुभ्यति प्लै०, हिं० डि०। चू - सं० च्यु - च्यवते,> प्रा० चवइ - हे०च० ४ - २३३, अथवा सं० च्युत् - च्योतति,> प्रा० चीअइ, चुअइं, हे०च० २ - ७७ हा० ७६, पा० दो० २१ में चुय आया है। चूम् - सं० चुम्ब् - चुम्बति,> प्रा० चुंबइ व०र० ८-७१, चुंबिउ प०च० १४-६,> चुंबिय पा०दो० १५०,> चुंबइ उ०र० ३८। चूस् - सं० चुष् - चूषति उ०र० ३६,> अवधी में 'चुह्' धातु है - इसमें स् > ह हो गया है। छाज् - सं० छद् - छदयति,> प्रा० छज्जइ (प्लै०हिं०दि०),> छाजइ उ०र० १४०। छाड़, छाड़्

छांट् (वमन करना) - सं० छृद् - छर्दति,>प्रा० छड्डइ (प्ली०, हि०डि०), छांडइ उ०र० ४१ । छा-छद् - छादयति,>प्रा० छायइ - हे०च० ४-२१, छाइ वर० ८ - २६>अप० छायति - का०धा० २९६,>छायइ का०धा० २३६, छायइ उ०र०४२ । छी (ना) - सं० स्पृश् - स्पृशति,>प्रा० छिवइ, छिवइ हे०च० ४-१८२, म०पु० ४ -५- १३ । छूट - सं० छुट् - छुटति उ०र० ४३,>छुट्टइ का०च० ६-५-१-१०, छुट्टिइँ - का०धा० - ३६० , शालिभद्र सूरि का०धा० ४०६ में छूटइ आया है, छु- सं० छुप् - छुपति,>पाली छुपति - वर्म १६४,> प्रा० छुवइ,>का०धा० १३२ में छुपइ है और ३८६ में छुप्पइ आया है,>उ०व्य० पृ० ६-१६ , ५२-३ में छुव है । जड़् - सं० जट् - जटति प्लै०, हि० डि० > अप० जडिउ का०धा० ४५० । जप् - सं० जल्प् - जल्पति> प्रा० जंपइ - वर० ८ -२४ , स्वयंभु में यह जंपिय है, उ०र० ३८ में जपइ है । जर् , जल् - सं० ज्वल् - ज्वलति> प्रा० जलइ - हे०च० ४-३६५,>सरहपा में जल्लइ आया है, पा०दो० २० में जलण (ज्वलन) है, जर् भी ल > र से व्युत्पन्न है और हा० ८५ की व्युत्पत्ति ठीक नहीं है । जग् - सं० जागृ- जागर्ति,> प्रा० जागरइ,>जग्गइ - हे०च० ४-८०,>जागइ उ०र० ३७ । जा - सं०या - याति,> प्रा० जाइ > हे०च० ४-२४० , जायइ उ०र० ३७,>जाउ (यातु) पा० दो० ४८ , जा (याति) , जाइआ (गम्यते) जावैं (यातुम्) - उ०व्य०पृ० ५-२४, १६-१४ , ११-२२ । जी - सं० जीव् - जीवति,>प्रा० जीअइ - हे०च० १-१०१,>उ०र० ३६ में जीवइ है और का०धा० ६२ में भी यही है । जीम् - सं० जिम् - जेमति ,> प्रा० जिम्मइ जस०च० १-२१-८ , म०पु० १८-७-११ में जेंवइ है और उ०र० ३६ में जीमइ आया है । हे०च० ४-२३० में जेमइ रूप है । जूझ् - सं० युध् - युध्यते , प्रा० जुज्झइ वर० ८-४८, प०च० १-१०, म०पु० २८-३४-१-७, जुज्झु का०धा० ७८, जूझअ चर्या ३३ पृ० १६०, क०ग्रं० ८० में झूझै है और उ०र० ३८ में झूझइ है ।

३६. गणपरिवर्तन --

गण-परिवर्तन के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है, फिर भी यह कह सकते हैं कि एकरूपता की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत की बहुत सी धातुओं

में पालि युग में ही परिवर्तन आ गया था। यद्यपि म०भा०आ० में क्रिया संस्कृत की ही भाँति संयोगात्मक बनी रही, किन्तु पालि में उतने रूप नहीं प्राप्त होते। संस्कृत के दस गण भी सिमट कर केवल पाँच (१, ४, ६, ७, १०)[१] गण ही रह गए हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा[२] ने इन्हें साधारणत: एक ही गण माना है। शेष गण भी भ्वादि से बहुत अधिक प्रभावित हुए। हार्नले ने अपने धातु पाठ में संस्कृत के मूल गण और म०भा०आ० में उनके परिवर्तित गणों का प्राय: सभी धातुओं की व्युत्पत्ति में स्पष्ट उल्लेख किया है। गण-परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया का भी उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिसमें गण-परिवर्तन होते हुए भी कुछ विशिष्ट धातुओं के मूल विकरण अवशिष्ट रह गए हैं। जैसे - चिन् - सं०चि० - चिनोति प्रा० चिणाइ - वर० ८-२६, हे०च० ४-२४१। चुन् - सं० चि- चिनोति, प्रा० चुणाइ - हे०च० ४ - २३८, का०धा० १६० । जान् - सं० ज्ञा - जानाति, प्रा० जाणाइ, जाणाउं, जाणामि हे०च० ४-७, ४ - ३६१, ४ -४३६। धुन् - सं० धु- धुनोति, प्रा० धुणाइ, धूणाइ उ० र० ३७, धुणंति (धुन्वन्ति) पा० दो० ८६। सुन् - सं० श्रु - शृणोति, प्रा० सुणाइ वर० ८-५६, सरहपा में सुणाहु आया है का०धा० ८ ।

४०. सोपसर्गज धातुएं -

हिन्दी धातुओं में उपसर्ग नहीं लगते। अत: 'उपसर्ग संयुक्त' परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। हिन्दी-धातुओं में प्राप्त उपसर्ग की स्थिति वस्तुत: संस्कृत-उपसर्गों का विकसित रूप है। हिन्दी में अनेक धातुएं ऐसी हैं जिनमें संस्कृत उपसर्गों के अवशिष्ट रह गए हैं। इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा विवेचित उपसर्ग संयुक्त धातुओं का अर्थ सोपसर्गज धातु ही मानना चाहिए। श्री जय-देव सिंह ने[३] बांगरू बोली में धातुओं में उपसर्ग की स्थिति पर विचार करते हुए

---

१. बीम्स- कं०ग्रा० ३-१

२. हि०भा०इति० ३०२

३. वर्बल प्रिफिक्सेज़ इन बांगरू- इंडियन लिंग्विस्टिक्स, तारापुरवाला मेमोरियल वाल्यूम, जून १६५७, पृ० १५६-१६०

यह मत व्यक्त किया है कि यह वस्तुत: संस्कृत उपसर्गों के घिसे हुए रूप मात्र हैं और यह जीवित उपसर्ग नहीं कहे जा सकते । जीवित का अर्थ संभवत: यही किया जा सकता है कि इनका प्रयोग ऐतिहासिक सोपसर्गज धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं के साथ नहीं होता । यह अन्य बात है कि संस्कृत की विकासक्रम प्रक्रिया में इनमें अर्थ भेद बना रह गया है । हिन्दी-धातुओं के प्रति भी यही कह सकते हैं कि धातुएं सोपसर्गज हो सकती हैं किन्तु हिन्दी धातुओं में उपसर्ग नहीं लगते ।

४१. हिन्दी की सोपसर्गज धातुओं में ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण दो रूप प्राप्त होते हैं । एक तो वे धातुएं जिनमें उपसर्ग की स्थिति परिलक्षित की जा सकती है और दूसरे वे धातुएं जिनमें उपसर्ग घिस कर मूल धातु के साथ एकाकार हो गए हैं । नीचे दोनों के उदाहरण दिए जाते हैं ।

४२क. प्रथम प्रकार की धातुएं —

१. आ —

अघा (ना) - सं० आघ्राति, प्रा० अग्घाइ हाल - ६७१, नायाध० ८२, पण्णव० ४२६, ४३०, महा० में अग्घाअन्त (आजिघ्रत्) है - हाल० ५६६, रावण ० १३, ८२ , अ०माग० में अग्घायइ है - आयार० १३६ दो०को० में अग्घाइ आया है । आन (ना) - सं० आ + नी - आनयति, प्रा० आणायइ, जस०च० १-८-४ में आणेहु है , है०च० ४-३४३ में आणहि मिलता है अन्यत्र आणियइ भी है (४-४१६ - २) ।

२. उद् —

उकल, उकेल, उकीर, उकेर - यह चारों रूप ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण हैं और इनकी व्युत्पत्ति पिशल १०६ और लास्सन के अनुसार सं० उत्किरति (- खींचता है) से है । प्रा० में यह उक्कर चण्डको० १६, १७ , महा० में उक्केर आया है - है०च० देशी - १-६६ , पाइअ० १८,

।बद्धु० ११, ६ । हे०च० १-५८ में उक्कैरी , उक्करी रूप मिलते हैं, पिशल ने ६२ में टंकोत्कीर्णके लिए प्रा० टंकुक्किरियव्व रूप दिया है । उकस-सं० उत् +कृष् - उत्कर्षति7 प्रा० उक्कोसं हे०च० ४-२५८ (उत्कृ-ष्टम् से जान पड़ता है) इस सम्बन्ध में पिशल १११ में इसे उत्कोषित से बताते हुए वेबर और याकोबी का खंडन करते हैं । उड़ (दे० नामधातु) । उगल् - सं० उद् +गृ - उद्गिरति, प्रा० उग्गिलइ राइस - डेविड, पा०इं०डि० का०धा०,पृ० १२६ । उघट, उघड़ (दे० नामधातु) । उछल - सं० उत् +चल् - उच्चलति - प्रा० चूलिका पैशाचिक - उच्छ-ल्लन्ति हे०च० ४-३२६ (उच्चलन्ति) , उच्छलिय पा० च० २- ६ - ७, उच्चल्ल भवि० क० ५४-१० , उच्छलइ का०धा० ४५६, द्रष्टव्य - पिशल ने २२५ में उश्चलदि और उच्छलति रूप भी दिया है । उजड़ - दे० नामधातु । उभक - सं० उत् + झक् 7 उभकि - पृ० रा०रा० १०३-३ । उठंग् - पिशल ५०५ में इसे*उत्स्तघ्नोति से व्युत्पन्न मानते हैं , प्रा० में यह उत्थंघइ है, अन्य शब्दों में उत्थंघण और उत्थंघि आए हैं, पि० ३३ , हे०च० ४-३६ तथा १४४ में उत्थंघइ है । उठ् - सं० उत् + उत्तिष्ठति - किन्तु पिशल ने ३३३ उत्थाति रूप माना है और शौर० में त्थेहि, उत्थेदु रूप दिए हैं, किन्तु - अ - रूपावली के आधार पर हे०च० के ४-१७ का हवाला देते हुए उट्ठइ रूप का भी उल्लेख किया है, हार्नले ७ में इसे भाववाच्य उत्थीयते, प्रा० उट्ठइ से व्युत्पन्न मानते हैं । वस्तुत: यह न तो उत्थाति और उत्तिष्ठति से व्युत्पन्न है और न उत्थीयते से, वरन्*उत्थाति से है, क्योंकि चिट्ठइ (हे०च० ४-१६) तिष्ठति से है और इस से उत्तिष्ठति का उच्चिट्ठइ होना चाहिए था , उत्थाति का उट्ठाइ होना चाहिए , वर० ८-२६ में उट्ठाइ ही आया है जो वस्तुत: उत्थाति या*उत्स्थाति प्रतीत होता है, पिशल ३०६ में ठाइ - स्थाति मानते हैं । द्रष्टव्य है कि हे०च० ने ४-१७ में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उत् के

परे स्वर ह्रस्व हो जाता है, अत: उट्ठइ रूप हुआ। निश्चय ही इस नियम से उत्थ
*उत्थति से ही उट्ठइ रूप सिद्ध होता है। उट्ठइ से सम्बद्ध अन्य रूपों में अ०माग०
में उट्ठेइ रूप होता है। उट्ठेइ (विवाह १६१), उट्ठेन्ति (मृच्छ० ४,१४,
१८, २२) आए हैं। अन्यत्र उट्ठेदि (वले - १६५), उट्ठिउ दो०को० मिलते हैं।
उत्तर् - सं० उत्+तृ - उत्तरति, प्रा० उत्तरइ है०च० ४ - ३३६, क०च० उत्तरेहु आया
है। उपज्- सं० उत् + पद् - उत्पद्यते, प्रा० उप्पज्जइ है०च० ३-१४२, जस० च०
२-१७-१०-११, ऊपजइ उ०र० ३८।

३. नि, निर्, निस् -

निखर् - सं० नि०+क्षर् - निक्षरति, प्रा० निक्खरइ (दे० प्रेर०)।
निगल् - सं० नि०+गृ - निगिलति, प्रा० निगलेइ प्लै० हिं०डि०,
दे० उगल्। निवार - दे० प्रेर०। निहार् - सं० नि+भाल् - निभालति, प्रा० णिहालइ ना०कु० च० ३-८। निवट्, निबह् - सं० निर् +
वट्, निर्वटयति, प्रा० णिव्वहइ - है०च० ४-६२, म०पु० ७-१ में
णिवहइ है। निसर् - सं० निस् - सृ- निस्सरति, प्रा० नीसरइ - है०
च० १-९३, णीसरइ - ४-१६८, निस्सरइ म०पु० १०७, णीसरंति -
प०च० ५६-२।

४. परि, प्र -

परख् - सं० परि+ईक्ष् - परीक्षते, प्रा० परिक्खइ, परखइ उ०र०
४१। परख् - सं प्रतीक्षते, पडखइ उ० र० ४१। परिहर् - सं० परि+
हृ - परिहरति, प्रा० परिहरइ है०च० ४-२५९। परोस् - दे० प्रेर०।
पलट्, पलोट् - सं० परि+अस् - पर्यस्यति, प्रा० पल्लट्टइ - है० च०
४ - २००, पलोट्टइ, है० च० ४-१६६, अन्यत्र है०च० -२-४७ में
पल्लट्टो, पल्लत्थो (पर्यस्त:), ४-२५८ में पल्लोट्टं (पर्यस्तं) है।
का०धा० पृ० ७२ पर पल्लट्ट (पलट कर) आया है, पृ० ३६७ पर

पलुट्टिअ है, पृ० २२० पर पलोट्टिउं है, म०पु० ३३-६-१३ में पल्लट्टिअ है । इनके अतिरिक्त पलटना का अर्थ बदलना भी होता है । इस अर्थ में इसका प्रथम प्रयोग जंबुसामिचरिउ २-१८ में इस प्रकार मिलता है - कच्चें पल्लट्टइ को रयणु पित्तलइ हेम विक्कइ कवणु । यहां यह परि + अस् से व्युत्पन्न नहीं है । उ०र० ४३ में पालटइ के संस्कृत रूप परावर्तयति और परिवर्तयति दिए गए हैं । पखार् - सं० प्र० + क्षाल् - सं० प्रक्षालयति, प्रा० अप० पक्खालइ का०धा० २२० , पक्खालदु - हे०च० ४-२८८ (प्रक्षालयतु) , अन्यत्र पक्खालण और पक्खालियवि (का०धा० ४०८) आए हैं । पठाना - दे० प्रेर० । पसर् - सं० प्र + सृ - प्रसरति , प्रा० पसरइ हे०च० ४ - ७७, प० च० २८-१ , म०पु० २८ - ३४ - १ - ७ । पसीज् - सं०प्र० + स्विद् , प्रस्विद्यति , प्रा० पसिज्जइ - हे०च० ४ -२२४ , पसीज उ०व्य० प्र० ५९-१६ , पसीजइ (प्रस्विद्यते) उ०र० ४२ । पा (ना) - सं० प्र० + आप् - प्राप्नोति , प्रा० पावइ - हे०च० ४-२३९ । पिशल ५०४ में पावइ की व्युत्पत्ति *प्रापति मानते हैं, लेकिन यह मात्र आनुमानिक नहीं है, उ०र० ४१ से भी प्रापति रूप सिद्ध होता है । पिशल ने अ०माग० पप्पोइ - पप्पोत्ति रूपों का उल्लेख किया है, जै०शौर० में पप्पोदि है, अन्यत्र यही पाउणइ है - विवाह० ८४५ । वले १७३ में सं० प्रापयति, पाली पापेति, प्रा० पावेइ रूप सुझाते हैं । अन्य रूपों —पावहि (पा०दो० २४, ६५) , पावेहि (मालवि० ३० - ११) , पावअ (का० धा० ३९८) , पाविज्जइ (प्राप्यते - पा० दो० ६), पाइ (प्राप्य पा० दो० १३०) पावसि , पावइ, पावन्ति , पाव, पावउ , पावदि, पावेदि, पावेहि, पावेचि, पावेन्ति (पि० ५०४) - को देखते हुए इसे प्रापति से व्युत्पन्न मानना ही उचित है । पेर, पेल - सं० प्र० + ईर् - प्रेरयति , प्रा० पेल्लइ हे०च० ४-१४३ , पेल्लइ (का०धा० ८ , पेल्लिअ (प्रेरित) पिशल १५१, पिल्लि (प्रेर्य) पा० दो० २२० । दूसरी व्युत्पत्ति सं० पीड् - पीडते , प्रा० पेल्लइ , का० धा० २१० में पीलइ भी आया है, अन्यत्र पेरिउ (का०धा० १७२) है । दोनों ही रूप सत्य हैं । पैस् - सं० प्र+विश् - प्रविशति, प्रा० पविसइ - हे०च० ४-१८३, दो०को० में पइसइ है ।

वि :-

बिक् (दे० गौणधातु) । बिहर् - वि + हृ - विहरति, किन्तु यह विदरति प्रतीत होता है, प्रा० विहरइ (हा० २२३), विदारिश्र का०धा० १८ । बिदर् भी इसी से सम्बद्ध है । बिचर् - वि+ चर् - विचरति, प्रा० बिच-रइ । हिं बितर् , बिलख् , बिलग् , बिलस् , आदि धातुएं वि उपसर्ग तृ, लक्ष्, लग्, लस् , आदि संस्कृत धातुओं से व्युत्पन्न हैं और इनमें व>ब सामान्य परिवर्तन है ।

सम् -

संघार्, संहार् (दे० प्रेर०) । संच् (दे० गौण धातु) । संवर् - सं० सम् + वृ - संवरते, प्रा० संवरइ (अलं० - १६२) । समझ् - सं० सम् + बुध् - सम्बुध्यते , प्रा० सम्बुज्झइ (हिं०भा० उद्र वि० ३५८) ।

४२ख द्वितीय प्रकार की धातुएं - जिनमें उपसर्ग धातुओं के साथ मिलकर एकाकार हो गए हैं ।

अप् --

औस् - सं० अप +वस् - अपवसति, प्रा० अववसइ या ओवसइ (हा० २२) ओहर् - अप+सृ - अपसरति, जै० महा० ओसरइ , माग० ओशलदि (पिशल १४६, ४७७), ओहरइ (हे०च०-४-८५) किन्तु हे०च० इसे अवतरति से मानते हैं जो अशुद्ध है, दे० ओदर् ।

अव --

ओदर् - सं० अव+तृ - अवतरति, प्रा० ओदरदि (मृच्छ० ४४ - १६), हे०च० ४ - ८५ में ओअरइ रूप भी देते हैं, किन्तु अन्य रूप अशुद्ध हैं त द में तो ठीक है, किन्तु त - ह नहीं होता, इस नियम से ओदर् - अवतरति है न कि ओहरइ - अवतरति है ।

आ--

औट् - सं० आ+वृत् - आवर्तते , प्रा० आवट्टइ (का० धा० २१०)

उद् -

उबल् - सं० उद् +ज्वल् - उज्ज्वलति , प्रा० उव्वलइ (डॉ० १३) ।
उबह् - सं० उद् +वह् - उद्वहति, प्रा० उव्वहइ (का०धा० १८), प०
च० १-१० में उव्वहंति आया है । ऊभ् - सं० उद् +भू - उद्भवति ,
प्रा० उब्भवइ (वर० ८-३) , उब्भुवइ (हे०च० ४-६०), उब्भेउ (वज्जा०
६४), तगारे (३५६) की व्युत्पत्ति अशुद्ध है ।

४३. (ख) गौणधातु:-

(i) धातुओं के वर्गीकरण के प्रसंग में यह उल्लेख किया जा चुका है कि गौण धातुएं वे मानी गई हैं जो वर्तमान काल या संस्कृतधातु के अतिरिक्त अन्य क्रियारूपों से विकसित हैं या नामधातु अथवा कृदन्तज हैं । हिन्दी की अनेक धातुएं वाच्य-परिवर्तन के कारण विकसित हुई हैं । हिन्दी में यह धातुएं कर्तृनिष्ठ हैं और कर्मवाच्य या भाववाच्य के रूपों से प्राप्त होती हैं , किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह वर्तमानकाल के ही रूपों से विकसित हुई हों । भविष्यत्काल के रूपों से भी इनका विकास हुआ है । इस परिवर्तन के फलस्वरूप इनके अर्थों में भी परिवर्तन हुआ है । वाच्य-परिवर्तन में एक अन्य स्थिति है प्रेरणार्थक भाववाच्य से विकसित धातुओं की । यह अधिकांशत: सकर्मक हैं । नीचे इन सबके उदाहरण अलग-अलग दिए जाते हैं :-

४४. वाच्य -परिवर्तन :-

अट् - सं० अट् - अट्यते , प्रा० अटइ हे०च० १ - १९५ अन्यत्र ४-२३० में परिअट्टइ आया है । खप् - सं० क्षिप - क्षिप्यते, प्रा० खप्पइ , डॉ० ३५, वले १७५ । गम् - सं० गम् - गम्यते, प्रा० गम्मइ वर० ७, ६, ८, ५८ , हे०च० ४- २४९

अन्यत्र इसके अन्य रूप गमेप्पि, गम्पिणु, गमेप्पिणु हे०च० ४-४४२, क्रम० ५, ५६ तथा गम्मिज्जइ, गम्मिहइ, गमिहिइ हे०च० ४-२४६ भी मिलते हैं, किन्तु यह दृष्टव्य है कि हिं० श०सा० में उल्लिखित होकर भी हिन्दी में यह प्रचलित धातु नहीं है, काव्य में अवश्य इसका प्रयोग हुआ है। घट् - सं० घट्ट - घट्टयते, प्रा० घट्टइ (हा० ५८), वले २१, अन्यत्र प्रा० पैं० १- ८८ तथा १-१२१ में घटइ स्पष्टत: चीणा होने के ही अर्थ में आया है। पालसुले के संस्कृत धातुपाठ पृ० ३६ तथा १७३ पर 'घट्ट' आया है, अत: इसे जे० ब्लाख की 'घृष्ट:' से व्युत्पन्न नहीं माना जा सकता। घृष्ट: का प्राकृत रूप घट्ठो है - हे०च० १-१२६। चंप्, चप्, चांप् - सं० चप् - चप्यते, प्रा० चप्पइ (हा० ६६ तथा प्लै०, हि० हि०), अन्यत्र यह चप्पिउ (पुष्पदन्त- का०धा० २२४) चांपिउ (शृंगार गत ५), चांपइ (उ०र० ४१), चांपि (का०धा० १४४) तथा चंपिज्जइ (हे०च० ४-३९५) है। छिप् - सं० क्षिप् - क्षिप्यते, प्रा० छिप्पइ (णाय० कु०च० ५-६)। छीज् - सं० छिद्- छिद्यते, प्रा० छिज्जइ (हे० च० ४ - ४३४, ड०पु० १-२), अन्यत्र छिज्जअ तथा छिज्जउ (का० धा० १५२ तथा २४४) आया है। डा० भोलाशंकर व्यास ने प्रा०पैं० १ - ३७ में छिज्जइ की व्युत्पत्ति चीयते से मानी है जो अशुद्ध है। चीयते का प्रा० में छिज्जइ की ठ मिलता है (दे० व२० ८-३७, हे०च० २-३, ४-२० तथा ४ - ४२५ में भिज्जउं रूप है), अन्यत्र भिज्झंती (विद्ध० ६६-२), चीणा का भीणा (हे०च० २-३, क्रम० २ - ८४) आया है। अत: यह सं० छिद् से ही व्युत्पन्न है। कूट्, कूट् - सं० कुट्ट - कुट्टयते, प्रा० कुट्टइ (क२०च० ६-५ - १-१०) अन्यत्र कुट्टहिं, कुटइ (का०धा० ३६० तथा ४०६), कूटइ (उ०र० ४३)। ढक्, ढंक्, ढांक् - सं० स्थग् - स्थग्यते, प्रा० ढक्कइ (हे०च० ४-२१), अन्यत्र ढक्केहि, ढक्केधि (मुञ्ज ३६-३, तथा ७६-१७), ढंकइ (म०पु० १-१३-१०), पिशल२१३, ३०६ में इसे *स्थक् धातु से व्युत्पन्न मानते हैं और उदाहरणास्वरूप, ढक्केइ, ढक्केमि, ढंकिद, ढक्कदि ढंकणी का उल्लेख किया है। दब् - सं० दम् - दम्यते, प्रा० दम्पइ, दव्वइ (हां० १२०), अन्यत्र दाविय (का० धा० ६८) आया है। दीस् - सं० दृश् - दृश्यते,

प्रा० दीसइ (हे०च० ३-१६१), अन्यत्र दीस (उ०व्य०प्र० १२ - ११, १५-३) और दीसउं (राव०ा० ४-५१) है । पच् - सं० पच् - पच्यते, प्रा० पच्चति (हा० १५२) पचइ (उ०र० ३७ । फट् - सं० स्फट् - स्फट्यते , प्रा० फट्टइ (हा० १८६), अन्यत्र फट्टाइं (जस० च० ३-२७-१०), फडइ (का०धा० ७८) आये हैं । फूट् - सं० स्फुट् - स्फुट्यते, (हा० १६३ में इसे यही मानते हैं, किन्तु यह अशुद्ध है । यह वस्तुत: स्फुटति से है , हे०च० ४- १७७, ४ - २३१, पिशल ४८८ नोट १ से ४ तक, अन्यत्र वर० ८-५३ में भी स्फुटति - फुट्टइ है और जस० च० ३-२७,१० में फुट्टाइं है, उ०र० ३८ में फूटइ प्रा० पै० २- १८३ में फुट्टइ है तथा का०धा० ८८ पर फुट्ट है । बझ् - सं० बन्ध् - बध्यते , प्रा० बज्झइ (हे०च० २-२६, ४-२४७, म०पु० ५१ - २ - १ , दो० को० पृ० ८) । बट् - सं० वट् - वट्यते, प्रा० वट्टइ (हा० २०२), वले १६२ में इसे वृत् - वर्तते, प्रा० वट्टइ वड्ढइ मानते हैं । बिक् - सं० वि+क्री - विक्रीयते (हा० २१८), प्रा० विक्कइ (वर० ८-३१, हे०च० ४-५२ तथा ४ - २४०), किन्तु पिशल ५५७ में इसके अन्य रूप विक्कीअइ (हे०च० २- २४०) को विक्रेय से व्युत्पन्न मानते हैं । अन्यत्र विक्रीणाति से विक्कइ विक्किणइ (हे०च० ४-५२) तथा वीकइ (उ०र० ४३) भी मिलते हैं । यह बाद वाले रूप हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं । भोजपुरी कीन (ना) सं० क्रीणाति से ही व्युत्पन्न है (दे० बेच् तथा कीन्) । बिलगा- सं० वि० + लग् - विलग्यते , प्रा० विलग्गइ (वर० ८-५२) , वलग्गइ (का०धा० ७०), अन्यत्र विलग्गन्तम् (मृच्छ० ३२५, १४) आया है ,रामचरित मानस में जलद पटल बिलगाइ प्रयुक्त हुआ है । भज् - सं० भंज् - भज्यते, प्रा० भज्जइ (हा० २५३), अन्यत्र भज्जंतउ (प०च० २८-२), भज्जिअ (१- १४५, हा० व्यास की व्युत्पत्ति शुद्ध नहीं है) । रच् - सं० रच् , र रच्यते (कर्तृनिष्ठ प्रयोग), प्रा० रच्चइ (रच्चसि - हे०च० ४-४२२ - १७), रचइ (उ०र० ३७) । रुच् - सं० रुच्, रुच्यते, प्रा० रुच्चइ (हा० २६४, हे०च० ४ - ३४१, पिशल १८६), रुच्चइ (म०पु० २२-६) अन्यत्र रुच्चदि (विक्र० ३१, ३, मालवि० १५-१४) मिलता है ।

४५. प्रेरणार्थक

प्रेरणार्थक धातुओं का विकास मूल धातुओं के रूप में भी हुआ है। इसके कई कारण हैं। प्रथमत: संस्कृत में ही प्रेरणार्थक रूप से मूलधातु निर्मित करने की प्रवृत्ति, जैसे - पातय से पात्य आदि (दे० अनु० ८)। दूसरे, अनेक धातुओं का प्रेरणार्थक रूप ग्रहण करने पर स्वत: सकर्मक हो जाना और कालान्तर में सकर्मक रूप में ही उनके प्रयोग का प्रचलन, यथा - सं० मृ० - मारयति, प्रा० मारेइ, हिं० मारे (दे० अनु० ६)। तीसरे, संस्कृत और पालि में प्रेरणार्थक के अनेक वैकल्पिक रूपों का प्रयोग, यथा - सं०चि - चापयामि, चपयामि, चाययामि, चययामि, पालि- कारेति, कारयति, कारापेति, कारापयति आदि (दे० प्रेरणार्थक 'णिजन्त - विकास' अनु० १०१ - १०६)। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इनमें 'अय' और 'आपय' रूप ही मुख्य हैं। अधिकांशत: 'अय >ए 'वाले रूप हिन्दी में सकर्मक और 'आपय > वावे' वाले रूप प्रेरणार्थक क्रिया की भांति विकसित हुए हैं। राइसडेविड ने अपनी पालि-इंगलिश डिक्शनरी में प्रथम और द्वितीय प्रेरणार्थक रूपों का ही उल्लेख अधिक किया है। इनमें प्रथम रूप स्पष्टत: सकर्मक अधिक हैं और द्वितीय रूप शुद्ध प्रेरणार्थक । जैसे - धुप - धूपयति, धूपायति, पुष् - पोसेति, पोसापेति, भिद् - भेदेदि, भिन्दापेति, रुह् - रोपेति, रोपापेति ।

४६. हिन्दी में, इस प्रकार, प्रेरणार्थक रूपों से, तीन क्रिया- रूपों - सकर्मक, प्रथम प्रेरणार्थक और द्वितीय प्रेरणार्थक - का विकास हुआ। यहां केवल उन रूपों पर विचार करना उद्देश्य है जो हिन्दी में मूल धातु बन गए हैं और उनके धातु रूप से हिन्दी की सामान्य धातु का विकास नहीं हुआ। उदाहरणार्थ - हार्नली, डा० चटर्जी, डा० तिवारी आदि ने सं० मारयति से प्रा० मारेइ और हिन्दी मारे का विकास दिखाते हुए हिं० 'मार्' को मूल धातु माना है, किन्तु यह मूल धातु नहीं है। वस्तुत: सं० मृ - मरति से हिं० अक० मर् और प्रथम प्रेरणार्थक मारयति से हिं० सक० मार् का विकास हुआ है। दूसरी ओर सं० रुह् - रोहति से हिन्दी में किसी धातु की प्राप्ति नहीं हुई है, वरन् इसके प्रेरणार्थक रूप

रोपयति से हिं०सक० रोप् और रोपापयति से हिं० प्रेरणार्थक रोपवा (ना) का विकास सिद्ध होता है। अत: हिं० 'रोप' मूल धातु सं० प्रेरणार्थक से ही प्राप्त है। उक्त विद्वानों द्वारा विवेचित हिन्दी की लगभग ७५ धातुओं में केवल २० धातुएं ही प्रेरणार्थक रूपों से आई हैं। हिन्दी में ऐसी कुल धातुओं की संख्या ४० से अधिक नहीं है। नीचे इनके कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं :-

उबट् - सं० उद् + वर्त् - उद्वर्तयति, पा० उव्वट्टेति।

उबर् - सं० उद्+वृ - उद्वारयति, प्रा० उव्वारेइ तथा उब्बारइ(हा० १५), अन्यत्र उव्वार (म०पु० १६-२१ - ११), उबरइ (का०धा०पृ० १२), उवरै (क०च० ६-५-१-१०) तथा उव्वरिआ (प्रा०पैं० १-२४)मिलते हैं।

उभड़् , उभर् - सं० उद् + भृ - उद्भारयति, प्रा० उब्भारेइ, उब्भारइ (हा० १५, तथा प्लैo, हि०हि०), अन्यत्र उब्भवि (का०धा०इ०- ३८४) आया है। चाल् (आटा चालने के अर्थ में, द्रष्टव्य है कि चल् धातु की भांति इसका भी हिन्दी प्रेरणार्थक रूप चलवाना ही होगा।) - सं० चल् - चालयति, पालि चालयति, प्रा० चालेइ (वले १७७), अन्यत्र चाली (दो०को० ब० ४) आया है। तान् - (दे० अनु० २७ - क)। पठा - सं० प्र० + स्था- प्रस्थापयति, पा० पट्ठापेति, प्रा० पट्ठावेइ , पट्ठवइ तथा पट्ठावइ (हे०च० ४-३७), पठावहि (पृ० रा०रा० १६८ - ३), पाठवइ (उ०र० ४४)। परोस् - सं० परि+ विष् - परिवेषयति, प्रा० परिवेसेइ, परिवेसइ (हा० १५०), परोसइ (का०धा० पृ० ८), परीसइ (उ०र० ४३)। पहिन् और पहिर् (हिन्दी की यह दोनों ही धातु एक ही अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, किन्तु दोनों का विकास दो रूपों में हुआ है) - पहिन् - सं० पि० + नह् - पिनाहयति, प्रा० पिनहावेइ, पिनहावइ (हा० १६५), हिन्दी में इसकी प्रारम्भिक रूप पिन्हाना था, किन्तु पहिराना के सादृश्य से यह भी पहिनाना बन गया। इस सम्बन्ध में हार्नलि का यह कथन कि 'न' > 'र' में परिवर्तित हो गया उचित नहीं है। पहिर् - सं० परि+ धा - परिधापयति, प्रा० परिधावइ, पहिरावेइ, अन्यत्र परिहाविय (क०च०

७-८-६), पहिरेइ (क्रा० धा० पृ० ४२४), पहिरइ (उ० र० ४२) हैं ।
पार् - सं० पृ० पारयति, पा० पारेति, प्रा० पारइ (हे० च० ४ - ८६) , पाल्
सं० पा - पालयति, प्रा० पालेइ, पालइ (हा० १७१) , पालइ (म०पु० ५१-२
अन्यत्र पालिय (क्रा०धा० पृ० ३८) । फोड़ - सं० स्फुट - स्फोटयति, प्रा०
फोडेइ (हे०च० ४, ३५०), फोडइ (उ०र० ३८) बज् - सं० वद् - वाधते ,
प्रा० वज्जइ (हे०च० ४ - ४०६, जम्बु ० च० ३ - १२), बाज्जइ (क्रा०धा०
पृ० ४००) । बट् - सं० वृत् - वर्तयति, पा० वट्टेति, प्रा० वट्टेइ , वट्टइ (रा०
हे० - पा० इं० डि०, वले - १६२) हार्नले की व्युत्पत्ति शुद्ध नहीं है ।
बिचार् - सं० वि० +. चर् - विचारयति, प्रा० विचारेइ, विचारइ(हा० २२१),
बिचारइ (उ०र० ३६) । बिला - सं० वि + लि ली - विलायति, प्रा०
विलावेइ, अन्यत्र विराइ (हे०च० ४-५६), विलाइ (योगसार ६१, क्रा०धा०
२५०) आए हैं । हार्नले (२३१) इसे 'विलापयति' रूप से व्युत्पन्न मानते हैं ,
किन्तु यह द्वितीय प्रेरणार्थक रूप है, अत: इससे व्युत्पन्न मानना संगत नहीं है ।
इस सम्बन्ध में पिशल द्वारा विवेचित * विल् धातु भी द्रष्टव्य है (प्रा०भा०व्या०
१०६) । बोध् - सं० बुध् - बोधयति , प्रा० बोधेति , बोधइ (हा० २४६)
मान् - सं० मन् - मानयति , प्रा० माणइ (हे०च० १-२२८), मानेइ, मानइ
(हा० २७७) , इस सम्बन्ध में वले (१८७) , टर्नर (नै०डि०) तथा डा०
भोलाशंकर व्यास (प्रा०पैं० १ - १७१, २-१५६ की टीका) की व्युत्पत्तियां
अशुद्ध हैं । मोड़् - सं० मुड़् - मोड़यति , प्रा० मोड़इ (क्रा०धा० पृ० ६४, उ०व्य०
प्र० ५१ -२१) । रांध् - सं० रध् - रन्धयति, पा० रन्धेति, प्रा० रंधइ,
रांधइ (क्रा०धा० पृ० ४०८ , हा० २६२, प्लै० हिं०डि०) । वार् - सं० वृ-
वारयति , पा० वारेइ , प्रा० वारेइ, वारइ । संघार् , संहार् - सं० सम् +
हृ - संहारयति, पा० संहारेति, प्रा० संहारेइ , संघारेइ , संहारइ, संघारइ ,
(इस सम्बन्ध में देखिए - हे०च० १-२६८, पिशल १५८, २६७, प्रा० पैं० १-२०७
२-१४, २-४६) । संवार - सं० सम् + वृ - संवारयति, प्रा० संवारेइ, संवारइ

(हा० ३३३, प्लै० हि०हि०), समारुइ (उ०र० ४०) । सता - सं० सम्+तप् - सन्तापयति, पा० संतापेति, प्रा० संतावेइ, संताव (पिशल २७५) सतावइ (पा० दो० ६४ किन्तु १७८ में संतविज्जइ भी आया है), सतावउ (ह०पु० - १- २) । सांस् - सं०, भ्रंश् - भ्रंसयति, पा० संसेइ, प्रा० संसेइ , संससइ (हा० ३३६) । साध् - सं० साध् - साधयति, प्रा० साधेइ (हा०३३६) , (उ०र० ३८ में साधइ का संस्कृत रूप साध्नोति दिया है, जो शुद्ध नहीं प्रतीत होता, हार्नले की व्युत्पत्ति ठीक है) । सुधार् - सं० सु + धृ - सुधारयति, प्रा० सुधारेइ, सुधारइ (हा० ३४६ , प्लै०, हि० हि०) । सोध् - सं शुध् - शोधयति, पा० सोधेति, प्रा० सोधइ । सैंद् - सं० स्यन्द् - स्यन्दयति, पा० सैंदति, प्रा० सैंदइ (हा० ३५३ , ३२६ तथा कं० ग्रा० १४३, १४६) । सौंप् - सम् + अर्प - समर्पयति , प्रा० समप्पेइ, समप्पइ (हा० ३५७, प्लै०,हि० हि०), अन्यत्र समप्पिउ (रिट्ठ० च० १- २ , का० धा० २४) आया है । हूल् - सं० हुड् - हूडयति, प्रा० हूलद्, हुलइ (का० धा० ड० २१०,२३६), इस सम्बन्ध में हे०च० ४ - १४३ का उल्लेख करते हुए पिशल ने (३५४) में इसे *भुलइ से सम्बद्ध किया है और जो अशुद्ध प्रतीत होता है । हार्नले (३६८) की यह व्युत्पत्ति ठीक है और तुलना के लिए वैदिक हीड् तथा हेल (- शत्रुता करना) और पालि हीळेति (दे० पा० इं०हि० - रा० हे०) भी देखे जा सकते हैं । यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राय: सभी भाषाविदों द्वारा विवेचित हिन्दी धातुओं को, जिनका यहाँ उल्लेख नहीं है, प्रेरणार्थक रूप से विकसित नहीं माना जा सकता ।

II नामधातु -

४७ जब धातु से भिन्न अन्य शब्दों में क्रिया के प्रत्यय जोड़ कर तो उन्हें नामधातु कहते हैं । अत: नामधातु और मूल धातु में प्रमुख अन्तर व्याकरण का है । विकास की दृष्टि से संस्कृत की सभी नामधातुएं हैसी हिन्दी में नामधातु के ही रूप में नहीं मिलतीं, उनका विकास मूल धातुओं के रूप

में भी हुआ है । संस्कृत की कुछ नामधातुएं ऐसी भी हैं जिनके 'नाम' और 'धातु' दोनों ही रूप हिन्दी में भी प्राप्त होते हैं, जैसे - सं० आलस्य, प्रा० अलसाअइ, अलसाअन्ति (हाल) । सं० शुष्क, प्रा० सुक्कहिं (है०च० ४ - ४२७ - १), हिन्दी सूख (ना) । सं० दुःख , प्रा० दुक्खामि (रावण ० ११ - १२७), जै० महा० में प्रेरणार्थक रूप दुक्खावेइ मिलता है, हिं० दुख, दुखना, दुखाना, आदि । इस प्रकार प्राचीन युग से ही 'नाम' और 'धातु' रूपों के निरन्तर समानान्तर चलते रहने के कारण कुछ विद्वानों ने इन्हें हिन्दी की नामधातु कहा है, लेकिन यह परम्परागत हैं और इस भ्रम का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि इनके 'नाम' और 'धातु' रूपों में ध्वन्यात्मक अन्तर अधिक नहीं हुआ । दूसरी ओर कुछ संज्ञा और विशेषण - सम्बद्ध नामधातु , विशेषतः भूतकालिक कृदन्तों से विकसित नामधातुओं में ध्वन्यात्मक परिवर्तन इतना अधिक हुआ कि उनके मूल रूप पहचानना भी कठिन हो गया । फलतः इन्हें ही मूल-धातु कहा गया । किन्तु विकास-परम्परा और प्रयोग की दृष्टि से इन सबको मूल धातु मानना ही समीचीन होगा । साधारणतः मूलधातुओं के इन रूपों को स्रोत की दृष्टि से दो विभागों में रख सकते हैं — (१) शुद्धनाम धातु से विकसित - संज्ञा-विशेषण-सम्बद्ध (२) कृदन्तज — इनके कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :-

४८. (१) शुद्धनामधातु से विकसित :-

संज्ञा- विशेषण-सम्बद्ध :-

अथा - सं० अस्त , महा० अत्थाअइ, अत्थाअन्ति , अत्थमइ (रावण०, गउड०) अत्थविउ (प०च० २८- ३) गड़् , गाड़् - सं० गर्त , प्रा० गड्ड (वर० ३ - २५), गड्डइ, गड्डेइ (हा० , सान्याल- बि०भा०उ० - ७१) । घिना - सं० घृणा, प्रा० घिण (हे०च० १-१२८, ४-३५०, ३६७), घिणावेइ (हा०) । चीर् - सं० चीर- चीरयति, प्रा० चीरेइ, चीरइ (हा०) ।

चीत् - सं० चित्र - चित्रयति, प्रा० चित्तेइ, चित्तइ (हा०) । चीन्, चीन्ह्- सं०चिह्न् - चिह्नयति, प्रा० चिन्ह (वर० ३ - ३४, हे०च० २- ५०, मार्क० पन्ना २५ , पाइय० ६८, ११४, विवाह० ४६८ , मृच्छ १५६,२३, विक्रमो० ५८, ११), चिण्ण (क्रम० २, ११७), जे०महा० में चिह्नित के लिये चिन्धिय आया है और भामह ने १,१२ में चिन्ध , चेन्ध रूप दिया है, हार्नले प्रा० चि० हेइ, चिण्हइ रूपों का उल्लेख करते हैं । चुरा, चोरा (ना) - सं० चोर, प्रा० चोरावेइ, चोरावइ (हा० उ०ना०लि०), उ०र० ३६ में चोरइ , चोर-यति दिया है । छल- सं० छल, छलयति, छल (प्रा० पैं० २-२०७) छलि, छलिय (प्रा० पैं० २।२१५), प्रा० छलेइ, छलइ (हा०) । छींक् - सं० छिक्का - छिक्कण, छिक्कयति, प्रा० छिक्केइ, छिक्कइ । छिक्क रूप को देशी० ३ , ३६ में भी दिया है और अर्धमा० छीय, जो हे०च० १ - ११२ , २, १७ में छीयं है, उसे पिशल १२४ में हेमचन्द्र के क्षुत से व्युत्पन्न नहीं मानते । पुष्पदन्त ने छिंक का प्रयोग किया है (का०धा० २३८) । छेद् - सं० छिद्र, प्रा० छिद्द (हाल) , जे०महा० छिड्ड (पिशल २६४), हार्नले की विज्ञप्ति से इसकी व्युत्पत्ति अशुद्ध है । इसी प्रकार हार्नले और डा० उदयनारायण तिवारी की छेद(ना) मूल धातु के रूप में ही विकसित है - संस्कृत छिद्र से नहीं ।

इस सम्बन्ध में पालसुले अपने धातुपाठ पृ० १७१ पर कर्ण भेदने छिद्र और कर्ण भेदे छिद्र् धातुओं का उल्लेख करते हैं । अन्यत्र सं० छिद्रित , प्रा० छिद्दिअ (गउड०) तथा छेदयति , छेदइ (उ०र० ४२) आये हैं । जंभा (ना), जम्हा (ना) - सं० जृम्भा , प्रा० जम्भा , जम्भाइ, जम्भाअइ (हे०च०, ४-१५७, ४ -२४०) जम् - सं० जन्म , प्रा० जम्मइ (हे०च० ४ - १३६ , का० धा० १७८), अन्यत्र सं० जन्मन् प्रा० जम्मण है (हे०च० २ - १७४, पा०दो० ७६ , १६४) , जुगा (ना) - सं० युग्म , प्रा० जुग्ग (भामह ३, ३, हे०च० २-६२, क्रम० २-५१ , विवाह २५५) - जुग्गावेइ , जुग्गावइ (हा०) ।

४६. (२) कृदन्तज

उग - सं० उद् - गत , प्रा० उग्गश्र , उग्गु उग्गउ (जस० च० पृ २५) , उग्गमियई (म०पु० २८ - ३४-१-७), उग्गिवि (सुदं० च० ५-८) द्रष्टव्य है कि श्रवधी उश्रब (- उगना) का विकास उदेति, प्रा० उएइ (सुय० ४६०) के रूप में हुआ है, अन्यत्र यह उएउ (श्रायार० २- ४-१-१२), उवइ (सुरह० का०धा० १४) है और है०च० ४-३३ का उग्गइ सं० उद्घाटयति से न होकर उद्गत से है। श्रौढ़ - सं० उप+वेष्ट - उपवेष्टते, उपवेष्टति, प्रा० उव्वेढेज्ज हार्नले ने *श्रावेड्ढइ रूप का उल्लेख करते हुए है०च० ४ - २२१ का संकेत किया है। प्रा० में वस्तुत: आवेढिश्र (हाल) और आवेढिय (ठाणांग० ५६८, नायाध० १२६५, पण्णाव ४३६, विवाह ७०६), और वेढिश्र वेष्टते से, जिसे रा० है० विष्ट्, वेष्ट (पा०इं०हि० श्र मानते हैं, पाली वेठेति, प्रा० वेढइ (वर० ८,४०, है०च० ४-२२१, क्रम० ४-६७) रूप मिलते हैं। वेष्ट किसी धातुपाठ में नहीं है , पालसुले ने विष्ट धातु का उल्लेख किया है जो बोहतलिंक और ह्विटनी के 'स्टुस' के आधार पर है, जो निश्चित रूप से संस्कृत मूलधातु नहीं है (पालसुले धातु १२६) । अत: इसे सं० विश् से वेष्ट मानना ही संगत है। उखड़, कढ़ , काढ़[१] - सं० कृष् भू०का०कृ० कृष्ट , द्रष्टव्य है कि इस सम्बन्ध में तीन मत हैं - (१) हेमचन्द्र कर्षामि से कड्ढमि आदेश मानते हैं (४-१८७, ४ - ३८५) । इस मत को पिशल ४५४ , भो०शं० व्यास (प्रा० पैं० १।२०५ की टीका), रा०है० (पा०इं०हि०) तथा ब्लूम फील्ड (जे०ए०ओ० एस० ३४ - १६२१, पृ० ४६५) मानते हैं। (२) लुई एच० ग्रे ने जे०ए०ओ०एस० ६०, १६४० में पिशल, जे ब्लाख टर्नर, गाइगर आदि द्वारा विवेचित रूपों की समीक्षा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि यह कर्षति, कृष्ट से व्युत्पन्न नहीं है, क्योंकि - ट्ठ - प्राकृत में 7 ड्ढ - नहीं हो सकता। अत: कड्ढइ और चड्ढइ मूल भारोपीय*क्वेल- सींचना अथवा* केल - ऊंचा होना, ऊंचा करना, से* केल्दे , * केल्धे और *कल्धे रूप में विकसित हुआ है। डा० वले पृ० १७४ और डा० तगारे (हि०ग्रा० अप० पृ० ३६६) में यही स्वीकार करते हैं। डा० तगारे ने प्रा०भा० आ० का *कर्ध रूप भी दिया है। (३) तीसरा मत है सं० भू०का० कृ० कृष्ट>पा० कड्ढति,

प्रा० कड्ढइ । यह मत विशेषत: जे० ब्लाख् हार्नले, डा० चटर्जी, डा०तिवारी आदि विद्वान स्वीकार करते हैं । यहाँ यह पुन: विचारणीय है और पहली व्युत्पत्ति का कोई वैज्ञानिक आधार न होने से मान्य नहीं है । तीसरे मत को अप्रमाणित छोड़ा गया है और दूसरा मत आनुमानिक है और तीसरे मत के विरोध में लिखा गया है । अत: दूसरे, तीसरे की परीक्षा कर लेनी चाहिए । ग्रे महोदय ने (- ट्ठ् - का परिवर्तन 7 ड्ढ् - में संभव नहीं है) दृष्ट से कड्ढ नहीं माना । लेकिन यह संभव है । ऊपर सं० वेष्टते, प्रा० वेठति और प्रा० वेढेइ, वेढइ दिया जा चुका है । इसी प्रकार सं० पठ् , हिन्दी पढ् , सं० क्वथति, पा० कठति (रा०डे० - पा०इं० डि०), प्रा० कढइ (वर० ८, ३६ , हे०च० ४ - ११६, २२० , क्रम० ४-४६ ,कर्पूर० ४० - २ में कढिअ) , सं० चिपिट , अ०माग० चिमिढ् (नायाध ७५१, टीका में चिमिट्ठ रूप है) , सं० शकट, प्रा० सअढ (वर० २,२१, हे०च० १,१६६, क्रम० २-११, मार्क० पन्ना १६), अन्यत्र अ०माग० में यह सगड है (आयार० २,३,२,१६,सूय० ३५०), शौर० में सअडिआ< शकटिका (मृच्छ० ६४-१५), माग० में शअड (मृच्छ० १२२, १०) है । सं० सटा, प्रा० सढा (वर० २ - २१, हे०च० १-१६६, क्रम० २ - ११, मार्क०पन्ना० १६) । सं० वट, प्रा० वढ (हे०च० २ - १७४ , त्रिवि० १,३, १०५) । इनके अतिरिक्त पा० उपकड्ढति, निक्कढति, संकड्ढति (पा०इं०डि०), प्रा० में - ठ - का - ढ - हो जाता है - पिठर 7 पिढर (हे०च० १-२०१) अ०माग० में पिढरग (आयार० २, १, ११, ५) है, कठिन 7 कढिणा, कमठ 7 कमढ, पीठ7पीढ, हठ,7 हढ, जरठ 7 जरढ (दे० गउड०, हाल) । प्रा० में - ष्ट - का 7ट्ठ और ड्ढ् अथवा 7 ढ - भी हो जाता है — (दे० - वर० ३-१०, ५१, चण्ड ३-८, ११, हे०च० २-३४, ६०, क्रम० २-८६, ४६, मार्क० पन्ना २१, १६) - दंष्ट्रा - अ०माग० और शौर० में दाढा (वर० ४-३३ , चण्ड ३-११, हे०च० २-१३६, क्रम० २ - ११७, मालती० २५१ - ५ , चण्डकौ० १७-८) किन्तु दंष्ट्रिन् - दाढी बन गया है (वेणी० २४-७)कुष्ठ>कुट्ठ, कोट्ठ, कोड्ढ,कोढ, कोढि, कोढिय (नायाध० १०४६, १०४७, ११७७, उवास०

१४८ , विवाग ० ३३, ३४, आयार० २,४,२, १, १, ६, १ ,३ प०डा०
५२३) । लौष्ट - लौढ (वस० ६२०, १४, पव० ३८६ - १०) और मृच्छ० ८०-५
में लौट्ठक भी आया है, अन्यत्र श्लिष्ट>सेढि - (सीढ़ी) है - (दे० प०डा०
२७१ - ७२, उत्तर० ८२६ , ८८२ , ढाणंग० ४६६, विवाह ४१०, ४८१) ।
इन रूपों - परिवर्तनों से यह सिद्ध हो जाता है कि - ष्ट > का ट्ठ > ड्ढ >
ढ होना नई बात नहीं है और कृष्ट से ही कड्ढ की व्युत्पत्ति हुई है और हिन्दी
उखाड़ भी पा० उपकड्ढति (पा० इं०हि०) , प्रा० उक्कड्ढइ है (दे०हे०च०
४-१८७ तथा हा० - क०ग्रा० १३२ और १४८) । काढ़[2] - सं० क्वथ् - क्वथति,
पा० कठति, प्रा० कढइ । घिसट् - सं० घर्ष +वृत्त (उ० ना० ति०) न होकर
सं० घर्षित से व्युत्पन्न है (दे० घिस्, घस) । चिढ़ - सं० चिप्त , प्रा०
छिहावइ (हा०) । छान - सं० स्यन्न प्रा० छन्नेइ, छन्नइ (हा०) । छीन्
- सं० छिद् , छिन्न , पा० छिन्न , प्रा० छिन्नेइ (हा०) । छींट् - सं०
चिप्त से विकसित है, स्पृष्ट से नहीं (हा० ४१, ४५, ४६) , हिन्दी
छींट् और छींटा भी इसी से व्युत्पन्न है । जता - सं० ज्ञात (दे० अनु० ५)
- प्रा० जत्तावेइ , जत्तावइ (हा० ५२ - यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस धातु
की प्रकृति प्रेरणार्थक धातु की प्रकृति है, फलन की व्युत्पत्ति शुद्ध नहीं है) ।
जीत - सं० जि - जित, प्रा० जिणइ (का० धा० २०२) , जित - सत्तु
(- जित शत्रु - हरि० पु० ८६-१६- ६) , जित्ति (- जीतकार - कीर्ति०
अव ४-२५४) । जोत - सं० योक्त्रम् , योक्त्रयति, प्रा० जोत्त, जोत्तेइ, जोत्तइ
(हा०, उ०ना०हि०) । नाध् - सं० नह् - नद्ध , पा० नन्धति (पा०इं० हि०) ।
पका - सं० पक्व , प्रा० पाकहि (पा०दो० ११६) , पकावउं (प्रा०पैं० १-
१३०) इसके लिये पिशल ४५५ में पक्वा*पयामि < पचामि रूप की कल्पना करते
हैं, अन्यत्र पक्कओ (का०धा० ४२०)हे०च० पक्क ४ - ३४०, पक्का - २ - १२६
रूप भी देते हैं । पैठ् - सं० प्र०विश् - प्रविष्ट, प्रा० पइट्ठ, पइट्ठउ, पइट्ठि
(हे०च० ४।३४०, ३३०, ३३२, ३३३, ४४४) , पइट्ठा (रिट्ठ०च० २८-५),
पइट्ठ (पा० दो० १५८) , पविट्ठो (का०धा० ४) - पइट्ठउ (उ०र०४६-२),
पइठे , पैठि, (कीर्ति० अव० २-३६, २- ६६) । बैठ् - सं० उप-विश् - उपविष्ट:

प्रा० बइट्टउ (हे०च० ४-४४४), बइट्टो, बइट्, बइट्ठी (रा०दो०को०),
वइट्ठे (कीर्ति० श्व० २ - २२१) ।

(iii) विशिष्ट - प्रत्यय युक्त

५०. संस्कृत युग में नामधातु बनाने के लिए शब्दों में कृ, भू, वृ धातुओं को संयुक्त करने की प्रथा प्रचलित हो गई थी । प्राकृत और अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति अधिक तीव्र हो गई थी । फलत: हिन्दी में इस प्रकार की जो नई क्रियायें विकसित होकर आईं उनकी धातुओं में कुछ नवीन प्रत्यय स्वीकार किए गए । यह प्रक्रिया अन्य भा० आ०भाषाओं में भी प्राप्त होती है । डा० चटर्जी[१] और डा० तिवारी[२] ने जिन प्रत्ययों (क, ट, ड, र, ल, स, च,) का उल्लेख किया है उनमें 'कृ' धातु के घिसे हुए रूप - क - और -कार - तथा 'वृ' के 'वृत' से विकसित 'ट, ड, र, ल, रूप विकसित हुए । 'कृ' धातु की व्यापकता के कारण हिन्दी में - क - और -कार - प्रत्ययान्त धातुएं सबसे अधिक हैं । किन्तु अन्य प्रत्ययों की स्थिति अधिक विचारणीय है और डा० चटर्जी और डा० तिवारी की सूची में अनेक धातुओं को प्रत्ययान्त नहीं मान सकते । जैसे - घिसट् में - ट - प्रत्यय नहीं है (दे० अनु० ३८) और बोलियों में 'टहर' और हिन्दी का 'टहल' केवल ध्वन्यात्मक भेद उपस्थित करते हैं । इसी प्रकार 'झगड़, पिछड़, पछाड़, पकड़' धातुओं में 'ड़' की स्थिति संदिग्ध है । 'झगड़' को डा० तिवारी ने म०भा०आ० झग + ड माना है, किन्तु दोहाकोष में यह जग्गड है और के० अमृत रो, डा० कटैल तथा शिव-शेखर मिश्र के अनुसार यह शुद्ध द्रविड शब्द है - कनाड़ी- जग्गळ, तैलुगु- जगडमु इसी प्रकार हिं० पिछड़, पछाड़ को सं० पश्चात् - प्रा० पच्छा + ड़ माना गया है , जबकि यह दोनों धातुएं भिन्न स्रोतों से विकसित हैं । सं० पश्चात्

---

१. वै०लै० ६९६
२. हिं०भा० उद्०वि० - पृ० ४८८

का त्- ट् होकर - ड् - हुआ है और 'पछाड़' की व्युत्पत्ति सं० प्रक्षालयति - प्रा० पच्छाडेइ । से हुई है । हिन्दी 'धोबिया पछाड़' इसी से सम्बद्ध है । हिन्दी 'पकड़' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है । डा० तिवारी इसे म०भा०आ० *पक्क -ड मानते हैं, डा० वले म०भा० आ०*पकडु , *पकड्ढ , पक्क, सं० पर्क अथवा पृक्ण से और प्लैट्स तथा श्यामसुन्दर दास के कोषों में इसे क्रमश: सं० प्रकृष्ट और प्रकृष्ठ से व्युत्पन्न माना है । अन्य प्रत्ययों में - र - प्रत्यय व में -कार - वाला रूप भी सम्मिलित किया गया है । इस रूप में 'पुकार, हंकार' को प्रा० पुक्कारेइ, पोक्कारेइ और हक्कारेइ से व्युत्पन्न मानना पड़ेगा । हिन्दी 'ठहर' सं० स्थिर से विकसित है ।

हिन्दी में परम्परया निम्नलिखित प्रत्यय प्राप्त होते हैं -

(१) - क - (सं० कृ) - अटक - सं० अट + कृ - प्रा० अट्ट , अडक्ख । कुक- कु+कृ - सं० कुक्यति, प्रा० कुक्कइ, कोक्कइ (पि० १८६), अप० कुक्करंति (का०धा० १८६) । खनक - सं० क्वण्+कृ - प्रा० खणक्केइ । घुड़क - सं० घुर्+ कृ - प्रा० घुडुक्कइ (का०धा० ३६२) । झनक - सं० झणत् +कृ - प्रा० झणक्कइ, झणक्केइ । तड़क - सं० तड् +कृ - प्रा० तडक्केइ , अप० तड- क्कि (का०धा० ३६६) , हे०च० में तडत्ति (४-३५२) और तडत्ति करि (४-३५७ भी आया है । धमक - सं० धम् +कृ - प्रा० धमक्कइ, धमक्केइ आदि ।

(२) - कार - (सं० कृ- कार) - झंकार - सं० झण या झणत्+कार - प्रा० झंकारेइ, झंकारउ (का०धा० ५२) । टंकार - सं० टंकार, प्रा० टंकार । फुंकार - सं० फत्कार - प्रा० फुंकारेइ । इसी प्रकार अपभ्रंश में केक्कारंत, फेक्कारइं, धिक्कारहो, आदि रूप प्राप्त होते हैं । हिन्दी में ललकार, हुलकार, पुकार, हंकार आदि धातुएं इसी प्रत्यय से संयुक्त हैं ।

(३) - ट- (सं० वृ० - म० भा०आ० वट्ट) - चपट, चिपट, चपेट- प्रा० चप्प +वट्ट- अन्यत्र चप्पेड (इ०पु० ८६-१२) है झपट्- सं० झम्प+ वृत - प्रा० झम्पट्ट । डपट् - सं० दर्प +वृत ।

(४) - ड़ - (सं० वृ - म०भा० आ० वट्ट - ड -) - इस प्रत्यय से युक्त धातुएं - ट - प्रत्ययान्त की भांति एक दर्जन से अधिक नहीं हैं और इनका विकास बहुत बाद का है । हिन्दी की खेदना से खदेड़ना, घुसना से घुसेड़ना, बजना से बजड़ना और लताड़ना आदि धातुओं में यह स्पष्टत: दृष्टिगत होता है ।

(५) -र-ल — -र- या - ल - परस्पर परिवर्तनीय ध्वनियां हैं और विकास की दृष्टि से - र - अन्तवाली धातुओं में ध्वन्यात्मक धातुओं की संख्या -क- प्रत्ययान्त धातुओं के बाद है । ल- युक्त धातुरूप वस्तुत: प्रेरणार्थक रूपों में ही अधिक मिलते हैं अथवा शुद्ध नामधातु हैं - जैसे - धुंधलाना, झुठलाना, मचलना, झुंझलाना, फुसलाना, बहलाना, नहलाना, कहलाना आदि । - र - युक्त धातुओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —बहर, कहर, झहर, थहर, फहर, भहर, हहर या दुहरा, तिहरा अथवा बकना से बकरना (बोली) ।

(ग) संस्कृतेतर धातु :-

५१. भारतीय आर्य भाषाओं में आर्येतर प्रभाव वैदिक युग[१] से ही प्राप्त

---

१. (क) प्रो० जार्ल कारपेन्टियर -' द मीनिंइ० एण्ड एटीमोलाजी आवे पूजा- इंडियन एंटिक्वेरी, वाल्यूम ५६

(ख) जान एवरी -'आन द एन्फुलुएंस आवे द एबारिजिनल ट्राइब्स अपान द आर्यन स्पीच आवे इंडिया-जे०ए०ओ०एस०-१८७६, पृ० १३२-३३

(ग) जोजेफ एडकिन्स -'आन द एंशिएंट चाइनीज़ एण्ड इट्स कनेक्शन विद द आर्यन लैंग्वेजेज़' - जे०ए०ओ०एस०-१८६८

(घ) शिवशेखर मिश्र- भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश- पृ० ५५

होता है । विकास क्रम से प्राप्त हिन्दी की अनेक धातुएं मूलत: द्रविड-स्रोत की हैं और कुछ विदेशी हैं । द्रविड़-प्रभाव का समय निश्चित करना संभव नहीं है, किन्तु प्राकृत काल[१] में यह प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक मिलता है । प्राकृत वैयाकरणों ने ऐसे शब्दों अथवा धातुओं को 'देशी'[२] नाम दिया था, लेकिन अब इन्हें देशी नाम देना उचित नहीं प्रतीत होता । हिन्दी धातुओं की बहुत बड़ी संख्या ऐसी है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध करना संभव नहीं है । इनमें बहुत सी धातुओं के पूर्व रूप प्राकृत-अपभ्रंश में मिल जाते हैं और कुछ का सम्बन्ध द्रविड़[३] या विदेशी भाषाओं से संयुक्त किया जा सकता है । वाडिंग[४] महोदय ध्वन्यात्मक क्रियाओं को और डा० चटर्जी[५] अनुकरणामूलक धातुओं को कोल भाषाओं से प्रभावित मानते हैं । हिन्दी में ऐसी धातुओं को कुछ विद्वानों ने बौद्ध विकृत संस्कृत अथवा देशी प्राकृत से संस्कृत में गृहीत माना है और हिन्दी की संयुक्त क्रियाओं का सम्बन्ध कन्नड़[७] की प्रकृति से जोड़ने का प्रयत्न

---

१. के० अमृत रौ - 'द ड्राविडियन इलीमेन्ट इन प्राकृत' - इंडियन एंटिक्वैरी - वाल्यूम ४६

२. (क) डा० सरयुप्रसाद अग्रवाल - प्राकृत विमर्श, पृ० ६५

(ख) डा० तिवारी - हिं०भा० उद्०वि० - पृ० ४६०

३. डा० चटर्जी - वै०लै० - ६३१

४. पी०ओ० वाडिंग - मैटीरियल्स फ़ार ए सन्ताली ग्रामर - पृ० ३१- ३२

५. डा० चटर्जी - बैं०लै० ८१ ई०

६. डा० हेमचन्द्र जोशी का लेख —

सरस्वती - जनवरी १९६१, पृ० १२-१३ और

नवम्बर,१९६०, पृ० ३०६-१०

७. नागप्पा - हिन्दी एवं कन्नड भाषाओं की क्रियाएं - हिन्दी अनुशीलन - वर्ष १०, अंक १, पृ० ३१-३४

किया है, जो विचारणीय है । इनके अतिरिक्त पूर्व वैदिक और पूर्व-द्रविड[1] भाषाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान की स्थिति पर विचार करते हुए आर्येतर प्रभाव को सिद्ध किया जा चुका है । लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी की यह धातुएं प्राकृत-अपभ्रंश के उत्तराधिकार रूप में ही प्राप्त हुई हैं । इस प्रकार हिन्दी के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण रूप से विचार करने पर निम्न-लिखित तथ्य सामने आते हैं - (१) यह प्रभाव और शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति आधुनिक नहीं है, (२) इनके प्रभाव और प्रवेश का कोई निश्चित समय नहीं है, (३) हिन्दी की ऐसी धातुओं का प्रवेश हिन्दी युग से पूर्व प्राकृतादि भाषाओं में हो चुका था और यह परम्परागत धातुएं हैं । नीचे इस प्रकार की कुछ आर्येतर स्रोत से प्राप्त धातुओं को प्रस्तुत किया जाता है :--

कूटना -- कट्टो (नहाली), कोट्टो - मारना , कुट्टोव (मुंडा), कोट्ट((तमिल, मलयालम, कन्नड़) । कूदना - सं० कूर्द् , कूद (तमिल) । खेदना - खेद (कोर्कू), खेःट् - हांकना (पूर्वी बंगाल) । गुटकना घूंटना - गुट्टक (कन्नड़ , तेलुगु) । छेकना - छेकि - (नहाली, मुंडा), जीमना - (मुंडा) । झगड़ना - जग्गळ (कन्नड़), जगडमु (तेलुगु) । फुलना - फुरि (मुंडा, नहाली) । डालना, ढालना-डैलेन (मुंडा, नहाली) । बिलाना - बिल (मुंडा), मिलाओ - सं० विलीन । बूड़ना, डूबना, थुरना, लड़ना , इसी प्रकार की द्रविड उत्पत्ति से प्राप्त धातुएं हैं । मुड़ना, मोड़ना- मुलु - गुलुगुलु (कम्बोडी, आग्नेय) - हिं, गोलमोल, मुर, मुरक । मूड़ना - सं० मुण्ड - मुंड (मुण्डा) । ब्याना, हिलना, ऐंड़ना, इसी प्रकार की धातुएं हैं । हिन्दी और गुज० एडी के पूर्व रूप तमिल, मलया-लम, कन्नड़ में अड़ि - पैर और तेलुगु में अड्गु रूप में मिलते हैं ।

---

१. प्रबोधचन्द्र बागची - प्रि० आर्यन एण्ड प्रिड्राविडियन इन इंडिया ।

बोलियों में अटकने के लिए अढुक् धातु मिलती है ।

विदेशी

५२. हिन्दी में विदेशी भाषाओं की धातुओं, संज्ञा एवं विशेषण शब्दों को बहुत बड़ी संख्या में ग्रहण किया गया है । इनमें मूल धातु और नामधातु दोनों ही हैं । सामान्यत: सिकन्दर के आक्रमण और चन्द्रगुप्त मौर्य[१] के सम्बन्धों से विदेशी - शब्दों के भारत-प्रवेश की निश्चितता आरम्भ होती है । प्राकृत-वैयाकरणों द्वारा निर्दिशित अनेक 'देशी'[२] शब्द वस्तुत: विदेशी हैं । आ०भा०आ० भाषाओं में विदेशी शब्दों का प्रवेश इस्लाम के भारत- प्रवेश[३] से माना जाता है । यही कारण है कि फ़ारसी शब्दों को महत्त्व, व्यापकता और युग-विस्तार की दृष्टि से सभी विद्वानों ने प्रथम[४] स्थान दिया है । एशिया की भाषाओं में अधिकांशत: फ़ारसी और फ़ारसी के माध्यम से[५] अरबी, तुर्की और पश्तो आदि के शब्द प्रचलित हुए हैं । यूरोपीय भाषाओं में अंग्रेजी, पुर्तगाली भाषाओं के शब्द प्रमुख हैं, अन्य भाषाओं के शब्द अंग्रेजी के माध्यम[६] से आए हैं ।

५३. अंग्रेज़ी, फ्रेन्च और पुर्तगाली भाषाओं की एक भी क्रिया हिन्दी में नहीं मिलती । शब्दों से नामधातु अवश्य बनाये गए हैं । डच भाषा के

---

१. डा० रामकुमार वर्मा - कौमुदी महोत्सव, पृ० ३
२. स०प्र० अग्रवाल- प्रा०वि०, पृ० ६५
३. धीरेन्द्र वर्मा - हि०भा०इति०, भूमिका, पृ० ७१
४. वही, पृ० ७१- ७२
५. (क) वही, पृ० ७२
   (ख) चटर्जी, बै०लै० ६२७
६. धीरेन्द्र वर्मा, वही, - पृ० ७५ - का फुटनोट
७. ब

'तुरुप' शब्द से 'तुरुपना' इसी प्रकार की नामधातु है। चटर्जी महोदय ने अंग्रेजी शब्दों के प्रयोगों को नामधातु[1] माना है, लेकिन वे पूर्णतः नाम धातु नहीं हैं। इनका प्रयोग हिन्दी में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार संस्कृत के संज्ञा और क्रिया-विशेष्य पदों अथवा विशेषणों का होता है। इन शब्दों के साथ भी प्रधानतया 'कर' 'दे' और 'हो' क्रियाओं का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है जैसे - अर्न करना, एग्री करना, हेल्थ होना, ~~स्न~~ शूट करना, शेव करना आदि। फारसी आदि भाषाओं से आगत धातुओं का निश्चित प्रायः १००० ई०[2] के लगभग पंजाब में प्रारम्भ हो गया था। पृथ्वीराज रासो में ५०० से अधिक फारसी शब्दों का प्रयोग मिलता है, लेकिन क्रियाएं कुल ७५ से अधिक नहीं हैं। फारसी-अरबी आदि से हिन्दी में दो प्रकार की धातुएं निर्मित या ग्रहण की गई - (१) फारसी-अरबी मूलधातु से हिन्दी मूलधातु (२) फारसी-अरबी-शब्द हिन्दी नामधातु या मूलधातु। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दोनों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं -

अमेज - आमेज़न। आज़मा - आज़माइश। कफ़ना - कफ़न। कलम- क़लम। कबूल - क़ुबूल। कोक - कोक। खरच - ख़र्च। खराद- खर्रात। खरीद-ख़रीदन। गंदला- गंद:। गड़का- गर्क़। गरदान- गरदान। गरमा, गर्मा- गर्म। गांजना - गंज। गुंगुआ - गुंग। गुज़र, गुज़ार- गुज़र। गुदरान- गुजरान। गुर्रा- गुर्रीदन। जंगद - जुगंद। जफील - ज़फ़ीर। ज़िदिया - ज़िद। तराश-तराश। तलाश - तलाश। तहसील : तहसील। तहा, तहिया- तह। तुर्शा- तुर्श। दफ़ना - दफ़्न। दरगुजर - दरगुजर। दाग, दग-

---

1. बे०लै० - ६२७
2. धीरेन्द्र वर्मा - हि० भा० इति०, भूमिका, पृ० ७१

दाग़ । नक़ाश - नक़्क़ाशी । नज्क़िा (बोली) - नज़दीक़ । नवाज - नवाज । निगंद - निगंद: । पलान - पालान । पेच - पेच । फ़रमा - फ़रमान, फ़रमाइश । बकस, बख़्श - बख़्श । बख़िया - बख़िया । बगलिया (बो०) - बगल बदल - बद्ल । बरगला - वरग़लानी दव । मसोस- मह्सूस । मुकर - मुन्कर । वसूल - वसूल । लंगड़ा - लंग । लरज - लरज: । लशकार- लश्कर । शर्मा- शर्म । सहम - सहम । सुस्ता-सुस्त । हलाल - हलाल ।

(२) नामधातु :-

५४. हिन्दी में नामधातु दो प्रकार के प्राप्त होते हैं (क) परम्परागत और (ख) आधुनिक । परम्परागत नामधातु वे हैं जिनके रूप हिन्दी-युग के पूर्व तक स्थिर हो चुके थे । इनके लिए संस्कृत से विकसित होना अनिवार्य नहीं है । आधुनिक नामधातु वे हैं जिनका निर्माण हिन्दी युग में किया गया है । इन पर नीचे विचार किया जाता है ।

(क) परम्परागत - परम्परागत नामधातुओं को पुन: (i) परम्परित और (ii) ध्वन्यात्मक या अनुकरणामूलक रूपों में विभाजित कर सकते हैं ।

५५. (i परम्परित नामधातुओं के 'नाम' और 'धातु' दोनों ही रूप संस्कृत प्राकृत युग से अब तक प्राप्त होते हैं, जैसे—सं० आलस्य - म०प्रा० अलसाअइ, अलसाअन्ति (हाल) - हिं- अलसाना । सं० घृणा - प्रा० घिणा (हे०च० १-१२८) घिणाविह (हां०) - हि० घिनाना । प्रा० घुण्ट , घोट्ट - घुण्टेहिं (हे०च० ४-४२३) घोट्टइ (हे०च० ४-१०, उ०पु० ८५-१०-४-३, दो०को० ३५), घुट्टइ (जस०च० २-३७-२-७), घुंटिउ (का०भा० ३६२) हिं : घूंटना । सं० चिह्न - चिह्नयति - प्रा० चिह्न चिण्ह् (हे०च० २-५०, मृ०अ० १५६-२३, विक्रमो० ५८-११), चिन्ध (हे०च० २-५०, प०च० वर ३ -३४ , पाइय० ६८) से चिन्धाल (देशी ३-२२) निकला है, जिससे बोली चिन्हार का विकास हुआ , चिण्हइ :, चिण्हइ, हि० चीन्हना, बोलियों में चीनना भी मिलता है, जिसका विकास चिण्णं (क्रम० २-११७) से हुआ है ।

सं० कल - कलयति, प्रा० कलेइ, कलइ (प्रा०पै० २ - २१५) हिं० कलना ।
सं० जृम्भा - प्रा० जम्भाअइ, जम्भाइ (पि० ४८७) - हिं० जंभाना, जम्हाना
सं० धूम्र - प्रा० धूमाइ (हाल) - हिं० धुवांना । सं० लोहित - लोहितायते
प्रा० लोहिआइ, लोहिआयइ (हे०च० ३ - १३८) हिं० लोहिआना । सं०
शीतल- शीतलायति - प्रा० सीदलाअदि (मालती० १२१,२) हिं० सियराना

५६. (ii) ध्वन्यात्मक या अनुकरणमूलक :-

ध्वन्यात्मक या अनुकरणमूलक धातुओं का निर्माण किसी पदार्थ की ध्वनि[1] शरीर, मन और आत्मा की किसी सशक्त हलचल की अभिव्यक्ति[2] अथवा किसी क्रिया विशेष से उत्पन्न[3] विशिष्ट ध्वनि के अनुकरण पर किया जाता है । प्राय: प्रत्येक युग में भाषाओं में शब्द या धातु-निर्माण की यह प्रवृत्ति प्राप्त होती है । वैदिक[4] और लौकिक[5] संस्कृत में इनके उदाहरणों की संख्या कम है । संभवत: इसी आधार पर इसे आग्नेय[6] प्रभाव माना गया है , किन्तु यह कथन सत्य नहीं है कि आ०भा०आ० भाषाओं की यह प्रवृत्ति केवल द्रविड़ प्रवृत्ति थी ।[7] हिन्दी युग से हजारों वर्षों पूर्व इस प्रकार की नाम-धातुओं का प्रयोग पर्याप्त संख्या में होने लगा था । वैदिक और लौकिक संस्कृत

---

१. गुरु - हिं० व्या० २१०
२. पिशल - प्रा० व्या० ५५८
३. केलाग - ६२०
४. ह्विटनी - सं०ग्रा० १०६१
५. वैलै० - ६३५ (चटर्जी)
६. शिवशेखर मिश्र - भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश, पृ० १०४
७. चटर्जी - वैलै० - ८१ इ०

के कुछ उदाहरण यह हैं —अललाभवन्त, जंजनाभन्त , किकिराकृणु (ऋग्वेद), मषमषाकरम् (अथर्ववेद), मसमसाकुरु (तैत्त०सं०), मृषमृषाकुरु (मैत्रायणी सं०) मलमलाभवन्त (तैत्त० सं०) , मनमलाभवन्त (काठकोपनिषद्) , किक्किटाकार (का०), बिबिबाभवन्त (मै०सं०), बबबाकुर्वन्त (ऐत० ब्रा०), भरभराभवत (मैसं०) । मिषमिषायते , खटखटायमान, फरफरायते, मडमडायता । प्राकृत युग में ऐसी नामधातुओं के बहुत अधिक प्रयोग मिलते हैं ।[१] अपभ्रंश और हिन्दी में अनुकरणात्मक धातुओं के दो रूप मिलते हैं - (क) पुनरुक्तिमूलक और (ख) संयुक्तध्वनिमूलक । इनके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं ।

५७. (क) पुनरुक्तिमूलक :— करकरा, किरकिरा प्रा० करकरकरन्तु (का०धा०) किलकिला - किलकिला (हे०च० ८४ - ५ - ६), किलकिलंति, किलकिलइ (का०धा० २८, ३४) । कड़कड़ा - कडकडाअन्त (मालती ० १२६ - ४) कुरुकुरा - कुरुकुरा आदि (मृच्छ०७१ , १६, रत्ना० ३०२ ,८) कुरुकुराअन्त (कर्पूर० १४, ३) । खनखना - खणखणाय (प्लै०), खणखणान्तु (का०धा० ८६) । गुलगुला - गुलगुलाइय (विवाह० २५३), गुलगुलेन्तु, गुलगुलगुलन्त (का०धा० ८६) । घुलघुला - घुलघुलाअमाण (मृच्छ० ११७, २३) फड़फड़ा - फड़फड़ फड़फड़न्त (का०धा०), फणफणन्त (मृच्छ० ११,६) । तड़तड़ा - तड़तड़इ (का० धा० २८, १२४), थरथरा - थरथरेदि (मृच्छ० १४१ - १७) थरथराअन्त (मालती० १२४ - १) । धमधमा - धमधमाआदि (नागा० १८, ३) । फुरफुरा - फुरफुराआदि (मृच्छ० १७, १५) मडमडा - मडमडइ (हे०च० ४ - ७८) , मडमडिय (पाइय० १६७) ।

---

१. पिशल , प्रा० व्या० ४६१

५८. (ख) संयुक्त ध्वनिमूलक -

अटपट - सं० अट् + पत् (श्या०सुं०दा०), अप० अडवड (पा०दो० ६-१४५) । कलमल - अप० कलमलिउ (का०धा० ४०४) । कसमस - कसमसंत (सुलो०च० ६-११) । खलबल , खलभल, खरबर - खलभलिया, खलभलइ (का०धा० २८), खलभलिउ (क२० च० ३-१८) । गलगाज - गलगज्जिउ (दो०को०) । डगमग - डगमग (का० धा० ४६०) । तलमल , तिलमिल - तिलमिलइ (का० धा० ४०१) । थरहर - थरहरइ, थरहरयरन्तु , थरहरिउ (का०धा० २२६, ६०, क२० च० ३-१८,२-११) । धसमस - धसमसिय (का०धा० ३६४) । लड़बड़-लड़बड़ा (गौ०बा० १५२) ।

इस प्रकार की दो भिन्न धातुओं के संयोग से मन, आत्मा, शरीर अथवा किसी विशिष्ट परिस्थिति सूचक दशा का ज्ञान कराया जाता है । मन: स्थितियों के साथ-साथ किसी वस्तु या पदार्थ की प्रकृति दशा में परिवर्तन इन धातुओं से सूचित किया जाता है । उदाहरण के लिए चलने की विशिष्ट दशाओं में अटपट, डगमग, फटपट, लटपट, लड़खड़ आदि धातुओं का, मन:-स्थिति की सूचना के लिए कलमल , कसमस, खलबल, तिलमिल, तड़फड़, खिट-पिट, आदि वाणी से सम्बद्ध दशाओं में अकबक, अरबर, गलबल, चुलबुल , बड़बड़, लड़बड़ और अन्य दशाओं में खुसफुस, घुसपुस, चमपक, चटपट, हड़बड़ आदि धातुओं का प्रयोग प्राप्त होता है । बहुत अंशों में इन धातुओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी किया जा सकता है । हिन्दी की अनुकरणमूलक धातुओं के नब्बे प्रतिशत रूप परम्परागत हैं ।

(ख) आधुनिक

५६. हिन्दी-युग में निर्मित नामधातु दो प्रकार के हैं - (i) तत्सम और (ii) हिन्दी युग में निर्मित । तत्सम शब्दों में हिन्दी के प्रत्यय संयुक्त करने की तीव्र प्रवृत्ति हिन्दी के मध्ययुग से ही दिखाई पड़ने लगती है और

अन्य भा०आ० भाषाओं में भी विद्यमान थी । यह धार्मिक आन्दोलन का युग था[1] और प्राचीन ग्रन्थों के पठन-पाठन का प्रभाव भाषा-समृद्धि पर भी काफी पड़ा ।[2] तत्सम शब्दों के बहुल प्रयोग के सम्बन्ध में भी चिन्तामणि विनायक वैद्य का उल्लेख करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने[3] दो कारणों की और संकेत किया है - (१) पौराणिक कथावाचकों की भाषा में तत्सम शब्दों की अधिकता और (२) संस्कृत भाषा के प्रचार में शांकरमत की विजय । भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से इसे स्वर्णयुग[4] कहा गया है । इस प्रकार हिन्दी में तत्सम शब्दों का प्रारम्भ यहीं से होता है और अपभ्रंश की विरासत पर इससे कोई आघात[5] भी नहीं लगता ।

६०. तत्सम नामधातुओं का प्रयोग अपने प्रकृत रूप में केवल काव्य-ग्रन्थों में प्राप्त होता है । गद्य में इनका प्रयोग क्रिया के पूर्व संज्ञा और विशेषण रूप में ही होता है और इनके साथ प्राय: करना और होना क्रियाओं का प्रयोग होता है । इनकी संख्या निश्चित करना संभव नहीं है , फिर भी अकेले मध्यकालीन साहित्य में ५०० से अधिक नामधातुओं का प्रयोग मिलता है । इनके कुछ उदाहरण यह हैं - अंक, अंकुर, अर्चन, अर्थ, अतीत, अनुसंधान, अनुहरण, आकुल, आतुर, उन्मीलन, खंडन, गर्भ, घात, चपल, ध्यान, निर्माण, प्रकाश, प्रकट आदि ।

६१.(ii) हिन्दी युग में निर्मित - जैसे - अंकुआना, असकताना, अगियाना, अगुआना, अंधियाना, अंधराना, उसंसना, औराना - और, अलियाना,

---

1. शिवप्रसाद सिंह - कीर्ति० अव०, पृ० ७५
2. ह०प्र० द्विवेदी-हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ३२
3. वही, पृ० ३३
4. धी०वर्मा, हि०भा० इति० , पृ० ८०
5. स०प्र० अग्रवाल, सा०वि०, पृ० ६४

काँछियाना - काँछ, सं० कुक्षि, खलियाना - खाल, गंधाना - गंध, नहिंआना- नहीं, हुआना - हुआ हुआ करना, बहियाना, झोलियाना- झोली, हथियाना- हाथ, बतियाना आदि ।

६२. (३) संदिग्ध अथवा अनिर्णीत :-

हिन्दी धातुओं की बहुत बड़ी संख्या ऐसी है जिसके प्रति विद्वानों में मतभेद बहुत अधिक है । प्राय: इन्हें देशज कह कर टाल दिया जाता है, लेकिन कुछ विद्वान जब उन्हीं धातुओं को संस्कृत आदि से सम्बद्ध करते हैं तो व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह होने लगता है । अत: यह आवश्यक है कि इन सभी सिद्धान्तों और कथनों पर ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से विचार कर लिया जाय ।

६३. देशज, शब्द अपेक्षाकृत नवीन है । इसके पूर्व इसके पर्याय के रूप में भरत, चण्ड, दण्डिन्, धनिक, त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, सिंहराज, रुद्रट, वाग्भट और हेमचन्द्र आदि ने देशीमत, देशी प्रसिद्ध, देशी और देश्य शब्दों का प्रयोग किया[१]। इनका प्रयोग सिद्धान्तत: शब्द और भाषा दोनों [२] अर्थों में ~~किसी~~ किया गया । आधुनिक युग में इनकी आलोचना- प्रत्यालोचना यथेष्ट विस्तार में की गई । निष्कर्षत: यह स्वीकार किया गया कि प्रत्येक युग में साहित्यिक भाषा से भिन्न जो जनसाधारण की भाषा प्रचलित रही है, वही वस्तुत: 'देशी' [३]

---

१. (क) पिशल - प्रा०भा०व्या०, ८

(ख) तगारे - हि०ग्रा० अप०, पृ० ५

(ग) शि०प्र०सिंह - कीर्ति० अव०, पृ० ३४

२. वही, तथा नामवर सिंह - हिं०वि० अप० योग, पृ० ८

३. नामवर सिंह- हिं०वि० अप० योग - पृ० ८

हुआ करती थीं । 'देशी' के अर्थ में विभिन्न भाषाकालों में प्रान्तीय, क्षेत्रीय अथवा साहित्यैतर भाषाओं के द्योतन के लिए प्रचलित प्राकृत, पराकित, अपभ्रष्ट, अवहट्ट, अवब्भंस, अवहंस आदि देशभाषा सूचक शब्दों के[1] अतिरिक्त भाषा,[2] भासा,[3] भाखा,[4] देशभाषा,[5] देसी[6] देसभास,[7] देशीभासा,[8] देसी - वभणा,[9] देसिलवयन,[10] ग्रामगिरा[12] आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है । संभवत: इसी दृष्टिकोण से वैदिक भाषा की तुलना में संस्कृत को भी कभी

---

१. याकोबी - सनत्कुमार चरित की भूमिका, पृ० १७ । अल्फ्रेड मास्टर-
बी०एस०ओ०एस० - खंड १३, अंक २ । अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० १७ । डा० उपाध्ये- इन्साइक्लोपीडिया आव् लिटरैचर, न्यूयार्क ।
डा० कोलते - विक्रमस्मृति ग्रन्थ, पृ० ४६६, उज्जैन - सं० २००३ ।
डा० हीरालाल जैन - पाहुडदोहा ३३ । नामवर सिंह - हिं०वि०अप० योग, पृ० १-५ । शि०प्र०सिंह - कीर्ति०अव०, पृ० १-२४ ।
२. नामवर सिंह, हिं०वि०अप०योग, पृ० ८, शिवप्रसाद सिंह-कीर्ति०अप० पृ०३५-३६
३. तुलसीमानस १- श्लोक ७,१-६, १-१५ । दण्डी-काव्यादर्श ।
३. तुलसी-दोहावली-दोहा ५७२ । मानस १-३१ । केशव-कविप्रिया-दूसरा प्रभाव,१७
४. कबीर-सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रन्थ, भाषा को अंग, साखी १, पृ० ३७६, प्रकाशक-श्रीमान् महन्त बालक दास जी साहब,बड़ौदा ।
५. विष्णुधर्मोत्तर पुराण- ३।२।१०-११ । कोऊहल-लीलावईगाहा-१३३० ।
६. उद्योतन सूरि- कुवलयमाला कहा : डा० उपाध्ये : लीलावई कहा की भूमिका
स्वयंभू-रामायण- १-३ । पुष्पदन्त- म०पु० १-८-२०
७. लक्ष्मणदेव-नेमिणाह चरिउ
८. नायाधम्मकहा ४८० । विवागसुय ५५
९. पादलिप्त- याकोबी द्वारा उद्धृत - सनत्कुमार चरित की भूमिका, पृ० १७
१०. विद्यापति- कीर्तिलता- १-१६
११. तुलसी,मानस- १-१४

भाषा [१] कहा गया था। प्राकृत के लिए देशी या देशी भाषा आदि शब्दों के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं। पादलिप्त, उद्योतन [२] और कौऊहल [३] को प्रमाणास्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं। अपभ्रंश और देशी के विवाद को उद्भूत करना उद्देश्य नहीं है, किन्तु प्राकृत व्याकरण में पं० ध्रुवनारायण त्रिपाठी [४] शास्त्री ने यह उल्लेख किया है कि 'शास्त्र में संस्कृत से इतर सब भाषायें अपभ्रंश कहलाती हैं।' यहाँ 'इतर' से उनका अभिप्राय भा०आ०भाषाओं से है, अन्य भारतीय भाषाओं से नहीं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण-विकास-परम्परा में विकसित आर्य-भाषाएं ही देशी थीं अथवा आर्येतर भाषाएं भी उसी श्रेणी में आती हैं, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। अस्तु, समीचीनता की दृष्टि से देशी भाषा की परिभाषा स्वरूप यह कह सकते हैं कि - 'विभिन्न भाषाकालों में साहित्येतर आर्य भाषायें ही देशी अथवा भाषा के नाम से अभिहित की गई।' इस भांति इस विवेचन में जहां 'शब्द' और 'भाषा' का विवाद सामने आता है वहां भाषावाली समस्या तो सुलझ गई, किन्तु देशी शब्द क्या है? यह ~~ग्रन्थ~~ प्रश्न अनिर्णीत ही रह गया। प्रस्तुत संदर्भ में इस पर विचार किया जाता है।

६४. भरत के मत से देशी वे शब्द हैं जो तत्सम और तद्भव से भिन्न [५] हों

---

१. राहुल सांकृत्यायन-पुरातत्वनिबन्धावली, पृ० २२२। डा० चटर्जी, ऋतम्भरा, पृ० १६१

२. (क) याकोबी - सन०च० - भूमिका, पृ० १७

(ख) डा० उपाध्ये - लीलावईगाहा की भूमिका में उद्धृत उद्योतन का पद्य

३. (क) एमेय युद्ध जुयई मनोहरं पाययाएं भासाए
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कहं दिव्वमाणासियं। - लीलावई, गाहा ४१

(ख) भणियं च पियय माए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए
अंगाइं हमीए कहाएं सज्जणा संग जोउगाइं। वही, १३३०

४. मधुसूदन प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'प्राकृत व्याकरण' की भूमिका, पृष्ठ ६

५. भरत-नाट्य-शास्त्र (१७-३)

चण्ड ने इन्हें संस्कृत और प्राकृत से भिन्न कहा । रुद्रट ने भरत और चण्ड को दृष्टि में रखते हुए उन शब्दों को देशज की संज्ञा दी जिनकी प्रकृति-प्रत्यय-मूलक रचना न हो । इनके पश्चात् त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, धनिक, दण्डी आदि[1] ने उपर्युक्त परिभाषाओं को ही किंचित परिवर्तन के साथ स्वीकार किया । हेमचन्द्र[2] ने इन परिभाषाओं पर पुनर्विचार करते हुए इन्हें नये रूप में उपस्थित किया । उनके अनुसार - (क) देशी वे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के प्रकृति-प्रत्यय नियम से सिद्ध नहीं की जा सकती, (ख) जो लक्षण से सिद्ध न हों वे देशी हैं, अर्थात् जो शब्द सिद्धहेमचन्द्रनाम में सिद्ध नहीं हुए हैं और (ग) यदि वे संस्कृत-कोषों में प्राप्त भी हों तो उनमें अर्थ-परिवर्तन हुआ हो तथा उनका लाक्षणिक या गौण प्रयोग न हुआ हो ।

६५. आधुनिक युग में देशज शब्दों पर विशेष रूप से विचार किया गया । बीम्स[3] के अनुसार देशज वे शब्द हैं जिनका विकास संस्कृत से नहीं हुआ और वे या तो मूल निवासियों की भाषाओं से आगत शब्द हैं अथवा स्वयं आर्यों ने संस्कृत युग के अनन्तर उनका निर्माण किया । पिशल[4] ने प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पांच बातें कही हैं - (क) भारतीय आचार्यों के परस्पर विरोधी कथनों में तीन मुख्य सिद्धान्त - प्रथमत: वे सभी शब्द जिनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता, दूसरे वे सामासिक एवं सन्धियुक्त शब्द जिनके सब शब्द अलग-अलग तो संस्कृत में मिलते हैं किन्तु सारा सन्धियुक्त शब्द

---

१. पिशल प्रा०भा० व्या० - ८

२. (अ) जो लक्खणो सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।
ण य गउण लक्खणा सति संभवा ते इह णिबद्धा ।। (देशीनाममाला)

(आ) लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्धहेमचन्द्रनाम्नि
ये न सिद्धा: प्रकृति प्रत्ययादि विभागेन न निष्पन्नैस्तेऽत्र निबद्धा: ।।

३. कम्पै०ग्रा० माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज,भाग१,पृ१२ (टीकावली)

४. प्रा०भा० व्या० ८,६

संस्कृत में नहीं मिलता और तीसरे वे शब्द जो ध्वनि-नियमों की विचित्रता दिखाते हैं। (ख) चूंकि आ०भा० भाषाओं में अधिकांश शब्द तत्सम और तद्भव हैं, इसलिए यह मानना भ्रमपूर्ण है कि इस प्रकार के सभी शब्द संस्कृत से निकले हैं, क्योंकि आधुनिक भारत की सभी भाषाएं संस्कृत से ही नहीं निकली हैं। पिशल ने संभवत: इसी कथन को आगामी तर्कों का मूल आधार स्वीकार किया। (ग) ये शब्द प्रादेशिक रहे होंगे और बाद में सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित कर लिए गए होंगे, (घ) देशी शब्दों में कुछ अनार्य शब्द भी आ गए, (ड०) किन्तु बहुत अधिक शब्द मूल आर्य भाषा के शब्द-भांडार से हैं, जिन्हें हम व्यर्थ ही संस्कृत के भीतर ढूंढते हैं। यहाँ पिशल पर डा० शिवप्रसाद सिंह[१] का यह आक्षेप निराधार हो जाता है कि पिशल और भारतीय वैयाकरण एक मत हैं, जबकि भारतीय वैयाकरणों के समक्ष आर्यपूर्व और आर्येतर जैसी भाषा कोटियां नहीं थीं। स्वयं पिशल ने उन आचार्यों का उल्लेख किया है, समर्थन नहीं और इस अनुच्छेद का (क) अंश पिशल की स्वीकृति न होकर विश्लेषण मात्र है।

६६. हार्नले [२] एक प्रकार से पूर्वकथनों को नया रूप देते हैं और उनका मत बीम्स के अधिक निकट है। उनके अनुसार आर्यों ने संस्कृत शब्दों को अपने सम्भाषण से इतना विकृत कर लिया कि उनका पहचानना असंभव हो गया। ऐसे ही शब्दोंको देशज कहते हैं। डा० भंडारकर[३] ने पिष्टपेषण करते हुए देशज शब्दों का मूल उन आदिवासियों की भाषा से माना जो आर्यों द्वारा विजित की गईं।

६७.---

१. कीर्ति० अव० - पृ० ३५

२. कम्पे०ग्रा० गौडि० - भूमिका पृ० ३६-४०

३. विल्सन फ़िलालाजिकल लेक्चर्स- पृ० १०८

४. लिंग्विस्टिक सर्वे- खंड १,भाग १, - अनुवादक-डा० उदयनारायण तिवारी, पृ० २३६

६७. जार्ज ग्रियर्सन[१] ने भारतीय वैयाकरणों के देश्य अथवा स्थानीय शब्दों के प्रति उनकी मान्यता को स्वीकार करते हुए इतना और भी कहा है -"इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे शब्द भी हैं जो मुंडा अथवा द्रविड़ भाषाओं से लिए गए हैं। इस वर्ग में अधिकांश शब्द तो प्रथम प्राकृत की उस विभाषा से आये जिससे संस्कृत की उत्पत्ति नहीं हुई है। इस प्रकार ये वास्तविक तद्भव शब्द हैं, यद्यपि भारतीय वैयाकरण तद्भव शब्द का अर्थ उस रूप में नहीं लेते, क्योंकि उनके समक्ष प्राचीन प्रथम प्राकृत का कोई अस्तित्व न था। ये देश्य शब्द स्थानीय बोलियों के रूप हैं और जैसी कि आशा की जा सकती है, ये अधिकतर लौकिक संस्कृत के मूल स्थान मध्यदेश से दूर, गुजरात प्रदेश के साहित्यिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। हम इन्हें तद्भव के समान ही मान सकते हैं।"

६८. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी[१] के मत से देशज के अन्तर्गत कुछ तो आर्य-पूर्व भाषाओं के शब्दों को रख सकते हैं और कुछ का विकास सामान्य बोल-चाल से देश में ही हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतीय वैयाकरणों द्वारा संकेतित ध्वन्यात्मक शब्द भी देशज हैं साथ ही 'अनार्य' शब्द भी देशज हैं। डा० श्यामसुन्दरदास[२] के मत से अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्द तथा अनुकरणमूलक शब्द देशज हैं। किन्तु जब तक इनकी व्युत्पत्ति का पता का पता नहीं चलता ये शब्द और इनका वर्गीकरण हमारी अल्पज्ञता का ही सूचक हैं। डा० बाबूराम सक्सेना[३] ने अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट रूप में कहा कि, "उन शब्दों को हम देशज कहते हैं जो आधुनिक समय की बोलचाल में स्वत: विकसित हुए हैं।" इस सम्बन्ध में

---

१. वै०लै०- पृ० १६१ - १६२, ऋतम्भरा, पृ० ११०

२. भाषा-विज्ञान, पृ० २६२

३. सा०भा०विज्ञान, पृ० १२६

डा० उदयनारायण तिवारी[१] के विवेचन से कुछ नये तथ्य सामने आते हैं। प्राचीन विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने यह स्पष्टत: कहा कि वास्तव में देशी से उनका क्या तात्पर्य है, यह कहीं भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।" तिवारी जी ने आधुनिक विचारकों के सिद्धान्तों का संकेत करते हुए एक अन्य समस्या की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। उनके अनुसार "किसी भी संस्कृत अथवा प्राकृत-कोष में न तो ऐसे शब्दों की व्याख्या ही उपलब्ध है और न सूची ही प्राप्त है।"

६६. इनके अतिरिक्त अन्य भाषा-शास्त्रियों और वैयाकरणों में डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल[२], डा० कैलाग,[३] डा० तगारे,[४] डा० नामवर सिंह[५] पंडित कामताप्रसाद गुरु,[६] श्री सुरेश्वरपाठक,[७] पंडित बालगोविन्द मिश्र,[८] तथा अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के उल्लेख किए जा सकते हैं। किन्तु इन सब की परिभाषाओं और विवेचनों का अन्तर्भाव ऊपर दिये गये मतों और सिद्धान्तों में हो जाता है।

७०. विभिन्न भाषाकालों में देशज शब्द की स्थिति और उनकी मान्यता के सम्बन्ध में टी०बरो ,[६] राइस डेविड[१०] तथा सेठ गोविन्ददास[११] ने इनके

---

१. हि०भा०उद्०वि० - पृ० २११-२१२

२. प्राकृत विमर्श - पृ० ६३-६७ तथा भाषा विज्ञान और हिन्दी,पृ० १६२-६३

३. हि०ग्रा० - पृ० ३४-४६

४. हि०ग्रा० अप० ३,४

५. हि०वि०अप०योग - पृ० ६-८

६. हि०व्या० पृ० २५

७. रचना मयंक, पृ० १६

८. हि०भा०लिपि०वि०, पृ० १७७

६. द० सं० लैंग्वेज, पृ० ४७

१०. पालि इंगलिश डिक्शनरी- भूमिका, पृ० ७

११. पाइअसद्दमहण्णावो - भूमिका, पृ० ७

विवेचनात्मक संकेत दिए हैं, लेकिन प्रस्तुत संदर्भ में उनका कोई विशिष्ट मूल्य नहीं है। डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी[1] ने रासो में देशज शब्दों की स्थिति से समस्या को उलझाने में अधिक सहायता की है।

७१. हिन्दी के देशज शब्दों पर विचार करते हुए श्री पूर्णसिंह[2] ने देशज की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की -" संस्कृतकाल के पश्चात् प्रदेश विशेष के लोक व्यवहार में निराधार अथवा अनुकरणात्मक आधार पर निर्मित व्युत्पत्ति-रहित शब्दों को देशज कहते हैं। यह सामान्य रूप से देशज शब्दों की परिभाषा हुई। हिन्दी के देशज शब्द वही हैं जो हिन्दी युग में बने हैं।"

७२. इन सभी परिभाषाओं को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनकी प्रकृति, विषयवस्तु और समा भावधारा को देखते हुए पांचवर्गों में संयोजित किया जाता है।

प्रथम वर्ग -(क) जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न सिद्ध हो, (ख) जिनकी प्रकृति प्रत्ययमूलक रचना न हो, (ग) जो न संस्कृत के हों न प्राकृत के। (घ) जो तत्सम और तद्भव से भिन्न हों, (ङ०) जिनका मूल संस्कृत में न मिले।

द्वितीय वर्ग -(क) जिनमें अर्थ परिवर्तन या ध्वनिपरिवर्तन हो अथवा जो सामासिक रूप में संस्कृत में न मिलें, (ख) जो आर्यों के सम्भाषण से विकृत हो गये हों, (ग) स्वयं आर्यों द्वारा निर्मित, (घ) संस्कृत के विकृत रूप जिनकी पहचान असंभव है, (ङ०) प्रारंभिक प्राकृतों से जिनसे संस्कृत नहीं बनी, (च) तद्भव से अभिन्न।

---

१. चन्दवरदाई और उनका काव्य, पृ० ३१०

२. देशज शब्द और हिन्दी - राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५३७

तृतीय वर्ग- (क) अनार्य शब्द , (ख) मूल अथवा आदि निवासियों की भाषाओं से आगत शब्द (ग) मुंडा अथवा द्रविड़ भाषाओं से लिए गए शब्द, (घ) आर्य-पूर्व भाषाओं के शब्द ।

चतुर्थवर्ग - (क) देश्य, स्थानीय या प्रादेशिक, (ख) जन साधारण की बोल-चाल से उत्पन्न, (ग) आधुनिक युग में स्वतः विकसित, (घ) अनुकरणात्मक, (ङ०) ध्वन्यात्मक ।

पंचम वर्ग - (क) अज्ञात व्युत्पत्ति वाले , (ख) निराधार अथवा व्युत्पत्ति रहित, (ग) हिन्दी के देशज वही जो हिन्दी-युग में बने हैं ।

७३. निश्चय ही इनमें अनेक परिभाषाएं ऐसी हैं जिनका एक दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है । कुछ ऐसी हैं जिन्हें स्पष्टत: देशज नहीं कह सकते और कुछ आर्येतर भाषा-परिवारों से सम्बद्ध हैं । इनमें प्रथम और द्वितीय वर्गों को बहुत अलग नहीं किया जा सकता । प्रथमवर्ग में जहां संस्कृत-जिनमें नियमों की कठोरता दृष्टिगत होती है ,वहां द्वितीय वर्ग में सम्पूर्ण प्राकृत-शब्द सम्पत्ति ही देशज बन जाती है । प्राचीन वैयाकरणों का यह भ्रान्त एवं संकुचित दृष्टिकोण कहा जा सकता है, क्यों यद संस्कृत शब्दोंमेंरूप, ध्वनि, और अर्थगत (प परिवर्तन न हों, आगम, लोप, विकार और विपर्यय न हों (और यह सब सम्भाषण की विकृति मात्र है) तो सभी शब्द तत्सम होंगे, तद्भव नहीं । भाषाशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्राचीन भाषाओं के विकास की प्रक्रिया में यह परिवर्तन अवश्यम्भावी है । डा० हेमचन्द्र जोशी[१] ने भी अर्थापकर्ष और अर्थ-विस्तार की ओर अनेक स्थलों पर संकेत किया है । डा० श्यामसुन्दर दास[२] के मत से तत्सम और तद्भव शब्दों के रूपात्मक विभेद के कारण

---

१. पिशल - प्रा० भा० व्या० - अनु० डा० हेमचन्द्र जोशी-फुटनोट पृ०६७-६८, १०५,१०७ आदि

२. भाषा-विज्ञान, पृ० २६१

प्राय: अनेक अर्थ में विभेद हो जाता है।' द्रविड़ भाषाओं के शब्दों के प्रति डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि उनका प्रयोग हिन्दी में बुरे अर्थों में होता है। इस प्रकार चाहे संस्कृत-शब्द हों अथवा किसी अन्य भाषा के जब भी उनका प्रयोग किसी दूसरी भाषा में होगा तो उनके रूप, अर्थ और प्रयोग-भेद की संभावना बनी रहेगी। प्राकृत - वैयाकरणों नेजिन शब्दों को देशज माना है, उनके प्रति ग्रियर्सन[१] और डा० वर्मा[२] का मत है कि इनमें अनेक शब्द ऐसे हैं जो उस प्रा०भा०आ० भाषा के थे जिनका प्रयोग उसके साहित्यिक रूप संस्कृत में नहीं होता था और प्राकृत वैयाकरणों ने अनेक विकृत शब्दों को भी देशी समझ रखा था।

७४. इस विवेचन में शब्दों की ऐतिहासिकत स्थिति की दृष्टि से अपभ्रंश शब्दों पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यह पहले कह चुके हैं कि 'देशज' शब्द प्रयोग की दृष्टि से अपेक्षाकृत नवीन हैं (दे० अनुच्छेद १)। भाषा के अर्थ में इसका प्रथम प्रयोग मंख के श्री कंठ चरित की टीका में इस प्रकार मिलता है -

> संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा
> ततोपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजाऽपि च ।।[३]

यहां देशज का अर्थ देशी भाषाओं और उनकी शब्द-सम्पत्ति से भी लिया जा सकता है। देशी भाषाओं से प्राकृत वैयाकरणों, आलंकारिकों और कवियों

---

१. देखिए - अनुच्छेद, ३
२. हि०भा० इति० - भूमिका, पृ० ६६-७०
३. शि०प्र० सिंह - कीर्ति०अव०भाषा - पृ० ४ से उद्धृत।

का अभिप्राय अपभ्रंश से ही था ।' अपभ्रंश' शब्द और तत्सम्बन्धित रूपों पर पहले संकेत कर चुके हैं (दे० अनु० १ तथा फुटनोट) । अपभ्रंश शब्द-सम्पत्ति के विचार से भर्तृहरि का यह श्लोक महत्वपूर्ण है --

शब्द संस्कार हीनों यो गौरिति प्रयुयुञ्जिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम् ।।

(वाक्यपदीयम्, काण्ड १ कारिका १४८)

भर्तृहरि के अनुसार संस्कारहीन शब्द अपभ्रंश हैं । महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने साधु शब्दों के समानार्थी लोकप्रयुक्त शब्दों को अपभ्रंश कहा है । किन्तु 'संस्कारहीन' और 'संस्कारच्युत' में अन्तर है और इसी प्रकार 'साधु' और 'असाधु' में भी । डा० नामवर सिंह ने दण्डी के 'शास्त्र'[१] शब्द का अर्थ संस्कृत व्याकरणशास्त्र[२] किया और भाषा तथा शब्द का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह लिखा कि' इन वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए तो प्राकृत शब्द का प्रयोग किया, लेकिन संस्कृत से इतर शब्द के लिए अपभ्रंश शब्द का ।'[३] लेकिन यह मात्र वस्तुस्थिति है, समस्या का समाधान नहीं । यदि संस्कृतेतर शब्द अपभ्रंश हैं तो वे देशज नहीं कहे जा सकते । दूसरे, भर्तृहरि ने 'संस्कार-च्युत' पर विचार नहीं किया । यद्यपि पतंजलि और भर्तृहरि ने एक ही उदाहरण दिया है किन्तु उनके सिद्धान्तगत कथन में विरोध है । पतंजलि ने 'गौ: ' जैसे संस्कृत-शब्दों को शब्द और लोक प्रसिद्ध इनके गावीं, गोणी आदि[४] रूपा-

---

१. शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम् । (काव्यादर्श: १।३६), दण्डी

२. हि०वि० अप० योग - पृ० ४

३. वही, पृ० ५

४. भूयांसो पशव्दा: अल्पीयांस: शव्दा इति । एकैकास्यहिशव्दास्य बहवो पभ्रंशा: तंयथा गौरित्यस्य शव्दस्य गावीगोणी गोपोतलिका इत्यैवमादयो पभ्रंशा: ।

--महाभाष्यम्- किलहार्न संस्करण,भाग १,(पस्पशाह्निक)

न्तरों को अपभ्रंश अथवा असाधु शब्द माना है । कैयट[१] ने महाभाष्य की टीका में पतंजलि के कथन की साधारण व्याख्यामात्र दी है, उसका मौलिक विवेचन नहीं किया है । इस प्रकार एक ओर जहां पतंजलि और भर्तृहरि के द्वारा इस निर्देशित गौ: के विभिन्न रूपान्तरों को चण्ड,[२] हेमचन्द्र[३] आदि ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, वहां उन्होंने अन्य शब्द-रूपों को लेकर उन्हें देसज कहा है । इस सम्बन्ध में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी[४] ने 'प्रकृति' शब्द पर विचार करते हुए इसका अर्थ उत्सर्ग, नियम, माडल और साधारण किया है और 'विकृति' का अर्थ आन्तरित, अपववाद अलौकिक, भिन्न और विशेष दिया है । इस वर्ग के अन्तर्गत इतना और भी विचारणीय है कि हेमचन्द्र की देशी नाममाला पर विचार करते हुए अनेक विद्वानों[५] ने यह सिद्ध किया है कि उसमें बहुत से शब्द देशी नहीं हैं । स्वयं हेमचन्द्र ने एक स्थल पर उसी शब्द को देशी और अन्यत्र तद्भव स्वीकार कर लिखा है । (पंचम वर्ग भी देखिए) । इन सभी रूपों को देखते हुए यह कह सकते हैं कि अपभ्रंश का अर्थ 'देशज' नहीं है और हेमचन्द्र में विरोधी तत्वों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी के परिप्रेक्ष्य में ऐसे समस्त शब्दों को जो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी को प्राप्त हुए हैं उनमें आगम, लोप, विकार, विपर्यय, अर्थापकर्ष और अर्थ-विस्तार आदि की दृष्टि से परम्परागत कहना ही तर्क संगत है ।

---

१. अपशब्दोहि लोके प्रयुज्यते साधुशब्द समानार्थश्च ।

२. गौरगावी । प्राकृतलक्षणम् २-१६ ।

३. गोणादय: सिद्धहेमशब्दानुशासन ८-२ - १४७ ।

४. पुरानी हिन्दी - प्रथम संस्करण - पृ० ७७

५. (क) सं० प्र० अग्रवाल - प्राकृत-विमर्श - पृ० ६५ ,

(ख) डा० तिवारी - हि०भा० उद्०वि० , पृ० ४६० तथा पृ० २१२

(ग) डा० तगारे - हि०ग्रा०अप० ३

७५. तृतीय वर्ग में आने वाले सिद्धान्तों में द्रविड़, मुंडा और अन्य आर्येतर भाषाओं के शब्दों को देशज कहा गया है । निश्चय ही भाषाओं के पारिवारिक विभाजन को दृष्टि में रखते हुए इन्हें 'देशज' का पर्यायवाची नहीं मान सकते और इन्हें 'देशज' -परिवार' - नाम से सम्बोधित भी नहीं कर सकते और इस प्रकार के 'देशज' शब्दों की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए डा० वर्मा[१] का यह कथन महत्वपूर्ण है कि प्राकृत-वैयाकरणों ने 'अनार्य शब्दों को देशी' मान लिया था । तीसरे, प्राकृत-वैयाकरणों तथा लेखकों में भी भाषा सम्बन्धी सूचनाओं और विवाद को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब एक विशिष्ट भाषा और शब्द की स्थिति बनी है तो उन रूपों को दूसरी भाषा में देशज कहना उचित नहीं प्रतीत होता । पिशल[२] के व्याकरण से इस मत की पुष्टि के लिए लक्ष्मीधर के प्रति चन्दनक का यह कथन उद्धृत किया जाता है -' कप्रम् दक्खिणाचा अव्वत्त भाषिणो..... म्लेच्छ जातीनाम् अनेकदेशभाषाविज्ञा यथेष्टम् मंत्रयाम्:....... अर्थात् हम दाक्षिणात्य अस्पष्ट भाषी हैं । चूंकि हम म्लेच्छ जातियों की अनेक भाषाएं जानते हैं, इसलिये जो बोली मन में आये? बोलते हैं ।' ज्योतिरीश्वर ठाकुर[३] ने भी छः भाषाओं और सात उपभाषाओं में - द्राविली, औतकली, विजातिया' का उल्लेख किया है ।

७६. चतुर्थ वर्ग के (क) और(ख) रूप एक ही हैं । इनके प्रति एक सामान्य प्रश्न यह होता है कि यह देश्य, प्रादेशिक या सामान्य विशेषताएं क्या हैं ? और यह अकारण हैं या सकारण ? अथवा इन सब के पीछे राजनीतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक आदि कारण भी रहे हैं । भारतवर्ष में कितनी जातियों, धर्मों और भाषाओं का मिश्रण हुआ हुआ है, यह तथ्य सबको

---

१. हि०मा०इति०- भूमिका, पृ० ७०

२. प्रा०भा०व्या० - २६

३. वर्णरत्नाकर ५५ ख

ज्ञात है । इन प्रश्नों के निराकरण से समस्या अपने आप सुलझ जाती है और देशज की स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है ।

इस वर्ग के अन्तर्गत अनुकरणात्मक और ध्वन्यात्मक शब्द भी देशज कहे जाते हैं । ऐसे शब्द और धातुएं संस्कृत युग से ही मिलने लगती हैं । हिन्दी की दृष्टि से उन्हें तत्सम और तद्भव दोनों ही मानना पड़ेगा और उनकी पालि प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा अक्षुण्ण है ।

७७. पंचम वर्ग में तीन बातें हैं । जहां तक अज्ञात व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति रहित शब्दों का प्रश्न है डा० श्यामसुन्दरदास ने इन्हें अल्पज्ञता का सूचक माना अल्पज्ञता की स्थिति को लेकर उन पर व्यंग्य अथवा आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि (क) स्वयं प्राचीन वैयाकरणों में एक ही शब्द को तत्सम, तद्भव , प्राकृत, साध्यमान और देशी[1] कहने की विरोधी स्थितियां दृष्टिगत होती हैं । (ख) अनेक आधुनिक विद्वानों[2] ने बहुत बड़ी संख्या में ऐसे देशज शब्दों को संस्कृत, कन्नड़, मुंडा आदि भाषाओं का सिद्ध किया है । दूसरी बात है निराधार या स्वत: निर्मित होने की । इसके प्रति चाहे भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त हों चाहे व्याकरण के, कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार न करेगा कि अकारण और बिना किसी आधारभूत वस्तुस्थिति के शब्दों की उत्पत्ति या निर्माण संभव है । यदि यह संभव भी हो तो दार्शनिक और धार्मिक स्तर पर शब्दों की 'स्वयंभू' स्थिति पर विचार करना होगा और भाषा-उत्पत्ति के समस्त सिद्धान्त सिमट कर इसके अन्तर्गत आ जायेंगे । तीसरी बात है — हिन्दी के देशज वहीं हैं जो हिन्दी-युग में बने हैं ।

---

१. पिशल - प्रा०भा० व्या० ८,६ तथा स०प्र० अग्रवाल-प्रा०वि० , पृ० ६५-६६

२. ए०एन० उपाध्ये -'कनारीज़ वर्ड्स इन देशी लेक्सिकन्स' - ए०बी०ओ०आर०आइ०-८, पृ० २७४-८४

(२) पी०एल० वैद्य -'आब्ज़र्वेशन्स आव हेमचन्द्राज़ देशीनाममाला' - ए०बी०ओ० आर०आइ० - १२, पृ० ६३-७१

लगभग यह प्रश्न भी निराधार और स्वतः निर्मित होने से भिन्न नहीं है। दूसरे, डा० तिवारी ने स्पष्टतः यह संकेत किया है कि प्राकृत-कोषों में ऐसे शब्दों की व्याख्या और सूची उपलब्ध नहीं है (दे०अनु० ३)। इस सम्बन्ध में अपभ्रंश-अभिधान की कमी खटकती है। तीसरे, पाणिनि के धातुपाठ में दी गई धातुओं के प्रति विद्वानों[1] ने यह सन्देह प्रकट किया है कि वे मूलतः प्राकृत थीं अथवा द्रविड़ भाषाओं से स्वीकार की गई हैं। शब्दों के लिए भी ऐसे अनेक संकेत[2] विचारणीय हैं। चौथे, डा० पालसुले ने अपने संस्कृत धातुपाठ[3] की भूमिका में अनेक रूपात्मकता और एक धातु के कुछ धातुपाठों में प्राप्त होने और कुछ में न प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इस प्रकार इन तथाकथित देशज शब्दों के अनेक स्रोत निश्चित रूप से खुले हैं।

७८. देशज के सम्बन्ध में सर्वांगरूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह कहना अधिक समीचीन है कि संस्कृत और प्राकृत की दृष्टि से देशज की जो संज्ञा थी, वह मान्य नहीं है। आधुनिक युग में देशज के विवेचन में डा० तगारे[4] ने काल्डवेल और उनके अनुयायियों की आलोचना करते हुए यह आवश्यकता व्यक्त की है कि इस सम्बन्ध में प्रागार्य, द्रविड़ तथा एस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओं की सहायता ली जानी चाहिए। अतः यह कह सकते हैं कि 'देशज' नाम से शब्दों का वर्गीकरण उचित नहीं है और हिन्दी ही नहीं प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में देशज शब्दों की स्थिति को मान्य स्वीकार करना ग़लत होगा। अपने मत की पुष्टि के लिए वर्तमान युग के दो मूर्द्धन्य भाषाविदों की व्युत्पत्तियाँ नीचे दी जाती हैं। इनकी विचार-भिन्नता और स्रोत की विशेषताएं इस प्रश्न पर नवीन प्रकाश डालती हैं और यह प्रकट हो जाता है कि 'देशज' कुछ भी नहीं है।

---

१. पिशल- प्रा०भा०व्या० , पृ० ६५ का फुटनोट

२. डा० पी०एल० वैद्य - प्राकृत ग्रामर आव हेमचन्द्र, पृ० ६५८ और आगे।

३. गजानन बालकृष्ण पालसुले - ए कंकार्डेन्स आव संस्कृत धातु पाठाज़ - भूमिका, पृ२

४. हि०ग्रा० अप०, पृ० ७

७६. डा० बाबूराम सक्सेना ने पेंड़[१] शब्द को देशज माना है, किन्तु डा० चटर्जी इसे पिण्ड[२] से व्युत्पन्न मानते हैं। कहीं-कहीं तो हेमचन्द्राचार्य की भांति एक ही विद्वान एक स्थल पर एक शब्द को अज्ञात व्युत्पत्तिमूलक कहता है और अन्य स्थान पर उसे भाषाविशेष का सिद्ध करता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। संस्कृत के शब्द 'कंचूल', 'कंचूलिका' (कंचुकी, जाकट) 'चौलिका' शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डा० चटर्जी[३] ने चौल शब्द को चेल (- वस्त्र) से सम्बद्ध मानते हुए लिखा है कि चेल शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है। किन्तु उसी निबन्ध में अन्यत्र [४] संस्कृत 'तुण्डिचेल' (एक प्रकार के वस्त्र) पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'चैल' आर्य-भाषा का शब्द है, जिसका सम्बन्ध 'चीर' शब्द से है जो उसी धातु से निकला है जिससे हिन्दी का चीरना और बंगला का चिरा। अन्ततः इन सभी रूपों पर पूर्णतया विचार कर लेने के पश्चात् निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि देशज की समस्या मात्र समस्या है और शब्द-विशेष अथवा शब्द-समूह को देशज की संज्ञा नहीं दी जा सकती। शब्दविचार और व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी की सम्पूर्ण शब्द-सम्पत्ति परम्परागत है अथवा पारस्परिक सम्बन्धों के कारण अन्यान्य भाषाओं से ग्रहण की गई है। अब धातुओं का क्रम आता है।

८०. संस्कृत ग्रन्थों में संस्कृतेतर धातुओं अथवा तथाकथित देशज धातुओं को धातुपाठ[५] या धात्वादेश[६] शीर्षकों के अन्तर्गत संगृहीत किया गया है। इस

---

१. सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० १२६

२. ऋतम्भरा, पृ० ११७

३. वही, पृ० ११८

४. वही, पृ० ११६

५. स०प्र० अग्रवाल- प्रा०वि०, पृ० ६५

६. पिशल- प्रा०भा०व्या०, ६

प्रकार का अध्ययन डा० ग्रियर्सन ने 'प्राकृत धात्वादेश'[१] शीर्षक से नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: धात्वादेश और देशज की परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। धात्वादेश की परिभाषा करते हुए पिशल[२] ने लिखा है कि 'इन क्रिया-वाचक शब्दों को वैयाकरण धात्वादेश, अर्थात् संस्कृत धातुओं के स्थान पर बोलचाल के प्राकृत धातु, कहते हैं।' पिशल की यह परिभाषा प्राकृत वैयाकरणों के सूत्रों (वररुचि ८-१, हेमचन्द्र ४-१ , क्रमदीश्वर ४-४६ और मार्कण्डेय पन्ना ५३) पर आधारित है। किन्तु हिन्दी में ऐसे धात्वादेश की आवश्यकता उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् नहीं रह जाती। प्रस्तुत प्रबन्ध के धातुपाठ का अर्थ 'हिन्दी-धातुओं का संग्रह' है। जिन धातुओं की व्युत्पत्ति निश्चित नहीं की जा सकी है, या जिनकी परीक्षा नहीं हो पाई है, अथवा जिनके प्रति संदेह की सम्भावनाबनी रह गई है, उन्हें 'संदिग्ध अथवा अनिर्णीत' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें मूल धातु और नामधातु दोनों हैं।

—

---

१. मेम्वायर्स आव् द एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल, जिल्द ८, संख्या २ (१९२४ ई०)

२. प्रा०भा०व्या० ६

अध्याय -- २

क्रिया के भेद

अध्याय – २

क्रिया के भेद

८१. प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषाएं संयोगात्मक थीं । संज्ञा और क्रिया दोनों ही विकारी शब्द थे । क्रिया की रूप-रचना गण, पद, वाच्य, प्रयोग, लकार, पुरुष और वचन आदि के अनुसार की जाती थी । किन्तु अन्य स्थानीय, भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि कारणों से संस्कृत-क्रिया-रूपों के उक्त सभी रूपों का विकास परवर्ती भाषाओं में उपलब्ध नहीं होता । इनमें संस्कृत की तिङन्त-प्रक्रिया का सर्वांगीण विकास किसी भी भाषा में नहीं मिलता । इसके मुख्य दो कारण थे । एक तो ध्वनिपरिवर्तन के कारण 'अ' - वर्ग की प्रधानता[१] होने से पालि-युग में केवल सात गण[२] ही रह गए । वस्तुत: प्रथम, द्वितीय, तृतीय और षष्ठ गण घिसकर प्रथम गण के समान हो गए । अन्य गणों की धातुओं में भी प्रथमगण की रूप-रचना ग्रहण करने की प्रवृत्ति मिलती है[३]। दूसरे, पालि-युग में द्विवचन का प्रयोग पूर्णतया समाप्त हो गया । इससे संज्ञा और क्रिया की रूपावली में बहुत अधिक कमी हो गई । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भाषा में द्विवचन का संरक्षण व्याकरण के आग्रह के ही कारण था, अन्यथा अन्य भारोपीय भाषाओं में भी यह आज विद्यमान होता । द्विवचन की समाप्ति परवर्ती भाषाओं में सरलता और संक्षिप्तता का अभूतपूर्व लक्षण है और इसे आकस्मिक घटना नहीं मान सकते । यह सरलीकरण की एक विकासमान प्रक्रिया थी जो पालि में आकर स्पष्ट हो गई । गण-परिवर्तन की तीव्र गति के कारण प्राकृत युग में केवल एक ही गण रह गया अथवा गण-प्रक्रिया समाप्त हो जाने से रूपावली अधिक संक्षिप्त और सरल हो गई । यद्यपि

---

१. पिशल - पृ० ६७०
२. सक्सेना - ए०यू० स्टडीज,१६२६ , पृ० २०८, धीरेन्द्रवर्मा, हि०भा०इति०, ३०२,भो०ना०तिवारी-हिन्दी भाषा- पृ० २।२३८
३. वही ।

इस सरलता का एक कारण आर्येतर जातियों का सम्पर्क भी कहा गया है,[१] किन्तु परिवर्तन के लक्षण आर्यभाषाओं में पहले ही से विद्यमान थे। विद्वानों ने संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लोट्लकार (आज्ञा) के संयोगात्मक प्रयोगों की अपेक्षा वियोगात्मक प्रयोगों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें लिट् लकार (परोक्षभूत) - कृ- अस्-भू- धातुओं के सहायक रूपों - आस, चकार - आदि के संयोग से सम्पन्न किया जाता था।[२] इसी प्रकार लुट् लकार के दातास्मि, दातास्व:, दातास्म: रूप भी वियोगात्मक[३] प्रयोग ही माने गये हैं जिनसे संस्कृत भाषा में ही क्रिया में एक रूपता और संक्षिप्तता की प्रवृत्ति मिलने लगती है। पालि में आत्मनेपद का अन्तर्भाव परस्मैपद में होने से छ: के स्थान पर पांच ही प्रयोग शेष रह गये।

८२. प्राकृत-युग में क्रिया-रूपों में और भी सरलता आई, यद्यपि व्याकरण ग्रन्थों में परम्परा - पालन की प्रवृत्ति कम नहीं है। महाराष्ट्री में गणों का प्राय: अभाव है[४] किन्तु अपभ्रंश युग तक आते-आते केवल एक ही गण रह गया। आत्मनेपद के कुछ अवशिष्ट रूप कहीं-कहीं मिलते हैं, अन्यथा सर्वत्र परस्मैपद का ही रूप मिलता है।[५] छ: प्रयोगों में से कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और प्रेरणार्थक ही शेष रह गए। काल केवल चार --वर्तमान (लट्), आज्ञा (लोट्), भविष्यत् (लृट्) और विधि के कुछ रूप ही अवशिष्ट रह गए। इनमें वर्तमान काल के रूपों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया और अन्य कालों की समाप्ति के कारण कृदन्तीय रूपों का व्यवहार अधिक किया जाने लगा। कृदन्तीय प्रयोगों की लोकप्रियता संस्कृत में भी कम नहीं थी।

---

१. उ०ना० तिवारी - हि०भा०उद्०वि० - पृ० ४७७

२. मैक्समूलर- सं०ग्रा० - पृ० १७२, बीम्स-कं०ग्रा० - पृ० ७, सक्सेना, वही, पृ० २०७ आदि

३. बीम्स - कं० ग्रा०, पृ० ७

४. धीरेन्द्रवर्मा- हि०भा० इति०, ३०२

५. पिशल- पृ० ६७०

शैली की दृष्टि से भी कृदन्तीय रूपों का प्रयोग अन्य रूपों की समाप्ति का कारण बन गया । शैली की यह दृष्टि संस्कृत में वाच्यों में भी है जहां कर्तृवाच्य की अपेक्षा कर्मवाच्य और भाववाच्य को अधिक मुहावरेदार[१] समझा जाता है । क्रिया की एकरूपता के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी में संस्कृत के अवशिष्ट संयोगात्मक रूप केवल दो हैं — लोट् और लट् (आज्ञा और वर्तमान) । इन अवशिष्ट रूपों में भी आशीर्लिङ्० का कुछ अंश लक्षित किया जा सकता है । यही कारण है कि हिन्दी में वर्तमाननिश्चयार्थ (संभाव्यभविष्यत्), आज्ञा, आशी: और विधि के लिये क्रिया का एक ही रूप प्रचलित है (दे०काल-रचना अनु० १२८) । शेष अन्य काल और क्रियार्थ हिन्दी में कृदन्त एवं सहायक क्रियाओं के योग से बनते हैं । हिन्दी में पुरुष तीन हैं और वचन दो । क्रिया रूपों में लिंगभेद परवर्ती विकास है, जिसका मूल कारण संस्कृत की कृदन्तीय रचना में निहित है । इन पर अलग-अलग विचार किया जाता है ।

(अ) धातु-निर्णय

८३. संस्कृत में धातु को, व्याकरण की दृष्टि से, शब्दयोनि कहा गया है । शब्दयोनि का अर्थ है वह तत्व जिससे शब्दों की उत्पत्ति हो ।[२] क्रिया का मूल रूप ही धातु है और उसी में अनेक उपसर्ग और प्रत्यय संयुक्त करके शब्दों और क्रिया-रूपों की रचना की जाती है । संभवत: रचना-प्रक्रिया की विविधता और आन्तरिक गुणधर्म के कारण ही संस्कृत के विद्वानों में शब्दों को धातुज मानने का सिद्धान्त प्रचलित हुआ होगा । शब्दों को धातुज मानने के प्रति मतभेद है । यास्क ने नैरुक्तकों और शाकटायन के मतों का उल्लेख करते हुए शब्दों को धातुज

---

१. सक्सेना - सं०व्या०प्र०, पृ० ३०७

२. वही, पृ० ३०५

माना है, गार्ग्य के अनुसार सभी शब्द धातुओं से व्युत्पन्न नहीं हैं*। हिन्दी धातुओं के विवेचन में भी यद्यपि अनेक विद्वानों ने शब्दों को धातुज माना है, लेकिन यह धा निर्मूल ही सिद्ध होती है, क्योंकि विविध भाषाओं से आगत शब्दों को न तो धातुज सिद्ध कर सकते हैं और न तो संस्कृत की निर्वचन-प्रक्रिया को पूर्णतया लागू ही कर सकते हैं। हिन्दी में धातुज शब्द वही हैं जिनकी उत्पत्ति हिन्दी - धातुओं से सिद्ध हो, जैसे - चल् धातु से चलन ,चलना, चलनी, चलता, चला, चाल,चाला, चालू आदि।

धातुओं के प्रति प्राय: सभी आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि यह वैयाकरणों की सृष्टि हैं, किन्तु अशिक्षित लोगों में भी धातुभाव विद्यमान रहता है। इस रूप में धातु का महत्व शब्द-रचना में सर्वोपरि है। परिभाषा की दृष्टि से धातु क्रिया के उस अंश को कहते हैं जो उसके समस्त रूपान्तरों में पाया जाता है[१]। हिन्दी-धातुओं के प्रति अन्य सभी परिभाषाओं[२] का समाहार डा० धीरेन्द्र वर्मा की उक्त परिभाषा में हो जाता है। अत: उनका उल्लेख विस्तार-भय से नहीं किया जाता।

८४. हिन्दी-धातुओं के दो रूप हैं --(१) स्वरान्त , जैसे - आ, खा, जा, ढा, पा, ला, जी, पी, सी, चू, छू, दे, ले, खो, धो, बो, हो, अंखा, अघा, इठला, इतरा, उतरा आदि। (२) व्यंजनान्त, जैसे - अंट्, कर् , खेल, चल्, मर्, उठ्, ऊब, बैठ्, रट्, सट्, हट्, आदि। धातु के इन्हीं रूपों में क्रियादि के प्रत्यय संयुक्त किये जाते हैं, जैसे --चल्+अ+ना - चलना, चल्+आ+ता - चलता, चल्+ आ, ई, ईं, ए, एं, ऊं, ओ - चला, चली, चलीं, चले, चलें, चलूं, चलो आदि। इन पर आगे विचार किया जायेगा।

---

१. धीरेन्द्र वर्मा - हिं० भा० इति०, ३०२.

२. जेस्पर्सन - लैं०ग्वेज, पृ० १३०, बीम्स-क०ग्रा०- पृ०२-३, प्लेट्स - हि०ग्रा०, पृ० ३०, गुरु- हिं०व्या०, पृ० १२३, रामलोचनशरण - व्या०चं०, पृ० ८६, किशोरीदास वाजपेयी, - हिं०शब्दा०, पृ० ३८८, प्रेमनारायण टंडन- सूर की भाषा, पृ० ३०३, भोलानाथ तिवारी - हि०भा०, पृ० २१२३६, मुरलीधर श्रीवास्तव- धातुकोश, पृ० ४ तथा अन्य।

* (क) निरुक्त 1/12 ,(ख) महाभाष्य - 3/31.

८५. धातु-रूप के निर्णय के प्रति विद्वानों में तीन मत दिखाई पड़ते हैं। ~~प्रथम~~: प्रथमत: बैलेन्टाइन[१] आदि के मत से क्रिया का मध्यम पुरुष आज्ञार्थ का रूप ही धातु है, जैसे --आ धातु में ना प्रत्यय जोड़ने से क्रिया का साधारण रूप आना बनता है। दूसरे वर्ग में केलाग,[२] प्लैट्स,[३] धीरेन्द्र वर्मा,[४] कामताप्रसाद गुरु[५] किशोरीदास वाजपेयी[६] आदि आते हैं। इनके अनुसार क्रिया के साधारण रूप या क्रियार्थक संज्ञा से ना हटा देने से धातु निकल आती है, जैसे --चलना - चल् (धीरेन्द्र वर्मा), गिरना-गिर (प्लैट्स, केलाग), खाना-खा, देखना-देख, चलना - चल् (धीरेन्द्र वर्मा), भागना- भाग (गुरु) और उठना - उठ (वाजपेयी)। इनमें धीरेन्द्र वर्मा ने धातु के हलन्त रूप दिये हैं और अन्य लोगों ने स्वरान्त रूप। तीसरे वर्ग के विद्वानों ने धातुओं को व्यंजनान्त या हलन्त माना है --जैसे - भोलानाथ तिवारी[७] और मुरलीधर श्रीवास्तव[८] आदि। डा० बाबूराम सक्सेना[९] ने अवधी पर विचार करते हुए -अन- और -अब- को प्रत्यय मानते हुए धातु का व्यंजनान्त रूप ही दिया है, जैसे - कर्+अन - करन, आन्+अब - आनब॥ किन्तु स्वरान्त धातुओं में केवल 'ना' और 'ब' को पृथक् करने से धातु अंश प्राप्त हो जाता है --हो +ना , अथवा हो +ब। सच्चाई यह है कि हिन्दी की बहुत सी धातुएं ऐसी हैं जिनका शब्दकोशों में उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी दशा में शब्दकोष

---

१. इलीमेंट्स आव् हिन्दी एण्ड ब्रजभाखा ग्रामर, पृ० १६

२. हि०ग्रा०, पृ० ३८६-८७

३. हि०ग्रा०, पृ० १२९-३०

४. हि०भा० इति० ३०३, तथा रा०लो०शरण-व्या०चं०, पृ० ८९

५. हि०व्या०, पृ० १२३

६. हि०शब्दा०, पृ० ९१-९२

७. हि०भा०व्याकरण, पृ० ९१-९२

८. हिन्दी धातुकोश, पृ० १३

९. ए०यू० स्टडीज़, १९२६, पृ० २१०

को प्रमाण नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार हिन्दी-कोशों में उल्लिखित 'करना', 'होना' आदि क्रियार्थक शब्दों को क्रिया का साधारण रूप कहने से यह भ्रम उत्पन्न हुआ है । ठीक यही स्थिति अवधी और भोजपुरी आदि के सम्बन्ध में भी है । अवधी के सन्दर्भ में हार्नले महोदय -करह, मरह, बोलह आदि रूपों से - ह - पृथक् करके धातु प्राप्त करने के पक्ष में हैं ।[१] द्रष्टव्य है कि 'होब - करब भी होना-करना की भांति क्रियार्थक संज्ञा हैं और-करह, मरह - आदि करे, मरे की भांति मध्यम पुरुष के रूप में और क्रियार्थक रूप में भी प्रयुक्त होते हैं । सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि अनेक विद्वान् धातुओं के सम्बन्ध में स्वयं विरोधी उल्लेख करते हैं, जैसे -- धातु..... चल (हलन्त)[२] । इस विवेचन के अनन्तर यह द्रष्टव्य है कि यदि - कर, चल, मर - आदि रूपों को धातु मानें तो उक्त प्रत्ययों - आ, ई, ए, ऊं, एं - आदि के संयोग से -- करई, करए, करऊं, करएं --जैसे रूप ही बनेंगे । लेकिन इन्हें व्यंजनान्त मानने से- चल्+आ - चला, चले, चलें, चलूं आदि रूप अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं । अतः धातु कुछ तो स्वरान्त हैं और अधिकांश व्यंजनान्त हैं ।

(आ) अकर्मक तथा सकर्मक क्रियायें --

८६. हिन्दी की क्रियायें या तो सकर्मक होती हैं या अकर्मक । अकर्मक और सकर्मक का विभाजन हिन्दी में भी परम्परागत ही हैं । विकास की दृष्टि से हिन्दी की अकर्मक धातुएं प्रायः मूल धातु ही हैं । इनमें प्रमुख और गौण दोनों ही रूपों से व्युत्पन्न धातुएं हैं, जैसे --(क) साधारणधातु - कांप्, कुढ़्, खीज्, गल्, चल्, जी, जल् आदि । (ख) सोपसर्गज धातु --उछल्, उपज, बिहर, बिचर्, बिलख् आदि । (ग) वाच्य-परिवर्तन से --खप् , घट्, छीज्, छूट आदि

---

१ ज०आ०ए०सो०बे०, भाग १, १८८०, पृ० ३३

२. गुरु- हि०व्या०, पृ० २८६ (दे०अनु० ३६२)

(घ) प्रेरणार्थक से --उबर्, उभर्, बज् आदि । (ङ०) नामधातु से --गड़्, उग्, पक्, रुठ् आदि । इनके अतिरिक्त दूसरे और तीसरे वर्गों में वर्णित नामधातु और संदिग्ध धातुओं में अकर्मक धातुओं की संख्या बहुत है । फिर भी अकर्मक और सकर्मक धातुओं में फल और व्यापार के आधार पर निर्णय करना अधिक सुकर है . अपेक्षाकृत उनके रूप-विकास के आधार पर ।

८७. सकर्मक क्रिया के रूप-निर्धारण में दो मुख्य तत्व विचारणीय हैं । हिन्दी की अनेक धातुएं केवल सकर्मक रूप में विकसित हुई है, जैसे --अगोर्, अढ़ा, अपना, आन्, उगाह्, औढ़, कमा, कात् , खा, जे, गढ़, गह् , गाड़् , गोड़् , चाह्, चून् , चुरा, पठा आदि । इनके अकर्मक रूप नहीं होते । इसके विपरीत हिन्दी में अकर्मक को सकर्मक बनाने के दो रूप दिखाई देते हैं । एक तो अकर्मक रूप में प्रेरणार्थक प्रत्यय - आ - वा - आदि संयुक्तकरके - जैसे - कांप् + आ - कंपा, +वा - कंपवा, खीज् +आ - खिजा, +वा - खिजवा , गल्+ आ - गला , +वा गलवा आदि । दूसरे, अकर्मक धातु के ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके, जैसे कट् (अक०) - काट् (सक०), मर् (अक०) - मार् (सक०) आदि । यद्यपि हिन्दी व्याकरण ग्रन्थों में इस पद्धति को अकर्मक से सकर्मक बनाने का नियम[१] माना गया है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्राचीन प्रेरणार्थक रूपों से अकर्मक बनाने की पद्धति है , जिसमें प्रेरणार्थक के दीर्घ स्वर को ह्रस्व करके अकर्मक रूप निर्मित करते थे, [२] अथवा

---

१. (क) गुरु - हि०व्या०, पृ० १२६ - १३४ , (ख) रामावतार शर्मा - व्याकरण संजीवन, पृ० १४४ - १४६, (ग) रामलोचन शरण - व्याकरण चन्द्रोदय, पृ० १२२ । (घ) दुनीचन्द, पृ० १४४ - १४ हिन्दी व्याकरण, पृ० १२५, (ङ०)रामदहिन मिश्र - हिन्दी व्याकरण कौमुदी, - पृ० १४० तथा अन्य ।

२. (क) चटर्जी - बें०लै०, प० पृ० ५४० , (ख) उ०ना० तिवारी - हि०भा०उ०वि०, पृ० ४९२

(ग) टर्नर -" द लास आव वावेल आल्टर्नेशन इन इण्डोआर्यन" - ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, १९२२, पृ० ४९२

सकर्मक को ह्रस्व कर देते थे (दे० - नियम - क, ख अनु० २२६) । अवधी, व्रज और बंगला के सम्बन्ध में भी यही प्रक्रिया प्रचलित है ।[१] इसके साथ-साथ प्राचीन और मध्यकालीन ग्रन्थों में क्रियाओं के वैकल्पिक रूपों के भी दर्शन होते हैं । इनमें अकर्मक रूप इस प्रकार हैं, जैसे - पालि वड्ढति और प्रेरणार्थक - वड्ढेति (रा०है०) > बड्ढइ, बड्ढेइ- अप० बड्ढइ (कर०च०), बाढेइ (पा०दो०) > बढ़त, बाढ़त (तुलसी), (बढ़त बढ़त सम्पति सलिल- बिहारी, तथा - बट बाढ़्यो सागर जल झलत- सूर) तथा लगा, लागा (लागा चुनरी में दाग- कबीर) आदि । हिन्दी की काव्य-रचनाओं और आधुनिक बोलियों में भी यह रूप उपलब्ध होते हैं । परिनिष्ठित हिन्दी में बढ़, लग् रूप, प्रचलित हैं । यहां प्राचीन प्रेरणार्थक रूप - वड्ढेइ- से-बाढ़ - रूप विकसित तो हुआ है, किन्तु उसका अर्थ अकर्मक हो गया है । हिन्दी धातुओं के वैकल्पिक रूपों का एक कारण यह भी है ।

८८. अकर्मक और सकर्मकधातुओं का विभाजन व्याकरण ग्रन्थों में वर्णित 'अ' और 'आ' के आधार पर संभव नहीं है । हिन्दी की अनेक धातुएं ऐसी हैं जिनके धातु रूप को न अकर्मक कह सकते हैं और न सकर्मक । ऐसी स्थिति में केवल क्रिया के फल और व्यापार ही उसके वास्तविक रूप का द्योतन कर सकते हैं । उदाहरण के लिये - बूंद बूंद से घड़ा भरता है (अक०), और, वह अपना घड़ा पानी से भरता है (सक०), उसका कान खुजलाता है (अक०), वह कान खुजलाता है (सक०) । इस प्रकार अकर्मक से सकर्मक और सकर्मक से अकर्मक और प्रेरणार्थक बनाने की जो प्रक्रिया दिखाई पड़ती है, उसके पीछे क्रिया का इतिहास भी है । वे धातुएं जो- भर् - की भांति सकर्मक रूपों से विकसित हुई हैं वस्तुत: उनका अकर्मक धातु रूप नहीं होता है, वरन् भाववाच्य में उनके प्रयोग अकर्मक हो जाते हैं । हिन्दी-व्याकरण

---

१. चटर्जी- वही,

(ख) सक्सेना- 'द वर्ब इन द रामायन आव् तुलसीदास', ए०यू० स्टडीज़, १९२६, पृ० २२६-२७ ।

के अनुकूल इन्हें उभयविध धातु कहना कुछ अनुचित नहीं है । इसके विपरीत बहुत से धातु रूप ऐसे हैं जिनमें `अ` - `आ` स्वरों के परिवर्तन से अकर्मक को सकर्मक और सकर्मक को अकर्मक बनाते हैं - मर्- मार, कट-काट आदि । किन्तु ऐसे रूपों में ऐतिहासिक दृष्टि से वाच्य-परिवर्तन से विकसित धातुएं भी हैं । यद्यपि ऐसी धातुओं का वर्गीकरण किया जा चुका है, फिर भी इस सन्दर्भ में दोनों रूपों की विकासात्मक स्थिति को देखते हुए उनके स्रोत को भी ध्यान में रखना चाहिए । उदाहरण के लिए छुट् - छोड़्, जुट्- जोड़्, टूट् - तोड़्, फट्-फाड़्, फूट्-फोड़् धातुओं को देखा जा सकता है । इन धातुओं के अकर्मक और सकर्मक रूपों में व्याकरण ग्रन्थों की दृष्टि से कोई समानता नहीं है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से इन्हें अकर्मक-सकर्मक रूप कहा जाता है । इनकी व्युत्पत्ति के विचार से यह एक मूल से उत्पन्न किन्तु भिन्न रूपावली से विकसित धातु हैं (प्रथम अध्याय देखिये) । लेकिन इस सादृश्य के आधार पर लुट्> लोट् नहीं हैं । लुट् का सकर्मक रूप लूट् (लूटना) और लोट् (लोटना-पोटना) स्वतन्त्र धातु है ।

८६. अकर्मक और सकर्मक रूपों के विवेचन में भर्तृहरि का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि कर्म के पृथक् रहने पर सकर्मक धातु भी अकर्मक बन जाती है । यह चार प्रकार से होता है । (१) धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो, जैसे -`वह्` सकर्मक धातु है और इसका प्रसिद्ध अर्थ है` ढोना या ले जाना - `भारं वहति` अर्थात् `भार ढोता है` । जब - वह् - धातु `बहने` के अर्थ में आती है तो अकर्मक हो जाती है, जैसे` नदी वहति` अर्थात्` नदी बहती है` । (२) धातु के अर्थ में ही कर्म का अन्तर्भाव होने से भी धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे - `प्राणान् धारयति` अर्थात् प्राणों को धारण करता है, अथवा `प्राणान् जहाति` अर्थात् प्राणों का त्याग करता है । यह दोनों ही सकर्मक रूप हैं । इनके स्थान पर क्रमशः `जीव्` - जीना और `मृ` - मरना के प्रयोग करने पर उनके अर्थों में कर्म `प्राण` का समावेश हो जाने से यह अकर्मक हो जाती हैं, जैसे -` वह जीता है` और` वह मरता है` । (३) प्रसिद्धि से धातुएं अकर्मक हो

जाती है। 'वृष्' सकर्मक धातु है - जैसे -'देवो जलं वर्षति' अर्थात् 'मेघ जल बरसाता है।' लेकिन प्रसिद्धि के कारण 'वर्षति' -'बरसता है' कहा जाता है। यहाँ प्रसिद्धि के कारण कर्म का प्रयोग न होने से धातु अकर्मक बन गई है।
(४) कर्म की अविवक्षा से धातु अकर्मक हो जाती है। 'दा' धातु सकर्मक है, किन्तु 'दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति' अर्थात् सन्यासी या दीक्षाप्राप्त व्यक्ति न देता है, न पकाता है और न यज्ञ करता है। यहाँ कर्म अभिप्रेत न होने से देना, पकाना और हवन करना धातुएं सकर्मक होते हुए भी अकर्मक अर्थ में प्रयुक्त हैं।

६०. हिन्दी में भी इन तथ्यों का धातु के अकर्मक और सकर्मक रूपों के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत की उक्त 'वह्' धातु तीन रूपों में उपलब्ध है। सकर्मक रूप में 'वह्' से 'ऊढ' और ऊढ से हिन्दी 'ओढ़्' का विकास हुआ है। 'वहति' से 'बहना' अकर्मक धातु का विकास हुआ है। 'बह्' का तीसरा प्रयोग' उठ्' के अर्थ में तुलसी में द्रष्टव्य है -' बहै न हाथ दहै रिसि छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती।' जीना और मरना तो अकर्मक रूप हैं ही। तीसरे रूप के अन्तर्गत बरसना और बरसाना क्रमशः अकर्मक और सकर्मक हैं। चौथे रूप का भी हिन्दी पर प्रभाव दिखाई पड़ता है, जैसे - पचना, पचाना और पकना, पकान आदि। इस प्रकार सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही रूपों में भर्तृहरि की उक्त व्याख्या को हिन्दी के अकर्मक और सकर्मक रूपों की स्थिरता में सहायक माना जा सकता है। भर्तृहरि का मूल सिद्धान्त यह है -

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिकाक्रिया॥ - वाक्य०३, पृ० २३४

६१. संस्कृत में भर्तृहरि (वाक्य ३, पृ० २३५) के अनुसार उपसर्ग और काल आदि के भेद से भी सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती है, जैसे -'चर्' (जाना) धातु सकर्मक है, किन्तु 'उत्' उपसर्ग के संयोग से अकर्मक भी हो जाती है, 'वाष्प उच्चरति' (भाप उठती है) या' धूम उच्चरति' (धुआं उठता है) में यह अकर्मक है। इसी प्रकार पतंजलि ने अकर्मक धातुओं को उपसर्गयुक्त होने पर उनको

सकर्मक बन जाना कहा है (अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति । - महा० १,१,४३) । जैसे - 'भू' धातु अकर्मक है, किन्तु 'सुखं अनुभवति' में 'अनु' उपसर्ग के कारण सकर्मक बन जाती है । हिन्दी में इस प्रकार विकासात्मक रूप में अनेक धातु हैं जिनके अकर्मक और सकर्मक रूप इन कारणों से भी मिलते हैं, लेकिन हिन्दी की अपनी धातुओं में उपसर्ग नहीं लगते ।

६२. 'धातु' नाम से दो तीन धातुरूपों पर विचार करना आवश्यक है । रामलोचनशरण तथा कुछ अन्य विद्वान भी इच्छार्थक धातु[१] निर्मित करते हैं , जैसे- बकना - बकवासना, भूकना - भुकवासना । संभव है कि इसका अनुकरण किसी ने किया हो, लेकिन निश्चयात्मक रूप से न तो इन्हें धातु मान सकते हैं और न तो 'वास' को क्रिया-प्रत्यय ही कह सकते हैं । यह शिष्ट प्रयोग भी नहीं हैं । यह स्थानीय बोली के ही प्रयोग हो सकते हैं, क्योंकि हिन्दी की अन्य बोलियों में भी यह क्रिया-रूप प्राप्त नहीं होते । इसके विरुद्ध - आस- प्रत्यय के संयोग से कृदन्तीय शब्द- भाववाचक संज्ञा[२] बनते हैं, जैसे - लिखास, छपास, आदि । भुंकवास, रोवास, सोवास में - आस - का- वास- ध्वन्यात्मक कारणों से हो गया है ।

६३. कामताप्रसाद गुरु के अनुकरण पर मुरलीधर श्रीवास्तव[३] आदि ने हिन्दी में 'संयुक्तधातु' भी भ्रमवश मान लिया है । इनके अनुसार 'एक धातु में एक या दो धातु जोड़ने से संयुक्त धातु बनते हैं ।'[४] अन्यत्र वे लिखते हैं कि 'संयुक्त धातु कुछ कृदन्तों की सहायता से बनते हैं ।'[५] ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी में

---

१. व्याकरण चन्द्रोदय, पृ० १२३

२. गुरु- हिं०व्या०, पृ० ३५६ तथा भो०ना०तिवारी-हिन्दी भाषा, पृ० २।१३४

३. हिन्दी धातुकोश, पृ० २०

४. गुरु, वही, पृ० १२८

५. गुरु, वही, पृ० १३४

धातु और क्रिया दोनों को एक मानने के कारण ही संयुक्त क्रिया को संयुक्त धातु कहा गया है। हिन्दी में संयुक्तक्रिया तो होती है किन्तु संयुक्त धातु नहीं होती। संस्कृत की 'या' और 'गम्' धातुओं से विकसित क्रमशः 'जा' और 'गया' के रूपों से 'जा' की रूपावली हिन्दी में प्रतिष्ठित है। फिर भी इन्हें संयुक्त धातु नहीं माना जाता। इसी प्रकार एक संयुक्त रूप धातुओं का प्राप्त है -'ला'। यह वस्तुतः 'ले+आ' दो धातुओं की संधि के कारण है। इसी प्रकार अनुकरणमूलक या ध्वन्यात्मक धातुओं के अन्तर्गत पुनरुक्तिमूलक धातुओं को अतिशयार्थक[१] धातु नाम दिया गया है। इन्हें अभ्यासबोधक भी कहा गया है। अपनी रूपरचना और अर्थ में यह न तो अतिशयार्थक हैं और न अभ्यासबोधक। इनका विवेचन यथा स्थान किया जायेगा।

(इ) धातु और क्रियार्थक संज्ञा -

९४. भारतीय व्याकरण-शास्त्र के लिये क्रियार्थक संज्ञा नवीन नाम है। क्रियार्थक संज्ञा अंग्रेजी के 'जीरण्ड, वर्बल नाउन और इन्फ़िनिटिव्' लिये हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी के 'ना' प्रत्ययान्त क्रिया रूपों - करना, होना, खाना, पीना - आदि को केलाग 'इन्फिनिटिव्' मानते हुए यह कहते हैं कि "उच्च हिन्दी का इन्फ़िनिटिव् वास्तव में जीरण्ड या वर्बल नाउन है।"[२] हिन्दी-सम्बन्धी प्रायः सभी भाषाशास्त्रीय और व्याकरण ग्रन्थों में यह शब्द इन्हीं तीनों अर्थों में स्वीकृत है। संभवतः अकेले किशोरीदास वाजपेयी ने इन रूपों को कृदन्त-भाववाचक संज्ञा कहा है लेकिन वहीं वे इसे 'क्रियासामान्य के वाचक' भी कहते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के कृदन्तीय रूपों के विविध प्रयोग अन्य भारतीय भाषाओं में भी मिलते हैं। बंगला के संदर्भ में डा० चटर्जी ने - ना - अना - प्रत्ययों पर विचार करते हुए इसे क्रिया का

---

१. रा०लो०शरण- व्या०चं०, पृ० १२५

२. केलाग-हिं०ग्रा०, पृ० ३८६ (अनुवाद-लेखक)

साधारण रूप ही माना है ।[१] यह -ना - प्रत्यय किंचित् रूप और ध्वनिभेद से ब्रज (-नो), पंजाबी (-णा), राजस्थानी (णा), बंगला (अना) आदि में मिलता है । इसी प्रकार - अब - इब- ब- बा - प्रत्यय पूर्वी हिन्दी, बिहारी और बंगला आदि में क्रियार्थक संज्ञा के अर्थ में ही मिलते हैं ।

६५. हिन्दी में -ना- अना- प्रत्ययान्त क्रिया रूपों का उपयोग क्रिया के साधारण रूप, क्रियार्थक संज्ञा या कृदन्त और विशेषण आदि के रूप में किया जाता है । शब्दकोषों में धातु के बोधक रूप में क्रिया के इन्हीं साधारण रूपों का उल्लेख किया गया है । डा० मुरलीधर श्रीवास्तव ने करना-चलना- होना आदि रूपों को 'संज्ञार्थक क्रिया'[२] कहा है । वस्तुत: 'क्रियार्थक संज्ञा' अधिक सार्थक शब्द है, क्योंकि विकासात्मक रूप में यह कृदन्त हैं और प्रयोग में कभी कभी क्रिया का भी कार्य सम्पादित करते हैं ।[३]

६६. इन क्रियार्थक प्रत्ययों - ना - ब-आदि का प्रयोग प्रत्येक प्रकार की धातु के साथ होता है । जैसे - कटना (अक०), काटना (सक०), कटाना या कटवाना (प्रेरणा०) अथवा अवधी आदि में क्रमश: कटब, काटब, कटाउब, कट-वाउब आदि । इस सम्बन्ध में डा० चटर्जी प्रेरणार्थक धातुओं में -आना- आनो- प्रत्यय मानते हैं ।[४] लेकिन यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यह प्रेरणा-र्थक प्रत्यय- आ-आव-वा- के अनन्तर ही लगते हैं और - आ- के संयोग की कोई स्थिति नहीं है । अत: उक्त चारों रूपों में - अना-ना- रूप ही मान्य हैं । उक्त उदाहरणों में - कट्-+आ-+ना - कटाना अथवा कट्-+वा+ना - कटवाना रूप द्रष्टव्य हैं । इनमें - आ-वा- प्रेरणार्थक प्रत्यय हैं और -ना- संज्ञार्थक कृदन्त

---

१. बें० लें० - पृ० ७४३- ७४७ तथा तैसीतरी-पु०राज०, पृ० १७६-७७

२. हिन्दी धातुकोश-पृ० ११

३. गुरु- हि०व्या०, पृ० २७१-७२

४. बें०लें०, पृ० ७६०

प्रत्यय है । इन रूपों की व्युत्पत्ति के लिए देखिये क्रियार्थक संज्ञा-(अनु० १९२-१९८) ।

प्रेरणार्थक -

९७. हिन्दी की प्रेरणार्थक धातुओं का सम्बन्ध संस्कृत की णिजन्त प्रक्रिया से माना जाता है । लेकिन हिन्दी के प्रेरणा-प्रत्ययों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है । साधारणत: हिन्दी-क्रियाओं के विकास में दो तथ्य अधिक उचित कहे जा सकते हैं —ध्वनिगत परिवर्तन और सरलीकरण की प्रवृत्ति । इसके साथ यह भी सत्य है कि संज्ञा की भाँति क्रिया के भी रूप-विधान में प्राकृत युग में उसे एक ही शैली में नियोजित करने की प्रवृत्ति थी । ध्वनि-परिवर्तन का एक अर्थ ध्वनिसाम्य इस रूप में ले सकते हैं कि संस्कृत के चुरादि - प्रत्यय और णिजन्त प्रत्यय के रूप में अन्तर नहीं, अन्तर उनके प्रयोग में है । परवर्ती काल में इसका एक प्रभाव यह हुआ कि णिजन्त प्रत्यय- अय्- और चुरादि प्रत्यय - अय् - अधिकांशत: सकर्मक अर्थ में प्रयुक्त होने लगे । इन दोनों के एकीकृत रूप से अथवा दोनों के रूप साम्य के कारण भी कम भ्रम नहीं पैदा हुआ । यद्यपि हार्नले[3] और चटर्जी[4] महोदय ने हिन्दी की अनेक सिद्ध धातुओं का विकास संस्कृत णिजन्त से माना है, किन्तु उनके द्वारा दिए सिद्धान्तगत उदाहरण मूलत: हेमचन्द्र के व्याकरण[5] पर ही अवलम्बित हैं । फलत: उन्होंने चुरादि के - अय्-का कोई स्पष्ट विवेचन नहीं दिया । यही कारण है कि हिन्दी की सकर्मक धातुओं के रूप विकास का Reflexive अर्थ[6] में प्रयोग का युग भी सूचित किया गया ।

---

१. हार्नले - हिन्दी रूट्स - जे०ए०एस०बी० १८८०

२. बुलर - इं०प्रा० ११३

३. हार्नले - हिन्दी रूट्स

४. वे०लै० - ६२०

५. प्राकृत व्याकरण- ३-१४९-१५३

६. तिवारी- हि०भा० उद्०वि० , ३९२

सत्यता यह है कि प्राकृत युग में ही धातुओं के दस गणों के स्थान में केवल दो ही गण[1] रह गए। परिणामत: यह कहना अधिक सार्थक है कि हिन्दी-क्रियाओं के सकर्मक रूपों का विकास चुरादि और णिजन्त के इस एकीकरण से भी हुआ। मौनियर विलियम्स[2] ने अकर्मक धातुओं के प्रेरणार्थक रूप में उनके सकर्मक भाव को पूर्णतया सिद्ध कर दिया है।

६८. विकास की इस परम्परा में नामधातुओं के प्रत्यय भी माने जाते हैं, जो इस सम्बन्ध में नवीन भ्रम की सूचना देते हैं। टी०बरो[3] का यह कथन, कि संस्कृत युग के बाद यह प्रत्यय नष्ट हो गये, अथवा डा० ~~बाबू~~ चटर्जी[4] के अनुसार णिजन्त रूपों ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि वे उसी में अन्तर्भुक्त हो गए, अंशत: सत्य कहे जा सकते हैं। वस्तुत: णिजन्त, चुरादि और नामधातुओं के प्रत्ययों के विविध वैकल्पिक रूपों में उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्रयोग पर अधिक निर्भर हुआ, रूपभेद पर बहुत कम। हिन्दी-णिजन्त और नामधातु के प्रत्यय और प्रयोग-प्रक्रिया की भिन्नता इस भ्रम का निवारण कर सकती है।[5] इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा भ्रम डा० तैसीतोरी[5] को हुआ। राजस्थानी नामधातु के -अव- प्रत्यय को वे प्रेरणा प्रत्यय मानते हैं, जो वस्तुत: 'य' और 'व' श्रुति का परिणाम मात्र है और संस्कृत नामधातु-अय- का विकास है, न कि प्रेरणा-प्रत्यय। किन्तु हिन्दी ही नहीं प्राकृत युग में भी णिजन्त, चुरादि और नामधातु के वैकल्पिक - प्रत्यय रूपों के होते हुए भी उनमें ध्वनि-साम्य के साथ-साथ स्पष्ट

---

१. बुलर- इं० प्रा० ११३

२. सं०ग्रा० ४७६

३. द संस्कृत लैंग्वेज, पृ० ३५६-५७

४. बैंले-७६५

५. पुरानी राजस्थानी, १४२

के संयोग से - आपय-प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होते थे, -वा - प्रत्यय का विकास हुआ । संस्कृत में यह रूप मिलते हैं :--

१. धातु+अय - कृ - कारयति , बुध् - बोधयति ।
२. धातु +प +अय - दा - दापयति, गै - गापयति ।

१०२. पालि युग में इनके सम्मिलित विकास की चार प्रक्रियायें मिलती हैं - कारेति, कारयति, कारापेति, कारापयति ।[१]संभवत: इन्हीं रूपों को देखकर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने यह कहा था कि पालियुग में वैकल्पिक [२] प्रयोगों को मान्यता मिली । उन्होंने एक अन्य रूप `पाचति`[३]का भी उल्लेख किया है । अशोक की धर्मलिपियों में दो रूप मिलते हैं -- वे-ति` - अणुवट्ठावेति और - आपयित - भोजापयित । सुविधा की दृष्टि से शिलालेखी प्राकृत के समस्त रूपान्तर यहां नीचे दिये जाते हैं :--

(क) -ए - ति - वसीकारेति ,
(ख) - आपयति - - वन्धापयति, वन्दापयति,
(ग) आपित - कारापित, समापित, परिथापित, ~~(क)~~
(घ) पेति- निबधापेति, रक्खापेध, दापेय
(ङ०) वे - ति - अणुवट्ठावेति ,
(च) अयति - कारयति, पवेसयति, अनामयन्ति ,
(छ) आपयित- भोजापयित,
(ज) आइत- कारित, खानित, स्रावित (झ) पेज्जा, वेज्जा, पेतव्व- कारापेज्जा, करवेज्जा, परिहपेतव्व ।

---

१. था दो ऑग - पालि ग्रामर, पृ० १६५ । जगदीश काश्यप- पा० महा०, पृ० २० २१३
२. धी०वर्मा- हिं०भा० इति०, पृ० ३०५
३. वही

शिलालेखी प्राकृत का विस्तृत अध्ययन डा० मेहन्दले[१] ने प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि उस विस्तृत विवेचन को संक्षिप्त करके देखें तो स्थान- भेद से इनका वर्गीकरण कुछ इस प्रकार होगा :-

पश्चिमी	पश्चिमोत्तरी	दक्षिणी	केन्द्रीय	पूर्वी	उत्तरी
------	-------	वेति	-----	अयति आपयति एति	--
पे-हि आपित	--------	पे - हि	पे- ध	---	----
----	------	पेज्जा वेज्जा	पेय ---	------	---
पयित	----	पेतव्व	---	----	----
आइत	---	----	----	----	----

शिलालेखी प्राकृतों के इन समस्त रूपान्तरों में पश्चिमोत्तरी और उत्तरी के उदाहरण प्राप्त नहीं हैं ।[२] बहुत संभव है कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों से चार में से तीन रूपान्तर (अय, ए, आपय) केवल पूर्वी में प्राप्त होते हैं । अन्यत्र - पे- और - वे - मिलते हैं । इनमें भी -वे - और - ए - रूप - अय - के विकसित रूप हैं । आगे चलकर मध्यवर्ती स्पर्श - प - का विकास - व - में हो गया । इस प्रकार संस्कृत - अय- का प्रेरणार्थक रूप इसी युग में समाप्त होने लगा, अथवा समानता के कारण चुरादि में अन्तर्भुक्त होने लगा और - आपय-तथा - वे - प्रत्यय वास्तविक प्रेरणार्थक के रूप में व्यापक होने लगे ।

---

१. हि०ग्रा०इं०प्रा० - २०३, २०८, २५६-५८,२६१,३०८-६, ३५५
२. वही, ४३३-३६,४४१.

अत: टी०बरो[१] और डा० चटर्जी[२] के यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं माने जा सकते कि संस्कृत - प - तब तक व्यापक होता रहा जब तक कि अन्य प्रेरणार्थक रूप समाप्त नहीं हो गये।

१०३. शिलालेखी प्राकृत की पतनोन्मुख अवस्था अथवा बौद्ध संस्कृति के ह्रास के साथ-साथ संस्कृत का पुनर्गठन और साहित्यिक प्राकृतों के विकास का युग[३] भी सम्बद्ध है। इस युग में वररुचि[४] और हेमचन्द्र[५] के अनुसार प्रेरणा के - इ - ए- आव- आवे - रूप मिलते हैं। किन्तु कर्म और भाववाच्य में भूतकालिक कृदन्त का - आविय - वैकल्पिक रूप में प्राप्त होता है और - क्त- के रूपों में - ए - और -आवे - रूप नहीं मिलते। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इनकी समानता द्रष्टव्य है :-

महा०	जै०म०	शौ०	मा०	अ०मा०
१,२-अइ।ए	अइ।ए	अइ।ए	अइ।ए	अइ।ए
३,४आवेइ।वेइ	आवेइ।वेइ	आवेइ।वेइ	आवेइ।वेइ	आवेइ।वेइ
५.आविअ	आविय	आविअ।य	आविअ	आविय

उदाहरण :-१,२ - महा० कहेइ, चिन्तेइ, ठवइ। जै०म० कहेमि, चिन्तेसि दलइ शौ० चिन्तेहि, तक्केमि, उग्घाडउ,पाडइ, मा० तक्केमि, कधेदि, दलइ। अ०मा०-

---

१. सं०लै०, पृ० ३५७
२. बैले०- ७५६
३. राइस डेविड्स - बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० १५४-५५
४. प्रा०व्या० - ७-२७, २८,२६
५. प्रा० व्या० - ३-१४६-५३

कहेइ, वेढेहि, चिन्तेइ, दलइ ।

३-४ — म० रुआवेइ, ठवेइ । जै०मह१० जाणावेइ, आणावेइ, ठवेइ । शौ०हसावेइ घडावेहि, ठवेइ । मा० कारावेइ, करावेइ, आणावेइ । अ०मा० आघावेइ, आणावेइ, किणावेइ, किणावइ, ठवेइ ।

५ :— म० विहडाविअ, रोआविअ, रुआविअ । जै०म० काराविअ । शौ० जीवाविअ, हंसाविय । मा० कराविअ । अ०मा० आघविय, कराविअ ।

१०४. पिशल ने - ए - (अइ) का विकास संस्कृत- अय- और - वे- (आवेइ। वेइ) का - पय- से माना [1] है । इसके विपरीत डा० चटर्जी पुरानी कौसली[2] के विवेचन में - व- प्रत्यय का विकास - आपय- और-अय-दोनों से मानते हैं, किन्तु बंगला भाषा[3] के विवेचन में इसे मूल क्रिया-रूप में अन्तर्भुक्त मानते हैं । वुल्नर के प्रमाण[4] पिशल से मिलते हैं । इस प्रकार व्याकरण और मूल ग्रन्थों तथा भाषा-शास्त्रीय प्रमाणों को अच्छी तरह जांचने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत और प्राकृत की णिजन्त-प्रक्रिया का विकास - आ - प्रत्यय के रूप में दो प्रकार से हुआ - (१) सकर्मक रूप में और (२) प्रेरणार्थक रूप में । इनमें सकर्मक रूप अधिक हैं, प्रेरणार्थक रूप कम । अत: डा० तिवारी का यह सिद्धान्त, कि प्रा०भा०आ० की णिजन्त प्रक्रिया खो देने पर हिन्दी ने नवीन प्रक्रिया अपनाई[5] सत्य नहीं है । वस्तुत: आधुनिक - आ - प्रत्यय वाले प्रेरणार्थक रूप प्राकृत अपभ्रंश के बहुचर्चित -

---

१. प्रा०भा०व्या० - ५५१
२. उक्ति व्यक्ति प्रकरण - स्टडी, पृ० ६४-६५
३. बं०लै० ६२३, ६७७, ७६६
४. इं० प्रा० - ११३-१४
५. हिं०भा०उद्०वि० ३६२

-आवे- रूप से व्युत्पन्न हुए हैं — करावे (इ), रक्खावे (इ), पुच्छावे (इ)।

१०५. प्रारंभिक अपभ्रंश के रूप प्राय: प्राकृत के ही समान रहे। किन्तु गणों, कालों, प्रत्ययों आदि के सरलीकरण और एक रूपता की प्रवृत्ति के कारण क्रिया की रूपात्मक विशेषता प्रयोग पर भी निर्भर हो गई। दोहाकोष से लेकर चर्यापदों और कीर्तिलता तक, स्वयंभू से लेकर अब्दुल रहमान और प्राकृत पैंगलम् तक तथा हेमचन्द्राचार्य से लेकर दामोदर पंडित और औक्तिक पदानि तक आते-आते क्रिया रूपों में हिन्दी-युग की सूचना मिलने लगती है। उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में प्राप्त क्रियाओं के रूप इसी प्रकार[1] के हैं। इनके रूप विकास की प्रकृति संश्लिप्तता की ओर अधिक थी। औक्तिकपदानि[2] और राउलवेलि[3] के उदाहरणों में अपभ्रंश की समाप्ति हो जाती है और उक्तिव्यक्ति प्रकरण में भी। वास्तविकता यह है कि जिस हिन्दी-युग का प्रारम्भ ८ वीं शताब्दी से हुआ उसकी विकसित अवस्था के यह व्याकरण अथवा काव्यग्रन्थ हैं। इन्हें संक्रान्तिकालीन नहीं मान सकते, जैसा कि इनके सम्बन्ध में बारबार कहा गया[4] है। अत: विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त और विद्वानों द्वारा विवेचित अपभ्रंश के रूप नीचे दिए जाते हैं।

१०६. डा० तगारे[5] ने अपभ्रंश के जिन प्रत्ययों का उल्लेख किया है उनके विकास आदि के प्रति, लगता है, वे स्वयं आश्वस्त नहीं हैं। उन्होंने निम्नलिखित प्रत्यय दिए हैं :--

(१) - अव- (उत्तरी तथा पश्चिमी), - अब - (पूर्वी) - दावइ, दहाबिय, झंखाअइ, णासइ, भेसावइ, खाविय।

---

१. स्टडी - ७०, ८६

२. उ०र०, पृ० ७३

३. हिन्दी अनुशीलन- धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक - पृ० २१ - ३१

४. उ०व्य०प्र०-स्टडी - १

५. हि०ग्रा०अप० - १३४

(२) आव- णाच्चावइ, बोल्लावइ , चडाविय, रणाविय ।

(३) मूलक्रिया और प्रेरणा की समानता - णासइ (नाश्यति, नाशयति), दलइ (दलति, दलयति) ।

(४) द्वित्व प्रेरणार्थक (द्वितीय प्रेरणार्थक ?) काराविय, खावाविय देवाविय, हारावेइ ।

(५) आधुनिक शैली के - आड्, आड़ , आल् - भमाडइ , वढारइ, देक्खालइ ।

(६) तत्समरु चिरता - जणाइ (जनयति), आवट्टइ (आवर्तयति) ।

द्रष्टव्य है (अनु० ६३) कि आविय । आबिय विशिष्ट प्रत्यय न होकर कर्म और भाववाच्य में भूतकालिक कृदन्त के वैकल्पिक रूप हैं । इन्हें द्वित्वप्रेरणार्थक कह ही नहीं सकते ।

१०७. राहुल जी[१] ने मागधी अपभ्रंश में तीन प्रत्ययों का उल्लेख किया - (१) - आइ - - चाली (ब०४) , (२) - आव - - करावै, (३) - वइ - मैलवै (स० ५३। इनके अतिरिक्त दोहाकोष में दो रूप और हैं जिनका उल्लेख राहुल जी ने नहीं किया - मैलविय (सं० ५४) और सरहपा में मैलाविय है । चर्यापदों में -आव- (बन्धावए - चर्या० २२) मिलता है। अवधी के० पूर्वरूप का सम्बन्ध डा० सक्सेना - सं० - आप- आव-[२] मानते हैं । कीर्तिलता[३] में - आवै- आए-आव- रूप प्रयुक्त हुए हैं । संदेशरासक[४] में - अव-आव- हैं । इनके पूर्व स्वयंभू[५] ने एक - वैवि रूप का भी प्रयोग किया था । जिनदत्त सूरि[६] में - आवइ- (जग्गावइ) मिलता

---

१. दोहावली कोष, भूमिका, पृ० ४६

२. इ०अव० - ३४८, किन्तु उ०अ०प्र० में - आव-अव-आ-आअ-रूप मिलते हैं।

३. विद्यापति - कीर्तिलता - ३।२८, २।१८४, २-१६०, २।२०३, १।८६ ।

४. भायाणी- संदेशरासक - १८

५. प०च० - ३८-३

६. हिन्दी का०धारा, पृ० ३५६

है । इस प्रकार (उक्तिव्यक्ति प्रकरण और - आविय-रूप को छोड़कर) सम्मिलित रूप में देखा जाय तो विभिन्न अपभ्रंशों में निम्नलिखित प्रेरणा प्रत्यय प्राप्त होते हैं ।

१. शून्य (0) अथवा - अ - प्रत्यय (तगारे की तत्सम रुचिरता)
२. अव । आव । आ
३. आइ
४. आवे । आए
५. वइ। वे (वि)
६. आड् , आड़्, आल् , आर्

इस विवेचन के अनन्तर दो तीन महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं । डा० तगारे ने अपभ्रंश के केवल तीन रूपों[१] -पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी पर विचार किया है । इसी प्रकार डा० नामवर सिंह द्वारा विवेचित प्रेरणा-प्रत्ययों (आव-अव-आअ - आ)[२] को, और उक्ति व्यक्ति प्रकरण को परवर्ती अपभ्रंश[३] (न कि पुरानी अवधी) मानने से केवल पूर्वी रूपों को ही मान्यता मिली । प्रो० भायाणी -अव - आव- को एक ही मानते हुए दीर्घ स्वरान्त धातुओं में - आव- का - अव-[४] होना बताते हैं - ठा- ठवइ, संठवइ । कभी कभी प्रेरणा के - व- का लोप [५] भी माना है । इस प्रकार - अव - आव- आ- रूप भेद से एक ही ठहरते हैं । कीर्तिलता का - आए- प्रत्यय-आवे- का विकसित रूप है । तगारे की आधुनिक शैली के - आड़, आड, आल- (आर) - वस्तुत: एक ही प्रत्यय के ध्वनि रूपान्तर हैं । अतएव आ०भा०आ० भाषाओं के पूर्व अथवा संक्रान्ति काल तक के इन प्रेरणा-प्रत्ययों को निम्नलिखित रूप में संयोजित कर सकते हैं -

---

१. हि०ग्रा०अप०, ८
२. हि०वि० अप०यो०- पृ० ७६
३. वही, पृ० ८३
४. संदेशरासक,भूमिका,-१८
५. वही, ३५

(१) - आ- । आव आवै। आइ। आए । आवै । अव । वइ । वै । अ .

(२) आड। आड़ । आल । (आर)

विशेष -

शून्य (०) अथवा - अ - अथवा तत्सम रुचिरता । इसका प्रेरणार्थक रूप में विकास नहीं मिलता ।

१०८. प्रेरणार्थक के - आड, आड़, आल, आर - रूपों के विकास के प्रति कई मत दिखाई पड़ते हैं । (१) डा० तगारे इन रूपों को आधुनिक शैली का तो मानते हैं, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है ।[१] और यदि यह सचमुच आधुनिक आर्यभाषा काल की प्रवृत्ति है तो हेमचन्द्र द्वारा विवेचित अपभ्रंश पांच सौ वर्ष और पहले की अपभ्रंश है (२) यह संस्कृत प > व और चैत्रीय भाषाओं के प्रभाव-स्वरूप व > र [२] का विकास है, अथवा इनकी व्युत्पत्ति अस्पष्ट है ।[३] (३) यह - ल - पालि अथवा प्राकृत-स्वार्थिक प्रत्यय- ल्ल- से और - ड - र- प्राकृत- ड - से विकसित हैं ।[४] (४) यह नामधातुओं से विकसित हैं ।[५] (५) -ल- -र - का विकास सं० -ल- से हुआ है ।[६] ध्यान से देखने पर तगारे का कथन

---

१. हि०ग्रा०अप० - १३४

२. डा० सक्सेना - " द वर्ब इन द रामायण आव तुलसीदास " - ए०यू० स्टडीज, १६२६, पृ० २३६

३. इ० अव०, ३४८ (द्रष्टव्य है कि डा० सक्सेना ने दोनों स्थानों पर अवधी भाषा का ही विवेचन किया है - लेखक)

४ (क) ग्रियर्सन - "आन इर्रेगुलर काज़ल वर्ब्स इन द इंडोवर्नाक्यूलर्स" - जे०आर० ए०एस बी० - १८६६, पृ० १-५

(ख) तेसीतोरी- पु०राज० - १४१ -३, १४६, २६

५. ब्रगमैन - डा० सक्सेना द्वारा उद्धृत - इ०अव०,पृ० २६० फुटनोट, तथा ग्रियर्सन द्वारा विशेषरूप से उल्लिखित - जे०आर०ए० एस०बी० -१८६६,पृ० १-५

६. केलाग - हिं०ग्रा० - ६०६-१ । चटर्जी- उ०ब०प्र०-स्टडी - ८३-६ । तिवारी- ३६४

अप्रमाणित है और डा० सक्सेना में सिद्धान्त-भेद । ब्रगमैन का पूर्णतया खण्डन ग्रियर्सन ने अपने लेख में कर दिया है, किन्तु वे स्वयं अपनी स्थापना से सहमत नहीं हैं । यही कारण है कि एक ओर वे - ल - का सम्बन्ध प्रा० - ल्ल- (अल, अल्ल, इल्ल, उल्ल)[१] से जोड़ते हैं और दूसरी ओर - ड़ - र - रूपों को प्रा० - ड - से तथा - ल - रूप की संभावना भी - ड - से व्यक्त करते हैं । तैसीतौरी का मूल आधार हैमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण (४।३०) है । उन्होंने - ड - को - व - के स्थान पर स्वार्थिक अथवा श्रुतितत्व मानते हुए धातु के - आ- और प्रत्यय की संधि बचाने की संभावना व्यक्त की है, जो विशेष महत्वपूर्ण है । -आर्- आल- तैसीतौरी के अनुसार, - आड- से निकले हैं [२] और ड़ > र - का परिवर्तन ध्वनि-परिवर्तन है ।[३] कैलाग और डा०तिवारी ने केवल - ल - का विवेचन किया है और डा० चाटुर्ज्या -र्-ल - को परस्पर परिवर्तनीय कहते हैं । नीचे - ल - - र - ड- ड़- रूपों के विकास पर सम्यक् रीति से विचार किया जाता है ।

१०६. संस्कृत - ल - विकरण का विकास दो रूपों में हुआ - (१) -ल- रूप में विकसित हुआ और परवर्ती - र- इसी से निकला है, मध्यदेश और पूर्वीप्रान्तों में यही दो रूप प्राप्त होते हैं । द्रष्टव्य है कि पूर्वी अपभ्रंश में ट-वर्गीय ध्वनियों की बहुलता नहीं है ।

(२) प्राकृत - ड- अथवा - ड-ड़- रूपों का विकास-ल> ळ> ड, ड़ - रूप में हुआ है ।

११०. पालि और प्राकृत में - ट , ड, ण - का परिवर्तन - ल - अथवा - ळ - में हो जाता है (वर० २- २२,२३, चंड ३-२१, है०च० १-१४६ १६७ - ६८, २०२, २०३ , क्रम० २ - १२ - १३, मार्क० - पन्ना १६) । वर-

---

१. है०च० - प्रा०व्या० - २ - १६४-६६, १७३, ~~४-१७३~~,४-४२६-३०

२. पु०राज०-१४१-३

३. वही-२६

रुचि, चंड और मार्कण्डेय ने - ड- के स्थान पर - ळ - लिखने की व्यवस्था दी है, भामह वैकल्पिक रूप में - ड - या - ळ - लिखने की छूट देते हैं । मल्लिनाथ ने स्पष्टत: `डलयोर् अभेद:` लिखा है और हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि २५८, सरस्वती कंठाभरण पृ० ६८, वाग्भट - अलंकारतिलक पृ० १४, साहित्यदर्पण २६१ - ११ में - ड - और - ल - को एक समान कहा गया है । इनके अतिरिक्त एक अज्ञातनामा प्राकृत वैयाकरण ने - यवरडांल:[1] का भी उल्लेख किया है । पालि के सम्बन्ध में पिशल ने[2] (ए०कून कृत बाइत्रैगे पृष्ठ ३६, ए०म्युलर कृत सिम्पलीफाइड ग्रैमर पृ० २७, एपिग्राफिका इंडिका २,३६८ में ब्यूलर के लेख आदि का) विशद विवेचन करते हुए यहां तक लिखा है कि उत्तर भारत की हस्तलिपियों में - ळ - के स्थान पर - ल - प्राप्त होता है और पूर्वमध्यकालीन संस्कृत की लिपि और उच्चारण से - ळ - लुप्त हो चुका था । अत: इस सम्बन्ध में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि परवर्ती - ल- -ड- ड़- रूप परस्पर सम्बद्ध विकास की प्रक्रिया है ।

१११. आ०भा०आ० भाषाओं में विशेष रूप से मराठी, गुजराती और राजस्थानी में - ल - ळ - रूप प्राप्त होते हैं । मराठी में दसवीं शताब्दी के बाद तक यह वैकल्पिक रूप में प्राप्त होते हैं --निर्मूल, निर्मुळ, रावल, राऊळ , ललित, लळित , जल, जळ , फल फळ फूल , कलयुग, मंगल, पताले, जंगल[3] आदि डा० चटर्जी[4] ने उड़िया में कळ (काला), बेळों (वेला) का निर्देश किया है । किन्तु नाथपन्थी योगियों से प्रभावित मराठी संतों ने जहां पूरब अथवा हिन्दी की अन्य बोलियों में काव्य-रचना की है, वहां उन्होंने - ल - ध्वनियुक्त शब्दों में -ळ

---

१. प्राकृत व्याकरण - वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४४२

२. प्रा०भा०व्या० (२२६,२३८,२४०-४१,२४३-४४,२५५-६०, २८५, ५६६)

३. विनयमोहन शर्मा - हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० २३५ - ३८

४. बेंलें० - अनु० ६८३ और पृ० ५३८

का तो प्रयोग किया है, लेकिन -ळ- अथवा - ड - प्रेरणा प्रत्यय के पूरब की बोलियों में अभाव के कारण उनमें भी यह प्रत्यय नहीं मिलता । ग्रियर्सन ने भी 'अनियमित'[1] प्रेरणाप्रत्ययों में मराठी का उल्लेख नहीं किया है । साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि सत्रहवीं शती के मध्य में भी समर्थ रामदास ने अपनी हिन्दी रचनाओं में - ल - का प्रयोग नहीं किया - तैं तैं इतरां शिकवावें ।'[2]

११२. हिन्दी - वा - रूप का विस्तार तीन भिन्न स्थितियों के एकीकरण का परिणाम है - (१) संस्कृत के - अय- - आपय - और अनियमित रूपों के कारण, (२) √भू के परवर्ती रूपों और उसके सादृश्य पर अन्य धातुओं में - प 7 व - के संयोग के कारण, और (३) नामधातु और प्रेरणा में भेदक प्रवृत्ति के कारण

११३. (१) संस्कृत में बहुत सी धातुएं अनियमित हैं । ह्विटनी,[3] मैक्स-मूलर[4] और मौनियर विलियम्स[5] आदि ने भाषाशास्त्रीय[6] दृष्टि से ऐसी १०० से अधिक धातुओं पर विचार किया है । इनमें अधिकांश धातुएं गुण और वृद्धि नहीं स्वीकार करतीं । कुछ दीर्घ स्वरान्त धातुओं में णिच् होने पर स्वर को ह्रस्व कर देते हैं, कुछ धातुओं में दूसरे विकरण संयुक्त किए जाते हैं और कुछ धातुओं में अन्य व्याकरणिक अनियमितता मिलती है । विकल्प इन धातुओं का विशेष गुण है । उदाहरण के लिए क्रम्, गम्, घट्, व्यथ् , प्रथ् , म्रद् , चित् , इष् , इल् , तुज् , तुर् , तुष् रुच् , शुच् , शुभ् , दुष् , गुह् , तुल् आदि धातुएँ - अय - प्रत्यय वाली हैं, ज्ञा, श्रा, स्रा, ग्लै आदि में स्वर का ह्रस्व होता है और

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे - जिल्द ७, पृ० ३१

२. विनयमोहन शर्मा - हि०म०सं० दे०- पृ० ७६

३. सं०ग्रा० - १०४२

४. संग्रा० ४६२ - ६३

५. सं०ग्रा० ४८४-४८८

६. भोलाशंकर व्यास - संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन - पृष्ठ २३६-३७

ली, स्मि, चि, भी, ज्ञा, वन् , फण्, वी, सिध् आदि धातुओं के अनेक वैकल्पिक रूप भी मिलते हैं (ली - लीनयामि, लापयामि, लालयामि, चि- चपयामि चापयामि, चययामि, चायमामि, और सन्नन्त रूपों में - बिभित्सति, बुभुत्सामि, दिदृक्षामि, विविदिषामि, दित्सामि (- दा) आदि रूप मिलते हैं) ।

११४. पालियुग के वैकल्पिक रूपों का मूल कारण यह अनियमितता ही है । परवर्ती काल में इसका एक प्रभाव यह हुआ कि नियमबद्ध रूपों के विपरीत जनसामान्य ने उच्चारण-सुविधा का विशेष ध्यान रखा और सीधे धातुओं के साथ प्रेरणा-प्रत्ययों को संयुक्त किया जाने लगा , लेकिन डा० चटर्जी के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुरानी कोसली के युग में आते-आते साधारण और प्रेरणार्थक धातुओं का अन्तर मिट गया[1] क्योंकि पु०को० की - कह, चोर, न्हा- आदि धातुओं के मूल रूप - चुरय, चोरय, कथय, स्नपय । स्नापय - आदि संस्कृत में ही उपलब्ध होते हैं ।

११५. (२) संस्कृत - भू - धातु का प्रभाव निरन्तर बढ़ता रहा और अनु० १०४ के अनुसार इसमें भी प्रेरणा-प्रत्यय-आव- संयुक्त किया जाने लगा - हो + आव - होआव - होवाव । इस सम्बन्ध में केवल हेमचन्द्र को ही प्रमाण नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार डा० तिवारी द्वारा विवेचित -वा- प्रत्यय का विकास' द्विगुणित - णिच् - प्रत्यय-[2] आप्+आप् -> आवाप् > -वा -' मानना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि एकाक्षरी या स्वरान्त धातुओं के साथ - आव-प्रत्यय संयुक्त होने पर - वाव-रूप धारण कर लेता है । व्यंजनान्त धातुओं में यह - आव-रूप में रहता है, लेकिन विकास की प्रक्रिया में यह - आव - स्वतंत्र रूप से -वाव- रूप में ही प्रयुक्त किया जाने लगा (करवावे , मरवावे, उठवावे, चलवावे आदि) । लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका[3] में और अन्य प्राकृत - अपभ्रंश ग्रन्थों में इनके प्रचुर उदाहरण देखे जा सकते हैं । कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं - (१) हो-

---

१. उ०व्य०प्र० - स्टडी- ७१ (१)

२. हि०भा०उद्०वि० - ३६३ - (ख)

३. २.४.११,१२,१५.

आवइ । हो आवेइ, (२) सेआवइ । सेआवेइ, (३) बावावइ । बावावेइ , (४) धाआवइ । धाआवेइ, (५) दिवावइ । दिवावेइ, (६) पाआवइ । पाआवेइ , (७) सावावइ । सावावेइ , (८) चोरावइ । चोरावेइ । चोरवइ । लक्ष्मीधर के अतिरिक्त कुछ अन्य उदाहरण भी दिए जाते हैं - रोवावियउ, मुआवियउ (प०च० ६६ - १३) अल्लियावेइ (- ली - नायाध० ४३४), जीवावेहि (उत्तरा० ६३, १४), जी आवेसु (विद्ध० ८४-४) , धोवावेदि (मृच्छ० ४५-६) , पियावए (दस० ६३८ - २६), रुआवेइ, रुआविअ, रोआविअ (हाल), खावाविय, देवाविय आदि ।

११६. (३) नामधातु और प्रेरणाप्रत्यय - आ - की समानता भ्रम[1] पैदा करती है ।[2] पिशल ने[3] प्राकृत के अनेक ऐसे उदाहरण (उच्चारेइ, उवक्खडावेइ, सिक्खावेइ, सिक्खावेइ, सीतलावेदि, सुहावेइ आदि) दिये हैं, जिनमें प्रेरणार्थक और नामधातु का भेद करना विना उनके प्रसंग और प्रयोग के अत्यन्त कठिन है । इसी भेदक प्रवृत्ति के कारण नामधातु के - आ - प्रत्यय का विकास - वा - रूप में नहीं हुआ । इसके विपरीत प्रेरणार्थक प्रत्यय- आव- वाव- अथवा संक्षिप्त -वा- रूप में प्रचलित होने लगा । हिन्दी और उसकी बोलियों में भी कहीं-कहीं यह प्रसंग और प्रयोग भेद रह गया है - जैसे :—कहलाता है (- कहा जाता है) , कहलाया है (- कहवाया है) , बतलाते होंगे (- बात कर रहे होंगे , बतला रहे होंगे या बता रहे होंगे, अथवा बताते होंगे), कहाऊंगा (- कहा जाऊंगा), लेकिन - 'गोविन्द सिंह निजनाम तब कहाऊंगा' (- कहवाऊंगा), ब्रज में भी कहाइहौं जैसे रूप मिलते हैं ।

११७. हिन्दी की कुछ धातुओं में - ला - और - लवा - प्रत्यय लगाये

---

१. पु०राज० - १४२ - (२)

३. प्रा०भा०व्या० - ५५६

२. संस्कृत में भी यह भ्रम प्रचलित था - मोनियर विलियम्स - सं०ग्रा० २८६

जाते हैं। निम्नलिखित (१) स्वरान्त धातुओं में - ला - लवा- दोनों संयुक्त किये जाते हैं - खा, छू, जी, ढो , दे , धो, नहा, पी, रो, सी, सो। (२) व्यंजनान्त धातुओं में केवल- कह्, देख्, बैठ्, सीख् - में ही यह लगते हैं । शेष धातुओं में यह नहीं मिलते। (३) कुछ नामधातुओं में भी यह प्रत्यय लगते हैं (दे० अनु० ८६ और १०६)। उक्त स्वरान्त धातुओं के, - सी- को छोड़कर, प्रथम प्रेरणार्थक रूप वस्तुत: सकर्मक हैं, जो उनके प्रेरणार्थक रूपों से बनाये गये प्रतीत होते हैं। सीना-सिलाना- सिलवाना - में - ला - वा- लवा- रूप वैकल्पिक हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में - ल - के स्थान[1] पर - ळ - ड़ , ड, र- आते हैं। तैसीतोरी -ड- को - व - के स्थान पर स्वार्थिक अथवा श्रुति-तत्व मानते हुए धातु के -आ- और प्रत्यय की संधि बचाने[2] की संभावना व्यक्त करते हैं। हिन्दी और उसकी बोलियों में - आ- वा- या - रूप इसी स्थल पर मिलते हैं :--हिं० - खिलावै, खिलवावै - खिलायै, खिलवायै, जिलावै, और अवधी में - खिआवइ, खियावइ, ख्वावइ , जिआवइ, जियावइ, सिआवइ, सियावइ आदि इस प्रकार हिन्दी के सन्दर्भ में तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —(१) स्वरान्त धातु और प्रत्यय की संधि बचाने के लिये ही - ल - का प्रयोग किया जाता है, (२) - य-र - ल-ब - के एक ही स्थान पर आने के कारण इन्हें - य-व- श्रुति न मानकर अन्त:स्थ श्रुति कहना अधिक सार्थक है, और (३) - य-व- अर्द्धस्वर होने से -अ - आ- से भी परस्पर परिवर्तनीय हो जाते हैं।

११८. हिन्दी और उसकी बोलियों में अपभ्रंश युग के बाद से अनेक परिवर्तन लक्षित किये जा सकते हैं। कुछ धातुओं ने नये रूप ग्रहण कर लिये हैं और कुछ ने नये प्रत्यय । निम्नलिखित उदाहरणों से इन पर नवीन प्रकाश भी पड़ता है :—

---

१. तगारे, हि०ग्रा०अप०, पृ० २८४

२. पुरा० पृ० १८७

(क) पुरानी राजस्थानी और पुरानी कौसली (उक्ति व्यक्ति प्रकरण) के उदाहरण दिये जा चुके हैं। राउलवेलि में - चडावियउ (३२) और पावियउ (३२) मिले हैं।[१]

(ख) पुरानी व्रज- बोल्लावइ[२], कहाई,[३], दिवाइये।[४]

(ग) बिहारी ने - दिखरावन [५] का प्रयोग किया है। तुलसीदास के रामचरितमानस में - बइठारा, देखराई, देखरावा[६] - जैसे प्रयोग मिलते हैं। लेकिन यह अवधी की प्रकृति नहीं हैं। इन्हें अवधी में प्रत्ययुक्त आगत क्रिया कह सकते हैं। बंगला में 'देलाना' भी आगत[७] ही मानी गई है।

(घ) पृथ्वीराज रासो - पठावहि (१६८-३), दिखायो (२७५-१), कहायो (२७५-२)।[८]

(ङ०) गोरखवानी[९]—लगाया (६६), संभाले, परजाले (बो०बो०८), जाले, बाले (गो०बो० १४)। मराठी संतों की हिन्दी रचनाओं में लगाया, कराइ,[१०]

---

१. हिन्दी अनुशीलन -धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक - पृ० २६
२. शिवप्रसाद सिंह - सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ३६
३. वही, परिशिष्ट, पृ० ३६२
४. वही, पृ० ३६०
५. बिहारी सतसई (इंडियन प्रेस संस्क०), पृ० १०४
६. विनयपत्रिका ६४
७. चटर्जी, बैं०लै- ७६३
८. नामवर सिंह - पृथ्वीराज रासो की भाषा - १०६
९. पीताम्बरदत्त बाड़थ्वाल - गोरखवानी, भाग १
१०. वि०मो० शर्मा - हि०म०सं० देन - पृ० २३६-३७

रमाई--[१] आदि रूप उपलब्ध होते हैं ।

(च) हिन्दवी, रेख्ता और दक्खिनी हिन्दी - समझाए, उतारे,[२] कहावे, करावत, बढ़ावत[३] कहवाते, देखलाते, सिखलाता ।[४]

(छ) औक्तिकपदानि - करावइ, नींपजावइ, लिखावइ ।[५] उक्तीयक - करावइ, जणावइ, जिमाडइ, जगाडइ, दिवरावइ, बेचावइ, लिवरावइ, न्हवराइ, संभलावइ ।[६]

(ज) जीवदयारास[७] - मरावइ (२५), धोवावइ (२८) । शृंगारशत[८] कराविउ (१६), हरावइ (३६) ।

<u>नामधातु</u>

११६. हिन्दी के व्याकरण और भाषा-शास्त्रीय ग्रन्थों में नामधातु की जो परिभाषाएं प्राप्त होती हैं वे त्रुटिपूर्ण हैं । साधारणत: तीन प्रमुख परिभाषाएं प्रचलित हैं — (१) संज्ञापद तथा क्रियामूलक विशेषण जब क्रियापद बनाने के लिए धातुरूप में प्रयुक्त होते हैं, तब उन्हें नाम धातु कहते हैं, (२) धातु

---

१. ना०प्र० प०-भाग १०,पृ० ६४
२. मुलतानी और उर्दू के ताल्लुकात , लाहौर युनिवर्सिटी,पृ० ३५७
३. (क) सक्सैना - दक्खिनी हिन्दी, पृ०६१
   (ख) राहुल सांकृत्यायन,दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा, पृ० ५
४. उर्दू शहपारे, पृ० ३२१
५. उक्तिरत्नाकर, पृ० ७२-७३
६. वही, पृ० ४७
७. कविआसिग कृत जीवदया रास - सम्पा० जिनविजयमुनि-सिंघी स्मृति ग्रन्थ - १६४५, पृ० २०४-२०६
८. सिंघी स्मृति ग्रन्थ-१६४५, पृ० २१४-२२३

को छोड़ दूसरे शब्दों में प्रत्यय जोड़ने से जो धातु बनाये जाते हैं उन्हें नामधातु कहते हैं। यह संज्ञा व विशेषण के अन्त में - ना- जोड़ने से बनते हैं।[१] ये धातु शिष्ट-संमति के बिना नहीं बनाये जाते,[२] (३) संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से हिन्दी नामधातु बनते हैं।[३] इन परिभाषाओं को त्रुटिपूर्ण कहने के निम्नलिखित कारण है - (क) क्रियामूलक विशेषण भ्रमात्मक परिभाषा है, क्योंकि अन्य विशेषण शब्दों से भी नामधातु बनते हैं, (ख) -ना प्रत्यय जोड़ने से ही कोई शब्द नामधातु नहीं बन जाता, जैसे - कृष्ण से कृष्णा ना। (ग) संज्ञा और विशेषण के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी नामधातु बनाये जाते हैं, जैसे - अगुआना, अलगाना, नकारना, नहियाना, जल्दियाना (बोली), नगिचाना (बो०), धिक्कारना, थूकना आदि। (घ) यह केवल शिष्ट-संमति से ही नहीं बनाये जाते, वरन् धातुओं की कमी और अभिव्यक्ति की आवश्यकता के कारण बनाये जाते हैं। अतएव इसकी उचित परिभाषा इस प्रकार होगी - क्रिया से भिन्न अन्य शब्दों को जब धातुरूप में स्वीकार किया जाता है तो उन्हें नामधातु कहते हैं।

१२०. भाषा के इतिहास की दृष्टि से प्रत्येक युग[४] में नामधातुओं का निर्माण किया जाता रहा है। हिन्दी में भी यह परम्परा प्राप्त होती है। किन्तु राहुल जी का यह कथन कि साहित्यिक हिन्दी में इसका अभाव खटकता[४]

---

१. गुरु-हिं०व्या० - २०६
२. वही २१० अ
३. धी०वर्मा - हि०भा०इति० ३२६
४. ह्विटनी - सं०ग्रा० - १०५७
५. दो०को० - भूमिका, पृ० ५६

है, स्वीकार नहीं किया जा सकता । संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार प्रत्येक शब्द से नामधातु का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु यह सिद्धान्तमात्र[१] है और इनका प्रचलन अधिक नहीं है । मैक्समूलर[२] ने इसे वैयाकरणों की नियमबद्धता कहते हुए संस्कृत-साहित्य में इनके प्रयोग को विरल माना है ।

१२१. हिन्दी-नामधातुओं के निर्माण के लिए तीन प्रत्यय प्रचलित हैं — -अ - आ- तथा - ला । इनका विकास संस्कृत प्रत्ययों से हुआ है । वैदिक भाषा में भी इनके प्रचुर उदाहरण[३] मिल जाते हैं और इनकी रूपावली चुरादिगण और प्रेरणा से बहुत अधिक प्रभावित[४] है । संस्कृत में अन्य रूपों की अपेक्षा - अ- , -अय- तथा -आपय - रूप अधिक प्रचलित थे । इनमें प्राय: - आपय- का अन्तर्भाव प्रेरणा-प्रत्यय-आपय- में दोनों की रूपात्मक समानता के कारण हो गया है[५] इसका एक प्रभाव यह हुआ कि प्राकृत की नामधातुओं को प्रेरणार्थक के ढंग से बनाये जाने[६] का भ्रम प्रचलित हो गया । सत्यता यह है कि नामधातु चुरादि और प्रेरणा प्रत्ययों की एकरूपात्मकता के कारण परवर्ती युग में इनकी पहचान इनके प्रयोगों पर निर्भर हो गई । संस्कृत के - अय - और - आपय - प्रत्ययों में से यदि कुछ शेष रह गया है तो इनके सम्मिलित किन्तु घिसे हुए रूप में हिन्दी का -आ- प्रत्यय । -आ- प्रत्यय का विकास संस्कृत-आय-[७] से भी माना जाता है ।

---

१. मोनियर विलियम्स- सं०ग्रा०, ५१८

२. सं०ग्रा० - ४६३

३. ह्विटनी - सं०ग्रा०१०५७

४. वही, १०५६

५. वही-१०५४ - १०५७

६. पिशल- प्रा०भा० व्या० - पृ० ७६४ और ७६८

७. धी०वर्मा- हिं०भा०इति० ३२६

हिन्दी की बोलियों में भी यही प्रत्यय है जो संस्कृत-आय- प्रा०आअ,हिं०आ०- रूप में विकसित हुआ है । जैसे *स्थिरायते , प्रा० थिराअइ - अव० थिराइ ।[१]
-ला- स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है ।

१२२. हिन्दी नामधातुओं और प्रेरणा के -आ- प्रत्यय के सम्बन्ध में प्रेरणार्थक के अन्तर्गत विचार किया गया है । यहां यह द्रष्टव्य है कि जहां नामधातु और प्रेरणा के - आ - में कोई अन्तर नहीं रह गया[२] है, वहां उनका सबसे बड़ा अन्तर यह है कि (१) प्रेरणार्थक में प्रत्यय के कई रूप उपलब्ध हैं, किन्तु नाम धातु के केवल तीन, और (२) हिन्दी-प्रेरणार्थक संस्कृत की सम्पूर्ण णिजन्त-परम्परा का विकास है, किन्तु नामधातु के सभी संस्कृत रूप हिन्दी तक नहीं प्राप्त होते हैं । जैसे - (क) सं० पुत्रीयति, गंगीयति, नदीयति, कवीयति[३] वाले रूपों का विकास हिन्दी में नहीं मिलता । (ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से बनाये जाने वाले नामधातु भी हिन्दी में नहीं मिलते - जैसे - कृष्णायते ।[४] किन्तु संस्कृत अप्सरायते, ओजायते, यशायते[५] वाले रूप हिन्दी और उसकी बोलियों में मिलते हैं, जैसे - मनसाना या मनुसाना । (ग) संस्कृत की 'काम्य' शब्दयुक्त 'पुत्र-काम्यामि'[६] जैसे नामधातु हिन्दी में नहीं हैं ।

१२३. (क) हिन्दी नामधातु का दूसरा प्रत्यय-अ- है । हिन्दी के अधिकांश वैयाकरण इसे (०) शून्य प्रत्यय मानते हैं, जो सर्वथा ग़लत है । वुलनर इस प्रकार की धातुओं में इसे 'प्रत्यय रहित'[७] की संज्ञा देते हैं, किन्तु संस्कृत में इसे

---

१. बाबूराम सक्सैना - ए०यू० स्टडीज़ १६२६, पृ० २३६
२.. धी०वर्मा-हिं०भा०इति० - ३२६ । डा० तिवारी-हिं०भा०उद्०वि०-३६७
३. सक्सैना - सं०व्या०प्र० - १६७,१६८
४. वही, १६६ (ख)
५. वही । मैक्समूलर सं०ग्रा०, ४६७
६. मैक्समूलर-सं०ग्रा० ५०० । मौनियर विलियम्स-सं०ग्रा० ५२३
७. इं०प्रा० १३४

-अ- प्रत्यय[१] कहा गया है । मैक्समूलर[२] और मौनियर विलियम्स[३] का भी यही मत है । नामवर सिंह[४] इसे - अ - प्रत्यय मानते हैं । इसका विकास इसी रूप में हुआ है । प्राकृत में भी यह इसी रूप में है और पिशल के अनुसार इस श्रेणी के नाम-धातु प्राकृत में संस्कृत से अधिक हैं।[५] डा० चटर्जी ने इसका विवेचन करते हुए इसे कौल और तिब्बत-चीनी भाषाओं का प्रभाव माना है । उनके अनुसार इन भाषाओं में प्राप्त होने वाले शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों[६] काकार्य सम्पन्न करते हैं । लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है, क्योंकि जहां डा० चटर्जी ह्विटनी के द्वारा उद्धृत रूपों का निरन्तर प्रयोग करते हैं, वहां ह्विटनी[७] ने स्पष्टत: वैदिक संस्कृत में एक-एक रूप के सैकड़ों प्रयोगों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं :-- भिषक्ति, पत्यते, इष्णास्, कृपणान्त, तरुषेम, वनुषन्त, भुरजन्त , वनवन्ति (ऋग्वेद), कवयन्त (तै०सं०) , अश्लौनत् (तै० ब्रा०), उन्मूलति (ब्रा०) स्वधामहे (शांख्यायन स्रौत सूत्र) । इनके अतिरिक्त महाभारत आदि में कलहन्त, अर्धन्ति , अब्जति, गर्दभति, जगन्नैन्नति आदि आए हैं । हिन्दी - अ - प्रत्यय का मूल संस्कृत का - अ - प्रत्यय है । डा० सक्सेना, मैक्समूलर,[९] मौनियर विलियम्स[१०] और कीलहान[११] प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों से कुछ उदाहरण नीचे दिए

---

१. ह्विटनी- सं०ग्रा० १०५६
२. संग्रा० ५०२
३. सग्रा० ५१६
४. पृ०रा० भाषा - ७१
५. प्रा०भा०व्या०, पृ० ३६६
६. बैं०लैं - ७६५
७. सं०ग्रा० - १०५४
८. सं०ब्रा०प्र० - १६७
९. सं०ग्रा० - ५०२
१०. सं०ग्रा० - ५१६ अ
११. ए ग्रामर आव् द संस्कृत लैंग्वेज, ४७६

जाते हैं - कृष्णाति, मुण्डयति, कवयसि, पितरति आदि । राजानति, संवर्मयति, प्रदयति (मृदु), दवयति (दूर), अंकुरति, दर्पणाति आदि । प्राकृत में इसके प्रमाण मिलते हैं - उम्मूलन्ति (हाल), अप्पिणइ (जे०महा०), पआसन्ति (हाल), मउलन्ति (हाल), मण्डन्ति(गउड०), चिलाअदि (शकु० ११५-६), निम्माणइ (क्रमदीश्वर ४-४६), मिस्सइ (है०च०-४-२८), धवलइ (है०च० ४-२४), सुक्कहिं (है० च० ४-२४, ४-२८, ४-४२६-१) आदि ।

(ख) इस विवेचन के पश्चात् यह कह सकते हैं कि संस्कृत नामधातु का -अ- प्रत्यय इसी रूप में विकसित हुआ है और यह हिन्दी के अकर्मक रूपों की स्थिरता में सहायक हुआ है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से नामधातुओं के दो रूप उपलब्ध हैं - मूलधातु और नामधातु । इनका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है । अनुकरणामूलक धातुओं में - अ - प्रत्यय, मुख्यरूप से पुनरुक्त धातुओं में नहीं लगता । पुनरुक्तधातुओं में - आ - प्रत्यय संयुक्त किया जाता है - भड़भड़ा (ना), महमहा-(ना) आदि ।

१२४. (क) हिन्दी-नामधातु का तीसरा प्रत्यय-ला- है । यह हिन्दी-प्रेरणार्थक -ला- प्रत्यय से संयुक्त रूप में विकसित हुआ है । पाश्चात्य तथा भारतीय भाषा-शास्त्रियों[1] का मत है कि प्रेरणार्थकके -ल-न-ष-स-त-य आदि प्रत्यय मूलत: नामधातुओं के ही प्रत्यय थे जो संस्कृत-धातुओं में मध्यविन्यस्त प्रत्यय अथवा विकरण रूप में प्रयुक्त होते थे (अनु० ६७) । प्राकृत- अपभ्रंश युग में यह अधिक प्रचलित हुए । स्वयंभू ने एक ही छन्द में - भिंभलाइं, चौंभलाइं , वाउलाइं , संकुलाइं (रिट्ठ०च० ३-७) - का प्रयोग किया है । हिन्दी में - गंदलाना, चुभलाना, जतलाना, भुंफलाना, फुठलाना, डिगुलाना (-डिगत पानि डिगुलाति गिरि-

---

१. ग्रियर्सन - आन इरेगुलर काज़ल वर्ब्स इन द इण्डो-वर्नाक्युलर्स - जे०आर०ए० एस०बी०-सं० १, १८६६, पृ० १-५

(१) जो द्वैतपद धातुरूप - जैसे, सुनसुन, चल चल - रूप में दिखाई देते हैं, वे वस्तुत: पूर्वकालिक क्रिया हैं और इनके आगे कर - के[1] संयुक्त किये जाते हैं (दे०अनु०१५३)

(२) यह अपूर्णताबोधक प्रत्यय- ता- से युक्त होकर वीप्सा, अभ्यास या तात्कालिक अर्थ देते हैं, अत: यह क्रियापद या विशेषण हैं, धातु नहीं हैं (दे० अनु० १३४) ।

(३) इनमें अनेक रूपों का विकास आधुनिक है और इनमें प्राय: क्रियार्थक संज्ञा के प्रत्यय - ना- का संयोग होता है । (दे०अनु० १६३) ।

१२६. द्वैतक्रियापदों के तीन रूप मिलते हैं । रूप-रचना के विचार से इन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है ।

(क) द्विरुक्तपद - पढ़ पढ़ , लिख लिख, उठ उठ, कहकह आदि ।

(ख) तात्कालिक पद - चलते चलते , सुनते सुनते , जातीजाती, आदि

(ग) युग्मपद- यह दो प्रकार के हैं ।

१. समानार्थक या विपरीतार्थक- पढ़लिख , चलफिर कूदफांद, कहसुन , जोतबो, लेदे, आजा, मरजी आदि ।

२. - ना- प्रत्यययुक्त - नहानाधोना , रोनाधोना खानापीना आदि

---

१. उदयनारायण तिवारी - हि०भा०उद्०वि०,पृ० ५०५

अध्याय --३

काल-रचना

अध्याय - ३

काल-रचना

१२७. हिन्दी-काल-रचना के विकास में अनेक प्राचीन रूपों के घुलमिल जाने से नवीन अर्थों और कालों के दर्शन होते हैं। हिन्दी में अर्थ दो ही रह गए हैं - आज्ञार्थ और निश्चयार्थ। संभावनार्थ की रचना पृथक् न होकर विभिन्न काल-रूपों में संयोजक अव्ययों के योग से की जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी काल-रचना को तीन वर्गों[1] में विभाजित कर सकते हैं।

(क) संस्कृत कालों के अवशिष्ट काल- आज्ञार्थ

(ख) संस्कृत कृदन्तों से निर्मित काल - सामान्य भूत, भविष्य आज्ञा, सामान्य भविष्यत।

(ग) नव निर्मित काल - सहायक क्रिया और कृदन्त रूपों से निर्मित शेष समस्त काल

(क) संस्कृत कालों के अवशिष्ट रूप :-

१२८. हिन्दी में स्पष्टतः संस्कृत से विकसित एक भी काल नहीं मिलता। हिन्दी-आज्ञार्थ के रूपों से आज्ञा, विधि, आशीः और सम्भावना की प्रतीति होती है। इस रूप में ग्रियर्सन[2] द्वारा निर्देशित संस्कृत के वर्तमान के रूपों से इनका विकास पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पाता। यही कारण है कि बीम्स[3] को उत्तमपुरुष एक

---

१. (क) बीम्स - क०ग्रा०, भाग ३ ,अनु० ३२ (ख) धीरेन्द्रवर्मा,हि०भा०इति०,पृ०२६६

२. 'रैडिकल एण्ड पार्टीसिपियल टैन्सेज़' - जे०ए०ओ०एस०बी०, १८९६,पृ० ३५२-३७५

३. क०ग्रा०, भाग ३, अनु० ३३

और बहु वचन के रूपों को परस्पर परिवर्तनीय कहना पड़ा । बीम्स की यह संभावना निराधार नहीं है, क्योंकि यह तथ्य स्पष्ट है कि प्रा०भा० आ० के अनेक रूप न केवल लुप्त हो गए वरन् घुल-मिल कर एक हो गए । बूलर ने इसका पर्याप्त संकेत दे दिया है ।[१] ग्रियर्सन आदि[२] द्वारा दिये गए संस्कृत वर्तमान के रूपों का विकास इस प्रकार हुआ है :-

सं०	प्रा०	अप०	हि०
एक वचन --			
१. चलामि	चलामि	चलउँ	चलूँ
२. चलसि	चलसि	चलहि, चलइ	चले
३. चलति	चलदि, चलइ	चलइ	चले
बहुवचन -			
१. चलामः	चलामो, चलम्हो, चलम्ह	चलहुं	चलें
२. चलथ	चलह	चलह	चलो
३. चलन्ति	चलन्ति	चलहिं	चलें

हिन्दी अन्य पुरुष के रूपों का विकास संस्कृत के रूपों से सिद्ध हो जाता है । किन्तु डा० उदयनारायण तिवारी[३] ने डा० धीरेन्द्र वर्मा[४] की ही भाँति उत्तम पुरुष के रूपों से हिन्दी रूपों की व्युत्पत्ति स्वीकार नहीं की । लेकिन वे बीम्स से असहमति भी नहीं प्रकट करते । बीम्स के अनुसार प्रा०भा०

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, अनु० ११३

२. धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २६६-३००, उ०ना०तिवारी - हिं०भा०उद्०वि०,पृ० ४६८-६६

३. हि०भा०उद्०वि०,पृ० ४६६

४. हि०भा० इति०, पृ० ३००

आ० के उ०पु०ए०व० के रूपों से हिन्दी के उ०पु०ब०व० के रूपों का विकास निम्नलिखित रूप में हुआ होगा --

प्रा०भा०आ० -- चलाम: > प्रा० चलामु चलाउँ > अप० चलउं > हिं०चलों, चलूं। इसी प्रकार संस्कृत ए०व० चलामि > प्रा०* चलांइ > हिं: ब०व० चलें, चलें विकसित हुआ है।

१२६. हिन्दी के प्रयोगों को देखते हुए यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि हिन्दी-युग के पूर्व तक संस्कृत लट्, लोट् और विधिलिंग के रूपों ने एक दूसरे को इतना अधिक प्रभावित किया कि हिन्दी तक आते आते एक ही प्रत्यय से उक्त तीनों रूपों का कार्यसम्पादित किया जाने लगा। पाली-प्राकृत में आज्ञा और संभाव्य भविष्यत् के रूपों का पारस्परिक घालमेल[१] प्रारम्भ हो चुका था और प्राचीन वर्तमान निर्देशक (निश्चयार्थ) के रूपों का प्रयोग अपभ्रंश में वर्तमान संभावनार्थ में होने लगा था।[२] जैसे - जइ आवइ ते आणिअइ (हे०च०४-४१६)' यदि वह आवे तो उसे लाया जाय।' इसका एक स्पष्ट प्रभाव यह हुआ कि वर्तमान आज्ञार्थक को अनेक विद्वानों ने वर्तमान इच्छार्थक भी कहा। (दे० - अर्थ० अनु० ....२६४....)। इसी प्रकार जहां ग्रियर्सन हिन्दी आज्ञा के रूपों का विकास संस्कृत वर्तमानकाल के रूपों से जोड़ते हैं, वहां बीम्स उन्हें संस्कृत आज्ञा से सम्बद्ध मानते हैं, जो धीरेन्द्रवर्मा के अनुसार संभव[3] नहीं है। इस दृष्टि से आज्ञा रूपों की विकासात्मक तालिका[४] प्रस्तुत है।

---

१. हिं०भा०इति०, पृ० ३०१

२. उ०ना०तिवारी, हिं०भा० उद्०वि०,पृ० ४९६

३. हि०भा०इति०, पृ० ३००

४. वही, पृ० ३०१ तथा उ०ना०तिवारी, पृ० ४९६

	संस्कृत	प्रा०-अप०	हिन्दी
एक वचन			
१	चलानि	चलमु	चलूं
२	चल	चल, चलसु	चल
३	चलतु	चलदु, चलउ	चलै
बहु वचन			
१.	चलाम	चलाओ	चलें
२.	चलत	चलह, चलध	चलौ
३.	चलंतु	चलंतु	चलैं

१३०. इन रूपों से हिन्दी में केवल मध्यमपुरुष एक वचन का ही रूप व्युत्पन्न है । यहां दो तीन बातें और भी विचारणीय हैं । प्रथम तो यह कि संस्कृत इच्छार्थक रूपों को भुला दिया गया और दूसरे बीम्स के एक वचन और बहुवचन के पारस्परिक प्रभाव की कल्पना का एक प्रमाण यह भी है, प्राकृत-अपभ्रंश में बहुवचन का लोप भी होता है, जैसे - (क) द्विवचनस्य बहुवचनम् और (ख) बहुवचनस्य क्वचिल्लोप:'[1] के साथ साथ राहुल जी का यह कथन भी सार्थक है कि प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रयोग - इ - को अनुनासिक करके होता था ।[2] यहां प्राकृत वैयाकरणों की अपेक्षा अपभ्रंश रूपों पर निर्भर होना पड़ता है और -चल- के रूपों की अपेक्षा बुलर द्वारा उद्धृत इन रूपों को प्रस्तुत करने की इच्छा होती है जिनके प्रति उनका यह कथन बहुत उपयुक्त है कि अपभ्रंश के रूपों में बहुत भेद पड़ गया है और इसमें तथा हिन्दी के रूपों में थोड़ा ही ......

---

१. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, १९४९ ई०, - प्राकृतव्याकरण, पृ० ४४४

२. दोहाकोष, पृ० ५६

लेकिन भोलानाथ तिवारी की कल्पना मान्य नहीं है ।[१] स्पष्टत: बहुवचन के अनुनासिक रूपों के सम्बन्ध में मुझे विधिरूपों का योगदान अधिक उचित प्रतीत होता है ।

१३१. आदरार्थ आज्ञा के दो रूप मिलते हैं । मध्यम पुरुष में दीजिए, कीजिये तथा - इये- रूप , जैसे - करिये, उठिये, आइये । इनका विकास संस्कृत के आशीर्लिङ् के - या- (द्यात् , भूयात् , कुर्यात्) से निम्नलिखित रूप में माना जाता है ।

- या- > प्रा० इय्य , इज्ज > इय, इये, ईजिय, ईजिये

जैसे - करिय, करियै, कीजिय, कीजिये तथा कीजै, दीजै, लीजै आदि । परिनिष्ठित हिन्दी में - इये- ईजिये - रूप ही प्रचलित हैं । हिन्दी - एक वचन के प्रयोगों में पुराने ग्रन्थों और स्थानीय प्रयोगों में कहीं-कहीं कीजो, दीजो, लीजो रूप भी मिलते हैं, किन्तु इन्हें हिन्दी के शिष्ट प्रयोग नहीं माना जाता । (दे० अनु० ..९८०.) ।

१३२. (ख) संस्कृत कृदन्तों से निर्मित काल

कृदन्तों का प्रयोग प्राचीन काल से ही प्रचलित है किन्तु हिन्दी ने पृथक् शैली की काल-रचना अपनाई है । कृदन्तों से काल-निर्माण की प्रवृत्ति संस्कृत-युग से ही मिलने लगती है । प्राकृत-युग में मूल कालों को बहुत कुछ कृदन्तीय प्रयोगों ने समाप्त कर दिया । आधुनिक युग के प्रारंभिक वर्षों में काल-रचना में वियोगात्मक प्रयोगों का प्रचार बढ़ गया । परवर्ती अपभ्रंश में भी इनके प्रचुर प्रयोग मिल जाते हैं । इन प्रयोगों ने हिन्दी में कृदन्तों को नये रूप में प्रतिष्ठित किया । हिन्दी-कालों में कृदन्तों के मुख्य प्रयोग दो प्रकार के हैं -

---

१. हि०भा०, पृ० २।२५७

(१) अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय और
(२) कालबोधक प्रत्यय (दे०अनु०.३१८) ।

१३३. काल-रचना में प्रयुक्त हिन्दी में पांच कृदन्त हैं —ता, आ , था, गा, ना । इनसे निर्मित मुख्य काल तीन हैं --(१) सामान्य भूत —धातु + आ - जैसे - (वह चला, उठा, गिरा, (२) आज्ञार्थ - धातु + ना - चलना, उठना, गिरना, (३) सामान्य भविष्यत् - चलेगा । वस्तुत: इसका निर्माण आज्ञा (अथवा वर्तमान संभावनार्थ) +गा - चले +गा - रूप में हुआ है । इसीलिये इसकी बनावट को असाधारण[१] कहा गया है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन पर यहां विचार किया जाता है ।

१. अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय (-ता-आ-)

१३४. (अ) वर्तमानकालिक कृदन्त - संस्कृत के वर्तमानकालिक कृदन्त के शतृ प्रत्यय - अत् - से हिन्दी -ता- प्रत्यय का विकास माना जाता है । यद्यपि हिन्दी - ता - प्रत्यय में संस्कृत कृदन्त का अर्थ विद्यमान है, किन्तु उसकी वर्तमानता समाप्त हो गई है । अब यह तीनों कालों[२] में प्रयुक्त होता है, अत: इसे अपूर्णता-बोधक प्रत्यय कहना अधिक उपयुक्त है । इसके विकृत रूप को हिन्दी में अपूर्णक्रिया-द्योतक कृदन्त कहते हैं । विकृत रूप का एक प्रयोग तात्कालिक कृदन्त कहा जाता है । बाद के दोनों प्रयोग आधुनिक हैं । डा० चटर्जी, डा० वर्मा और डा० तिवारी आदि ने इसका विकास निम्नलिखित रूप में माना है ।

---

१. धीरेन्द्रवर्मा - हिं०भा०इति०, पृ० २६६
२. शतृमतौ बहुशस्त्रिकाले - तर्कवागीश- प्राकृत कल्पतरु ३।२।३०

पुल्लिंग- सं० पचन् > प्रा० पचंतो > हिं० पचता
स्त्रीलिंग - सं० - पचन्ती > प्रा० पचंती > हिं० पचती

१३५. (आ) भूतकालिक कृदन्त को पूर्णताबोधक प्रत्यय कहना चाहिये। वर्तमान कालिक कृदन्त की ही भांति यह भी तीनों कालों में प्रयुक्त होता है और व्यापार की पूर्णता व्यक्त करता है। यह धातु के अन्त में जोड़ा जाता है। (चल्+आ - चला)। इसके विकृत रूप के प्रयोग को पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्त कहते हैं और इस रूप का विकास आधुनिक है। संस्कृत भूतकालिक कृदन्त के -त- इत (क्त प्रत्ययान्त) रूपों से इसका विकास हुआ है। जैसे --

सं० चलित: > प्रा० चलिओ > हिन्दी (चल्यो, चला)
सं० कृत: > प्रा० करिओ > हिं० करा

डा० वर्मा, डा० तिवारी आदि द्वारा निर्देशित उक्त रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य रूप भी प्राप्त होते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि यह - आ- प्रत्यय इसी रूप में विकसित हुआ होगा। अधिक से अधिक यह - चलित: > चलिय, चलिया > चल्या > चला हो सकता है। डा० भोलानाथ तिवारी[1] द्वारा अनुमानित -क स्वार्थे युक्त चलितक: रूप का विकास और - आ-रूप में संकोच संभव नहीं प्रतीत होता। किन्तु - चलिया - चल्या - चला - जैसे रूप मुझे अभी प्राकृतों में नहीं मिले। अपभ्रंश में सरह और स्वयंभू से यह मिलते हैं। जैसे --
लग्गा (दो०को० - सं० ५०), जाणिया (स० ५६), रंग्या (स० ५०), - स्वयंभू- पइट्ठा (रिट्ठणेमिचरिउ- २८।५), प्राय: १००० ई० के आस पास योगीन्दु- कहिया (योगसार १०), धनपाल- धाइया, धाविया, सज्जिया, और सुप्रभ पोसिया, रासो-हुआ (१८३।१), किया (१८५।२) आदि रूप प्राय: मिलते हैं। गोरखनाथ में अनेक रूप हैं --पढ्या, बोल्या (सबदी-३१) भरिया, रहिया (सं०६१), लागा (स०८०), पसार्या (६६) आदि।

---

१. हि०भा०-पृ० २।२४७

२. काल-बोधक प्रत्यय (था, गा, ना)

१३६. विकास की दृष्टि से यह तीनों कृदन्त प्रत्यय हैं। इनमें -ता-आ- की भांति ही विकार होता है और यह भी लिंग-भेद से परिचालित होते हैं। किन्तु इनसे निश्चित कालों का बोध होता है। - था - पूर्णभूत में, - गा - भविष्यत् में और -ना- भविष्यआज्ञा में प्रयुक्त होते हैं। -था- की स्थिति हिन्दी में सहायक क्रिया - है - के भूतकालिक रूप में मानी जाती है। इनका विकास यहां दिया जाता है।

१३७. -था-

-था- का निश्चित इतिहास प्रस्तुत करना कठिन है। इस सम्बन्ध में जो परिकल्पनायें की गई हैं उनसे सन्तोष नहीं होता। फिर भी अध्ययन-क्रम में यह असाधारण सूचनाएं हैं जिन्हें यहां प्रस्तुत किया जाता है।

(क) बीम्स[1] और कैलाग[2] का मत एक है कि इसके लिये संस्कृत के वर्तमान कालिक कृदन्त रूप सं० सन्तो से कन्नौजी हतो, तो, थो, था हुआ होगा।

ख. टर्नर[3] - सं० स्थित: > प्रा० थाइ, नै०-थियो, हिं० - था -

ग. श्यामसुन्दरदास[4]- उक्त दोनों ही रूप सही हैं।

घ. धीरेन्द्रवर्मा[5] - सं० स्थित > प्रा० थाइ, ठम्ह, ठाइ > हिं० था

ङ. उदयनारायण तिवारी-[6] सं० सन्त के स्थान पर असन्त > अहन्त > हन्तो > हतो > था।

---

१. क०ग्रा०, भाग ३, पृ० १७७

२. हि०ग्रा०, पृ० ३४७

३. नै०डि०

४. भाषाविज्ञान, पृ० ३८५

५. हि०भा०इति०, ३०६

६. हि०भा०उद्०वि०, पृ० ५०२

(च) तैसीतोरी[१] - *भवन्तक : > *होन्तओ > हुंतउ > हुतो > हुतो, हता > दक्खिनी हिन्दी - अथा, थो, था ।

(छ) नामवर सिंह[२] - अभूत > अहूत > हूत > हुतो > था ,

(ज) हेमचन्द्र जोशी[३] - वैदिक अस्थात् > अत्था > था

(झ) एक अन्य मत - भूत:>भूतो> हतो > थो, था.

इन रूपों को न मानने के मुख्य कारण यह हैं कि (१) यह विद्वान जब अन्यत्र स > ह होना नहीं मानते, जैसे - अस् धातु के विकास में खासतौर पर वर्तमान - है- के सम्बन्ध में तब यहां भी उन्हीं ध्वन्यात्मक स्थितियों में नहीं मानना चाहिये । (२) बुलर[४] महा० ठाइ का विकास*स्थाति से मानते हैं जो उक्त रूपों का अवरोधक है । (३) यदि इस अर्थ में स्थित से -था- व्युत्पन्न है तो बुलर द्वारा निर्दिष्ट महा० ठिय, शौ० ठिद तथा महा० थिय, शौ० थिद[५] रूपों की अनियमित रूप ठाइ के विपरीत उतनी ही परीक्षा आवश्यक है जितनी कि (४) प्राकृत में प्राप्त-इत्था-इत्थ से बने होत्था वाले रूपों की, क्योंकि यह अपभ्रंश में नहीं मिलते ।[६] (५) नकारात्मक क्रिया नास्ति > नत्थि अथवा अशोक के चट्टानी अभिलेखों में प्राप्त-नथि-रूप जिसका अर्थपरिवर्तन नहीं हुआ । (६) यदि- क - स्वार्थे से[७] भवन्तक: बनाना ज़रूरी है तो इस प्रत्यय से हिन्दी भविष्यत् बोधक-गा- का

---

१. पु०राज० - पृ० १४०

२. हि०वि०अप०यो० - पृ० १३५

३. राजर्षि अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० ४२८

४. इंट्रोडक्शन टु प्राकृत , १२६ - २७

५. वही १२ तथा ३८

६. पिशल, प्रा०भा०व्या०, ४७६ तथा ५१७

७. भो०ना० तिवारी - हि०भा०, पृ० २१५२

विकास सिद्ध करना चाहिये जो अधिक सुगम है[१] क्योंकि उक्त कल्पना में -क- लोप अनिवार्य है, जब कि क7 ग आसान है । अत: -था- के विकास की दशायें स्पष्ट नहीं हैं और जोशी जी के (८) अत्था - रूप का कोई प्रयोग नहीं मिलता ।

-था- रूप बहुत प्राचीन नहीं लगता । गोरखनाथ के समय से सन्तों और सूफ़ी कवियों से इसके निश्चित प्रयोग की सूचना मिलने लगती है । गोरखनाथ में - था - नथी- रूप आये हैं । अमीर खुसरो,[२] बाबा फ़रीद शकरगंज[३] और दक्खिनी हिन्दी[४] में -था, थी, थे, थ्यां, अथी, नथी रूप मिलते हैं । रहीम के श्लोक[५] में भी -' गुलतोड़ती थी खड़ी' मिलता है ।

१३८ - गा-

- गा - रूप का विकास सामान्यत: संस्कृत भूत कृदन्त गत: - गआ- गया,[६] अथवा गत - गअ - गा,[७] अथवा गत - गदो - गयो, गओ[८] रूप में माना जाता है । इस रूप में इसे बाद का बना हुआ काल (भविष्यत्) कहा गया ।[९] पं० बदरीनाथ भट्ट द्वारा निर्दिष्ट यह व्युत्पत्ति स्वीकृत नहीं हो सकी --सं०यास्यति-

---

१. नागप्पा-हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १०, अंक १, जनवरी-मार्च, १९५७, पृ० ३४

२. हिन्दी साहित्य, (भा०हि०परिषद्), पृ० ५५५

३. वही, पृ० ५८६

४. सक्सेना, दक्खिनी हिन्दी, पृ० ६१

५. खड़ीबोली का इतिहास, पृ० १२१

६. चटर्जी, बे०लैं० ६५२

७ (क) श्यामसुन्दरदास - भाषाविज्ञान, पृ० २८७

(ख) उ०ना० तिवारी-हि०भा० उद्०वि०, पृ० ५००

८. बीम्स, कं०ग्रा०, भाग ३, ५४

९. धी०वर्मा, हि०भा०इति० , ३२१

प्रा० जाएज्जा - पं० जाएगा अथवा जावेगा ।[१]

डा० नामवर सिंह के अनुसार अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनाने वाली सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का कोई रूप नहीं मिलता । संभवत: सहायक क्रिया होगा और उसके अन्य रूप के - हो - और - गा- दो भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न हुए हैं और फिर संयुक्त हो गए ।[२]

प्रो० नागप्पा ने सं० एक:, क: युक्त शब्दों - अवलोकक: अभिवादक:, गृहन्तक: , गे० हन्तगो , आयान्तक:, आयान्तगो (?) जैसे रूपों से हिन्दी- एगा - को व्युत्पन्न मान कर जा + एगा की सिद्धि की है ।[३] किन्तु वे स्वयं अपनी ही स्थापना से आश्वस्त नहीं है ।

१३६. इन व्युत्पत्तियों की पूर्ण परीक्षा आवश्यक है । भूत कृदन्त गत: से -भविष्यत् - गा- की व्युत्पत्ति मानना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भूतकालिक रूप से भविष्यत् काल की सिद्धि नहीं होती । इसके विपरीत वर्तमान से भविष्य की सूचना अथवा वर्तमान के वर्ग से भविष्यत् काल का निर्माण बराबर मिलता है । हिन्दी भविष्यत् की रचना इसी प्रकार की है । भट्ट जी की व्युत्पत्ति में ज्ज> ग्ग संभव नहीं है । तीसरी व्युत्पत्ति की व्याख्या और उदाहरण अपूर्ण हैं ।

१४०. -गा- रूप का विकास संस्कृत स्वार्थिक प्रत्यय-क- से मानना अधिक संगत है । पिशल और चटर्जी ने संस्कृत के कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे स्वार्थिक-प्रत्यय के प्रयोग की संभावना क्रिया के अन्तर्गत भी बढ़ती गई । परवर्ती रूपों की स्थिरता में भाषाविदों ने इसका उपयोग किया है । पिशल,[४] हार्नलि ,[५]

---

१. हिन्दी, पृ० २३
२. हि०वि०अप०यो० - पृ० १३६-३७
३. हि०अनुशीलन,वर्ष १०, अंक १, जनवरी-मार्च, १९५७, पृ० ३४
४. प्रा०भा०व्या० - ४५४
५. कं०ग्रा०, ४६७

ह्विटनी,[१] चटर्जी,[२] आदि ने इन पर विचार करते हुए निम्नलिखित रूपों का उल्लेख किया है - जानकम्, पचतकि, जल्पतकि, पठतकि, अदुकि, एहकि । आफ्रेष्ट[3] ने कौषीतकि ब्राह्मण २७-१ से यामकि (यामि) का उल्लेख किया है जो प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है । पिशल ने इन रूपों को वर्तमानकाल के मुख्य कालवाचक समाप्ति सूचक चिह्न के स्थान में सहायक कालवाचक समाप्ति सूचक चिह्न माना है । हानले ने इसे आज्ञावाचक का समाप्ति सूचक चिह्न कहा है । चटर्जी ने विस्तार से (पाणिनि के ५-३ , ७१-७८, ८५-८६ पर) विचार करते हुए ऐसे प्रयोगों को तृ०पु०एक०व० का बताया है । सुकुमार सेन ने - क- स्वार्थे का बौद्ध संस्कृत और अपभ्रंश में जो पुन: प्रवेश माना है, वह मुझे परम्परागत ही प्रतीत होता है । इस सन्दर्भ में उनके इस कथन से, कि - क - अन्त वाले रूपों में भविष्यत् का अर्थ भी द्योतित होने लगा, मेरे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि हिन्दी के जिन रूपों में - गा - प्रत्यय संयुक्त होता है वे वर्तमान और आज्ञा के विकसित रूप ही हैं । डा० सेन ने वसुदेव हिण्डी से दो उदाहरण दिये हैं —तुमं कण्हो गेण्हणातागं (तुम्हें कृष्ण ग्रहण करेगा) , धाइज्जतंग (पा०प्रा०अ०तुल०व्या०, पृ० १६३) ।

१४१. वैदिक युग के बाद -क- प्रत्यय का व्यवहार बढ़ता गया ।[3] संस्कृत में यह वर्तमानकाल तक ही सीमित रहा, किन्तु आधुनिक भाषाओं में यह किसी न किसी रूप में तीनों कालों में प्रयुक्त होने लगा । बंगला और उसकी बोलियों में इसका प्रयोग म०पु० तथा अ०पु० के भूत और भविष्यत् में, म०पु० आज्ञा में, अ०पु० में भी आदरार्थ में और उ०पु० भविष्यत् में मिलता है । मयंग में -क- गा हो जाता है । लेकिन इन्हें साधुभाषा के प्रयोग नहीं माना गया । बंगला आदि में यह कभी क्रिया में सीधे जुड़ता है और कभी कभी भविष्यत् रूप के साथ, जैसे- द्याखिक् ,

---

१. बे०ले० ७०७, सं०ग्रा० १२२२

२. बे०ले० - ७०७

३. पिशल - प्रा०भा०वया० ४५४ से उद्धृत

४. फ्रेंकलिन एडगर्टन - द `क` सफ़िक्सेज़ आव् इंडो-ईरेनियन, भाग १,१९११

देखैक, देखियइक, चलबैक, निबौंक ।[१] मैथिली में - देखइक्[२] जैसे प्रयोग मिलते हैं । लेकिन भविष्यत् काल के यह रूप वैकल्पिक हैं । ठीक इसी प्रकार ब्रजभाषा में भी - ग - भविष्यत् वैकल्पिक[३] ही है । ब्रज और उसकी बोलियों में - ग - भविष्यत् रूप वर्तमान निश्चयार्थ[४] में भी मिलता है, जैसे - हौं (मूल रूप), हौंगो (वैकल्पिक रूप) । विकल्प की ठीक यही स्थिति इलाहाबाद शहर में भी है - हैगा, हैंगे - आदि । वर्तमान के इन रूपों में - ग - का स्वार्थिक रूप अधिक स्पष्ट है और इनसे भविष्यत् का बोध नहीं होता । कहीं-कहीं बंगला के -ब - और -क- के एकत्र प्रयोग की भांति ब्रज प्रदेश में -ह- और -ग- के एकत्र प्रयोग मिलते हैं, जैसे - जाहुगे, जाहिंगे , जाहुगी, जाहिगी, जाहिंगी ।[५]

१४२.   -ग- भविष्यत् के रूप मालवी, मेवाती, गुर्जरी और पंजाबी में भी मिलते हैं । वैकल्पिक रूप में यह बुन्देली, मारवाड़ी और मैथिली में भी मिलता है । बंगला में कम प्रयुक्त होने वाले - गा - गे - रूपों के प्रति भी यही बात कही जा सकती है ।

१४३.   संस्कृत में भी -क - स्वार्थिक प्रत्यय लिंगभेद से प्रभावित होते रहे हैं । इस रूप में केवल लिंगभेद के आधार पर - गा - को गतः कृदन्त से व्युत्पन्न मानना युक्ति संगत नहीं है । दूसरे - गा - स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में - ही - निपात द्वारा पृथक् किया जा सकता है, जैसे - करूं-ही-गा ।[६] अन्य कालों में

---

१. चटर्जी, बैलें, ७०७

२. ज्यूल ब्लाख़ - भारतीय आर्यभाषा - पृ० ३२०

३. धी०वर्मा - ब्रजभाषा - २१३-१४

४. वही, २२३

५. वही २१३

६. कैलाग - हिं०ग्रा०, पृ० ३४५ का फुटनोट

क्रिया और प्रत्यय के मध्य - ही - निपात का प्रयोग नहीं मिलता । अत: यह स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि -गा- भविष्यत् का विकास-स्वार्थिक -क- से ही हुआ है, जो कि हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप लिंगभेद से प्रभावित होता है । इसी अर्थ में इसे कृदन्तीय प्रत्यय कह सकते हैं ।

१४४. -ना - रूपों के विकास के लिये देखिये क्रियार्थक संज्ञा (अनु० १६१-१६८)।

(ग) नवनिर्मित काल

१४५. नवनिर्मित कालों में उक्त रूपों के अतिरिक्त शेष समस्त काल आते हैं । इनका सम्बन्ध सीधे संस्कृत से नहीं जोड़ा जा सकता । इनमें संभावनार्थ के कुछ रूप प्राचीनतापरक हैं । इन कालों का निर्माण धातु, कृदन्त और सहायक क्रियाओं के योग से होता है । अत: इन्हें संयुक्तकाल कहते हैं । संयुक्त काल की रचना आधुनिक मानी जाती है ।[१] सहायक क्रियाओं की व्युत्पत्ति यहां दी जाती है ।

सहायक क्रिया

१४६. सहायक क्रियाओं के दो रूप हैं । एक तो काल- सूचक और संयुक्त काल में सहायक । इनका विवेचन अनु० १६४, १६६-८०. में किया जायेगा । काल-सूचक सहायक क्रियाओं में मुख्य तीन हैं --है, हो, रह् ।

१४७. - है -

-है- के रूपों का विकास सं० अस्[२] से माना जाता है । ब्रज और अवधी के अहै, अहइ आदि रूप इसी से सम्बद्ध हैं । अपभ्रंश और मध्ययुगीन हिन्दी तक प्राप्त - अछ -[३] सहायक क्रिया भी - अस् से ही व्युत्पन्न मानी गई ।

---

१. धी०वर्मा, हि०भा० इति० - ३२४

२. वही, ३२१

३. नामवर सिंह, हिं०वि०अप०यो०, पृ० १३४

यह रूप बंगला पहाड़ी, गुजराती और राजस्थानी में प्रयुक्त होता है। इसका विकास डा० चटर्जी *अच्छ[१] और टर्नर सं०आ+ छ[२] मानते हैं। डा० सक्सेना[३] का भी यही मत है। नामवर सिंह[४] ने अस् से व्युत्पन्न माना है। पिशल ने सं० ऋच्छति[५] से इसका विकास मानते हुए हैमचन्द्र के आस् (४-२१५), क्रमदीश्वर के अस् अस्कोली के *आल्स्यति, आत्स्यते को अलग क्रिया मानकर इसका -तिष्ठति अर्थ किया है। इस सम्बन्ध में पिशल ने ट्रैंकनर, टार्प, म्युलर और योहान्सोन के मतों का खण्डन करते हुए ऋच्छति और आर्च्छत रूपों के सन्दर्भ में - अच्छ् का अर्थ- रहना या खड़ा रहना किया है। तैसीतोरी[६] ने राजस्थानी - अछइ को पिशल के अनुकूल ऋच्छति से व्युत्पन्न माना है। पुरानी अवधी में यह - आछ्[७] रूप में मिलता है। है - अहै- अहइ की व्युत्पत्ति के प्रति निम्नलिखित रूपों का उल्लेख मिलता है :--

१. चटर्जी - *असति > आह्य् - हए - ह्य्-अहै, है।[८]
२. सक्सेना - सं० अस्ति > प्रा० अत्थि-आथि-अव०आहि। ९
३. धीरेन्द्र वर्मा - सं० अस्ति > प्रा० अत्थि - है।[१०]
४. उ०ना०तिवारी - सं० अस्ति > अत्थि > अहि > है।[११]

---

१. वैलें, ७६६
२. ने० डि०
३. इवो० अ०, २९२
४. हि०वि० अप०यो०, पृ० १३४
५. प्रा०भा०व्या०, ४८०
६. पु०राज०, ११४
७. उ० य०प्र०, १४-२८, ६-६, ६-११ आदि
८. बैं०लैं , ७६७
९. इवो०अ०-२९२
१०. हिं०भा०इ०, ३०५
११. हिं०भा० उद्०वि० - पृ० ५०१

५. नामवर सिंह- अस्ति > असति > अछइ > अहइ, अहै, है ।[1]

१४८. यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राकृत युग में अत्थि और आसि रूप केवल साहित्यिक प्रयोग थे और यह दोनों ही रूप प्रत्येक पुरुष और वचन में समान रूप से मिलते हैं ।[2] ह्विटनी ने यह ठीक ही कहा है कि अस् की रूपावली संस्कृत- प्राकृत-युग में अनियमित बनी रही । संस्कृत में अस् के रूप सभी लकारों में उपलब्ध नहीं और भविष्यत् में तो यह 'भू' से अभिन्न रहती है । इसी प्रकार अस् का - अ - सर्वत्र नहीं मिलता । ऐसा प्रतीत होता है कि जब भाषाओं में आदि स्वरागम हो गया था । साथ ही - अस्- के अनेक रूपों में - स > ह[2] हो गया था । इस रूप में - अह् - रूप जनभाषा में प्राकृत युग से ही प्रतिष्ठित होने लगा था । अपभ्रंश में यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है जहां वर्तमान निश्चयार्थ के प्रत्ययों में हिन्दी के प्रत्ययों से समानता दिखाई देने लगती है । डा० तगारे[3] ने संस्कृत से लेकर अपभ्रंश युग तक प्राप्त समस्त प्रत्यय रूपों का जो विकासात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है उनमें से कुछ विशिष्ट रूप यहां दिये जाते हैं ।

	ए०व०	ब०व०
१.	अउं	अहं
२.	अहि, एहि । असि,एसि	अहु । अह
३.	अइ।एइ	अहिं।अइं

संस्कृत अस् से विकसित अपभ्रंश अह् के साथ इन प्रत्ययों को संयुक्त करने पर हिन्दी - है - आदि रूप बड़ी सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं । अन्य धातुओं में भी यही प्रत्यय संयुक्त होते हैं, जैसे - कर्+अउं = करउं, करूं अथवा अह्+अउं =

---

१. हिं०वि०अप०यो० - पृ० १३४
२. बुलर, इं०प्रा०, १३२ - ३३
३. सरयूप्रसाद अग्रवाल- प्राकृत-विमर्श, पृ० २१७-२१८
४. हिं०ग्रा०अप०, पृ० २८५ और आगे ।

अहउँ, अहूँ, हूँ । इन रूपों को देखते हुए नामवर सिंह का यह कथन असत्य प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश में -अह- वाले रूप प्राप्त नहीं होते । उदाहरणार्थ - अह् - के तीन भिन्न रूप प्रस्तुत हैं - स्वयंभू - आहवे (प०च० ५६।२), अह (सुदं०च० ७।२) , हइ (नेमि० चउ० २०) ।

१४९. -हो-

-हो- सहायक क्रिया का विकास संस्कृत -भू - के रूपों से माना जाता है । प्राय: सभी विद्वानों ने इसके विविध रूपों पर भलीभांति विचार किया है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से यहां इतना संकेत पर्याप्त है कि -अस् के विकास में -भू- के रूपों का योगदान प्रा०भा०आ० से ही स्वीकृत है ।

१५०. -रह्-

-रह् - को देशज,[1] सं० रक्ष्[2] से व्युत्पन्न अथवा अनिर्णीत[3] कहा गया है । टर्नर[4] इसका सम्बन्ध सं० रहित से जोड़ते हैं जो मूलत: त्यागना अर्थवाली सं० - रह् धातु से व्युत्पन्न है । यद्यपि चटर्जी महोदय[5] ने भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का खण्डन किया है, किन्तु मुझे इसका विकास - रह् - से सम्बद्ध प्रतीत होता है । संस्कृत रह:स्थ (गुप्त स्थान में रहना, या अकेला) और रहोगत[6] (एकान्त में स्थित, गुप्त स्थान में गया हुआ) शब्दों में रहने का भाव

---

१. पाइअसद्द महण्णवो, पृ० ७०८
२. प्लैट्स,हिं०डि०, हार्नले - वर्बरूट्स, राहुल-हिं०का०धा० ६, हीरालाल जैन, पा० दो० ४६, १६१ ।
३. धीरेन्द्र वर्मा, हिं०भा०,इ०,३०८
४. नै०डि० , पृ० ४३१
५. वैलं- ७६८
६. कैपेलर, सं०इंग०डि०, पृ० ४४५

लगा हुआ है । संभव है कि पाली में इसीलिए - रह्- त्यागना और रहना दोनों में मिलता है । इसके अन्य प्रयोगों में रहणा, रहइ, रहेइ, रहर, रहसु, रहाविश्र, रहिश्र मिलते हैं । परवर्ती युग में त्यागना अर्थ का लोप और - अस्-गम् - के उक्त सहयोग से - स्थित होने का भाव संभावित है । प्राय: सभी आ०आ०भा० में रह् इसी अर्थ में प्राप्त होता है ।[१]

विशेष - हिन्दी में -था-गा रूपों को सहायक क्रिया कहा गया है । इनमे -था- व्युत्पत्ति की दृष्टि से कृदन्तीय है और व्यवहार रूप में कालबोधक स्वतंत्र क्रिया । इस रूप में यह सहायक क्रिया है । -गा- केवल काल बोधक प्रत्यय है (दे ० काल रचना - अनु० २२६ ख.) ।

पूर्वकालिक कृदन्त

१५१. हिन्दी में पूर्वकालिक कृदन्त दो प्रकार से बनते हैं । एक तो धातु में- अ- प्रत्यय (पूर्वी हिन्दी और बिहारी में यह - इ - है) जोड़कर बनाते हैं और दूसरे, इसी प्रथम रूप के आगे -कर- अथवा-के- अथवा द्विरुक्त रूप में - करके- संयुक्त किये जाते हैं । जैसे --

१. धातु + अ = देख् + अ = देख

उदाहरण - जाओ, खेत देख आओ । रास्ता देखे देख चलो ।

२. (क) धातु + अ + कर (अथवा + के) - देख् + अ + कर (के) देखकर (के) । उदा० -- देखकर, चलकर, कर के , उठ के भागा, उठकर भागा ।

(ख) द्विरुक्त रूप - वह दूध पीकर के ही उठा , मैं भोजन करके ही जाऊंगा ।

इनका विकास निम्नलिखित रूप में हुआ है ।

---

१. वले- वर्बल काम्पोजीशन इन इण्डो आर्यन, पृ० १८६

१५२. (अ) -य- (संस्कृत-य - (ल्यप्) जो औपसर्गिक धातुओं में लगता था लेकिन पालि-प्राकृत युग में - त्वा- (उपसर्ग- रहित धातुओं में) से मिलने लगा । डा० सुकुमार सेन (तु०पा०प्रा०व्या०, पृ० १६८) प्रारंभिक काल से ही असमापिका पद और क्रियाजात विशेष्यों का पारस्परिक आदान-प्रदान मानते हैं , जैसे- जाणित्ता, उद्भिन्ता, दसयिन्ता < दर्शयित्वा, उट्ठाय, करिय, ददिय, आदाय, निधाय, गइाय, शौरसेनी में करिअ, गच्छिअ, सुणिअ रूप आए हैं । अपभ्रंश में डा० सेन (पृ० १६६) के अनुसार सदैव ही क्रियाजात विशेष्य के लिये असमापिका और असमापिका के स्थान पर क्रियाजात विशेष्य का प्रयोग हुआ है । फलस्वरूप अपभ्रंश में यह और घिस कर भइ, करि, सुणि, कर, सुन रूप बन गए । हिन्दी में ऐसी औपसर्गिक धातुओं की कमी नहीं है जिनमें रूप-परिवर्तन प्राकृत युग में ही न हो गया हो (दे०अनु० ४२) ।

१५३. हिन्दी-कर- से ही - के - रूप का विकास मानना उचित है । इस सम्बन्ध में डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा (हि०भा०इति० ३११) सुझाए गए रूप - प्रा० कइव > के उचित नहीं प्रतीत होता । इसी प्रकार डा० सेन की आनुमानिक व्युत्पत्ति - कृत्वा >*कर्यं > करिय (पृ० २२) भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इनका यत्किंचित् प्रयोग वे स्वयं ऋग्वेद - एत्या, अरंकृत्या, आगत्या - रूप में मानते हैं (पृ० २०१ का फुटनोट) । इस सन्दर्भ में ह्विटनी (सं०ग्रा० १०६४) का यह कथन अधिक उपयुक्त है कि किसी भी संज्ञा या विशेषण के साथ कृ धातु के किसी भी रूप - या व्युत्पन्न रूप का संयोग संभव है । ऐसी दशा में संज्ञा अथवा विशेषण शब्दएक प्रकार से औपसर्गिक होगा । जैसे - कुण्डलीकृत, ऋजुकृत्य , आत्मीकृ , अथवा अञ्जलीकृत्य , नग्नंकृत्य, नमस्कृत्य , अथवा हस्तगृह्य, कर्णगृह्य (वही - १०६१ - ६२) आदि ।

१५४. इस रूप में - कर - के - रूपों के पूर्व आने वाली क्रिया का रूप विशेषणवत् होता है । फलस्वरूप कर - के रूप वास्तविक पूर्वकालिक रूप कहे जा सकते हैं । जब इनके पूर्व संज्ञा शब्द आता है तब - कर - के अनन्तर -के- लगना अनिवार्य होता है । जैसे - काम कर के जाऊंगा । अन्यत्र यह विकल्प से आते हैं, जैसे - पढ़ के

जाऊंगा, पढ़ कर जाऊंगा ।

१५५. द्वितक्रिया पदों में यह वैकल्पिक होते हैं, जैसे - देख देख चलो, देख-देख कर चलो । किन्तु - क - अन्तवाली धातुओं में यह अनिवार्यत: लगता है, जैसे-रुक रुक कर, झुक झुक , फूंक,पटक, झटक, झटक आदि के साथ ।

१५६. अपभ्रंश युग में इसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं --

(क) सरह - वैज्ज देक्खि कि रोग पराइ (दो०को० १)

(ख) प्राकृत पैंगलम् - संणावि कर (२५६ - ४), कट्टि कए (३३०-३) , कट्टि कइ (घ ३३० - ४) , सज्जिकरा (३३०-६)

(ग) उक्ति व्यक्ति प्रकरण - धरमु करि आछ (११-११)

(घ) हेमचन्द्र - तड़न्ति करि (४।३५७)

(ङ०) सन्देशरासक-पिक्खि करि (३१), दहेविकरि (१०८), कुहरि एव करि घल्लिय (६२)

(च) पृथ्वीराज रासो - इच्छ करि मंगहइ (१२३।२),होइ के मोहि-कहायो (२७५।२) ।

वाच्य -

१५७. संस्कृत में कर्मवाच्य की रचना संयोगात्मक थी । धातु के अनन्तर -य - के संयोग से कर्मवाच्य (गम्यते , दीयते) बनाने की शैली हिन्दी में नहीं मिलती । हिन्दी की प्रकृति वियोगात्मक है और इसके बनाने का ढंग भी आधुनिक है । हिन्दी में कर्मवाच्य मूल धातु के कृदन्तीय रूपों में जाना क्रिया के संयोग से बनता है , जैसे - आम खाया जाता है, गोली चलाइ जायेगी ।

१५८. आ०भा०आ० में वाच्य की स्थिति पर विद्वानों ने विस्तार से विचार

---

१. (क) हार्नले - गौ०ग्रा०,४८४ (ख) तेसीतोरी-पु०राज० १४०(ग) ग्रियर्सन-इण्ट्रोडक्शन टु मैथिली डायलेक्ट, १९०९,पृ० २१४ और आगे ,(घ) चटर्जी- बैंलं ६७१-७२ (ङ०) धीरेन्द्रवर्मा-हिं०भा०इ० - ३२४ (च) उदयनारायण तिवारी-हिं०भा० उद्०-वि०, पृ० ४६५-६६

किया है । हिन्दी की केवल एक क्रिया `चाहिए` का सम्बन्ध संस्कृत - य - से जोड़ा जाता है । इसका विकास इस रूप में हुआ है - सं०य 7 पा० इय, इय्य, ईय7प्रा० इज्ज ,ईअ7 आ०भा०आ० ईज,इअ, इआ । जैसे - सिंधी- करीजे, मार-वाड़ी - करीजणो , नेपाली-पढियै ।

१५६. डा० चटर्जी ने बोलियों के - आ - प्रत्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत नाम-धातु के - आय - प्रत्यय से मानी है । मेरे विचार से यह - आ - प्रत्यय प्रेर-णार्थक प्रत्यय है (दे० अनु०- ६६-१२४) और यहां डा० चटर्जी भी इसकी प्रकृति प्रेरणार्थक ही मानते हैं ।

१६०. हिन्दी भूत निश्चयार्थ में संस्कृत भूतकालिक कर्मवाच्य का कृदन्तीय भाव विद्यमान है, अर्थात् हिन्दी भूतकाल की सकर्मक धातुओं में संस्कृत कर्मणि प्रयोग सुरक्षित है । हिन्दी में इसकी प्रकृति कर्तरि और कर्मणि मानी जाती है ।

अध्याय --४

क्रियार्थक - संज्ञा

अध्याय-४

क्रियार्थक संज्ञा

१६१. हिन्दी और उसकी विभाषाओं में क्रियार्थक संज्ञा के दो मुख्य प्रत्यय - ना - और - ब - प्राप्त होते हैं। यद्यपि पश्चिमी हिन्दी और पश्चिम की भाषाओं में -ना- और पूर्वी हिन्दी तथा पूरब की भाषाओं में -ब- प्रत्यय अधिकांशत: प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इसे निश्चित नियम नहीं कह सकते। यह दोनों ही रूप प्राय: वैकल्पिक हैं। केवल परिनिष्ठित हिन्दी में अकेला -ना- रूप प्रयुक्त होता है। इनके निम्नलिखित रूपान्तर मिलते हैं - ना = न, ना, नै, नी, नौ, नु और -ब- - ब, बा, बै, बी, बौ, व बु। अवधी में एक अन्य रूप -अइ- भी देखा जाता है।[1] इन पर नीचे विचार किया जाता है।

१६२. -न- रूपों के विकास के प्रति हार्नली[2] के इस मत की पुष्टि केलाग[3] ने की है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत-अनीयर्- प्रत्यय से हुई है। डा० बाबूराम सक्सेना[3] इसका खण्डन करते हुए बीम्स के इस मत का समर्थन करते हैं कि इसका विकास संस्कृत ल्युट् से हुआ है और प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल में क्रियार्थक संज्ञा का अर्थ प्रकट करता था। डा० धीरेन्द्र वर्मा[4] ने इसी (ल्युट्) से सहमति प्रकट करते हुए इसका

---

१. इवो०आ०अ०, पृ० २८२

२. जे०ए०ओ०एस०बी०, भाग १, १८७३ और कं०ग्रा०, अनु० ३१४, ३१४, ३२१

३. इवो०आ०अ०, पृ० २८३-२८४

४. हि०भा०इति०, पृ० २६६

विकास इस रूप में दिया है —सं० करणीयं करणीअं करणाअं करना ।
डा० चटर्जी इसे इसी प्रकार करणं- चलनं से विकसित मानते हुए - आ - (करना) को -अ- का दीर्घीकरण[१] कहते हैं । भोलानाथ तिवारी[२] परोक्ष रूप में चटर्जी का अनुसरण करते हैं । नामवर सिंह -न- का विकास - अनीय-क्रियार्थक कृदन्त से मानते हुए हेमचन्द्र (४-४४१) की पुष्टि करते हैं । उनके अनुसार -नो- वस्तुत: -न- का ओकारान्त रूप है, जो पुरानी ब्रजभाषा की विशेषता है ।[३] मुझे इन रूपों के विकास में कम से कम तीन तत्व- अन, अनीय और चतुर्थी के रूप दिखाई पड़ते हैं, जैसे - पठनं, पठनीयं, पठनाय, भाववाचक चतुर्थी का 'पठनाय' प्रयोग क्रियार्थक है । इन रूपों का विकास निम्नलिखित है ।

१६३ (क) -अन- अना-

डा० सुकुमार सेन ने शिलालेखी प्राकृत से उद्धृत यह उदाहरण दिये हैं - पालना (पालन), दिपना (दिपन), कारापना, मन्यता । अपभ्रंश में यह इन चार रूपों[४] में मिलता है —अण - अणह-अणउ- अणु- ।- अण- अणह- रूपों से हिन्दी के -अन- अना-.रूप सम्बद्ध हैं । इनके प्रचुर रूप तत्कालीन ग्रन्थों में मिलते हैं । -अणउ - रूप से -नो-नौ-रूपों का और -अणु-रूप से, जो वस्तुत: -अणउ- का संकोच है, -नु- रूप का विकास हुआ है । अपभ्रंश आदि के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं - उपाडण, अवणागवणा (दो०को०), आवण (स्वयंभू), कहन (रासो- ३७।४) , दिक्खन (रासो ६१।४), गोरखबानी में अनेक प्रयोग हैं - रहिणां, कहिणां (६२), किन्तु रहणां, कहणां (७२), करणां, धरणां (७३), दीसण (८०) । कबीर में - मरन, परन, जलन, गावन, रोवन, बोलनां, पेखना, डरपना,

---

१. बेले, ७४३
२. हिं०भा०, पृ० २४८
३. पृथ्वीराज रासो की भाषा, पृ० ६४-६५
४. (क) भायाणी - संदेश रासक, अनु० ६६,
   (ख) वीरेन्द्र श्रीवास्तव- अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० २२

कृदन्त रूपों के लिए देखिए गाइगर अनु० २१४ ।

१६६ भविष्यत् कर्मवाच्य कृदन्त- अनीय - से व्युत्पन्न रूप अधिक स्पष्ट हैं - शिलालेखी प्राकृत में - अस्वासनिय (जौ०), वेदनिय (शा०मा०का०), पूजनीय (पा०), पूअणीअ (शौ०) , करंनिय (निय०) तथा करनिअनि (खो०, ध०) रूप नवीन सूचना है । प्राकृत में, विशेष रूप से शौरसेनी और मागधी में - अणिज्ज- के लिये- अणीअ-रूप मिलता है, जैसे वन्दणीय (मृच्छ० ६६,१७), करणीअ (विक्रम० ३६,८, नागा० ४,१५), रक्खणीय (शकु० ७४,८), पुच्छणीअ (मृच्छ १४२, ६) । इस सन्दर्भ में पिशल[1] ने अपभ्रंश - अणण- रूप के लिये करणय, रमणय रूपों की कल्पना की है । यदि इन रूपों को सत्य मान लें तो करणीअ आदि रूपों से -अ- का लोप होने से परवर्ती करनी, भरनी (कबीर), पढ़नी आदि रूप और - करणं - आदि से करना, भरना आदि रूप स्वत: सिद्ध हो जाते हैं । तुलसी में - अवलोकनि, बोलनि, मिलनि, ठवनि रूप मिलते हैं । पद्माकर और ग्वाल में एक अन्य रूप-दुहावनी- मिलता है (- दूनी दुहावनी ले बो करो - जगद्विनोद, यह गाय तुही पै दुहावनी है - ग्वाल) ।

-ने-

१६७. -ने- रूप के प्रति प्राय: यह धारणा सर्वस्वीकृत है कि अन्य शब्द-रूपों की भांति -ना- प्रत्यय भी -आ-ए- ई- (ना, ने, नी) विकारी हैं । इस सम्बन्ध में ऐसे रूपों के बीज संस्कृत में विद्यमान थे । यह मनोरंजक तथ्य है कि विभिन्न धातुपाठों में समस्त धातुओं के बोध के लिये एक विशिष्ट व्याख्या-शैली प्रचलित रही है - चर्व् अदने, कण्ठ् - आध्याने, भंज् - आमर्दने , मृष् - आमर्षणे आदि । किन्तु उक्त विकारी रूप अधिक सार्थक है जिस पर संस्कृत करणे ल्युट: की छाया स्पष्ट है[2]।

---

१. प्रा०भा०व्या०, पृ० १६६-७०

२. बाबूराम सक्सेना-ए०यू० स्टडीज,१६२६, पृ० २३७

-नौ-नु-

१६८. -नौ - नु- रूपों का सम्बन्ध अपभ्रंश - अणु-अणाउ- रूपों से है । यद्यपि -नौ-नौं-नु- आदि रूपों को ब्रजभाषा की विशेषता[1] कहा गया है,लेकिन यह रूप हिन्दी की अन्य विभाषाओं में भी प्राप्त होते हैं । इन्हें पश्चिमी-हिन्दी की विशेषता कहना अधिक उपयुक्त है । कुछ रूप यह हैं - नो- (कन्नौजी), -णो-णूं- (पूर्वी और पश्चिमी राजस्थानी, -णो- (गढ़वाली तथा कुमायूंनी), -नौ- (पुरानी अवधी) और -नु- (नेपाली)[2]। यह रूप वस्तुत: ओकारान्त हैं और -नौं-नु- रूपों को -नौ- का विकास कह सकते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश युग से लेकर हिन्दी के मध्ययुग तक यह सभी वैकल्पिक प्रयोग थे और प्राय: सभी क्षेत्रों में यह किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं - सन्देश रासक- धरणाउ (७१), कहणु (८१), पृथ्वीराजरासो - कहणो, गहणो (२८०-१), रहणो, वहणो (२८०-२), बोलिणो (स्वयंभू), समाणाउ (पुष्पदन्त), मांगनौ, राचनौं (कबीर), धावनौं (घनानन्द, बोधा) ।

१६९. (ख) - ब-बा-

-ब-कै- अनेक रूप -ब-बा-बे-बी-बो-बौ-बु- प्राप्त होते हैं । इन रूपों का विकास संस्कृत-तव्य-प्रत्यय से हुआ है । -तव्य- प्रत्यय का प्रयोग अथर्ववेद [3] से मिलने लगता है । संस्कृत काल में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है । -तव्य- का विकास सं० तव्य (इतव्य) > अब्ब > इअब्ब > ब- रूप में माना जाता है । यद्यपि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के सन्दर्भ में इसे पूर्वीय प्रयोग माना गया है, लेकिन

---

१. नामवर सिंह- पृ०रा०रासो, पृ० ६४-६५

२. कैलाग- हिं०ग्रा०, पृ० ३२८, टैबुल २०

३. टी०बरो - संस्कृत भाषा, पृ० ४४८ (अनु० भोलाशंकर व्यास)

पश्चिम में भी इसके प्रयोग कम प्रचलित नहीं हैं । इसी प्रकार इसके विविध रूपों को, विशेष रूप से भविष्य संकेतार्थ में स्थानीय विशेषता[1] कहा गया है । किन्तु इन रूपों (ना-ब) के विविध प्रयोगों (संज्ञा, विशेषण, विधि, भविष्यत् आदि) को देखते हुए ज़्यूल ब्लाख़ का यह कथन बहुत उचित है कि भविष्यत् बोधक -य- प्रत्यय के समाप्त हो जाने से व्यंजन-समुदायों में परस्पर सामंजस्य होता है और रचना की स्पष्टता नष्ट हो जाती है ।[2] इसका एक प्रभाव यह होता है कि प्राचीन-त्व- से निर्मित - त्वाय- रूप धीरे-धीरे -तव्य- की ओर बढ़ने लगता है और -तव्य - का संयोग वर्तमान [3] पचति , पुच्छति, पूजेति आदि के रूपों से सीधे होने लगता है - पचितव्ब, पुच्छितव्ब, पूजेतव्ब - आदि । निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि यह दोनों रूप (-ना-ब-) समानान्तर रूप से क्रियार्थक संज्ञा के रूप में विकसित हुए हैं, और दूसरे, अपने मूल भाव को सुरक्षित रखने के कारण -ब- प्रत्यय भविष्यत् काल में प्रबल हो गया । इनके विविध रूपों का विकास यहां दिया जाता है ।

(१)-ब- पा० कत्तव्व, जाइतव्व, जिनितव्व, प्रा० होअव्ब, जाणिदव्ब, जाणिअव्ब, अप० हसिअव्ब, हिन्दी - पढब, देखब, करव (उक्ति व्यक्ति प्रकरण १२।१६-१७) , खाब (तुलसी, जायसी, नूर मुहम्मद), लहब (सूर) ।

(२) -बा- सं० एय्य 7 अप० एव्व[4] से विकसित हुआ है । परवर्ती -एवा- इसी रूप से निकला है । जैसे - अप० जाणेबा, सोएवा, जग्गेवा, परवर्ती अपभ्रंश - पाबा, जाबा, कब्बा (दे० सुकुमार सेन, पृ० १६७) । णायकुमारचरिउ में - पंचेवअ ,

---

१. सक्सेना- इवो०आ० अवधी, पृ० २६५-६६

२. भारतीय आर्य भाषा, पृ० ३००

३. सुकुमार सेन- तुल०पा०प्रा०अ०व्या०, पृ० १६६

४. पिशल - प्रा०भा०व्या०, पृ० ३६७ तथा ८११-१२ तथा सुकुमार सेन- तुल० पा०प्रा० अप०व्या० - पृ० १६६

जाएवञ, जोएवञ, दारेवञ आया है । हिन्दी-पढ़िबा, मरिबा (कबीर), देबा (तुलसी), चलिबा (उड़िया, बंगला) ।

(३) - बौ-बो - निय० गंदवो, गिनिंदवो, कत्तंवो, कबीर - कहिबौ, नाचिबौ, मरिबौ, ~~मरिबौ~~, सूर-चलिबौ, बिहारी-देबौ, ह्वैबौ, मरिबौ, छमिबौ (तुलसी), रोइबौ (नूर मुहम्मद) ।

(४) -बै-बै- यह परवर्ती विकास प्रतीत होते हैं । जाबैं, जैंउबै, पढबैं (उ०व्य०प्रक०-११।२०-२३), न्हाइबैं, पूजिबै (गो०बा०), तिरिबै, मरवै, खाबै (कबीर), हंसिबै, देखिबै, जइबै, बजइबै (तुलसी), राखिबै, परिबै (बिहारी) । यह एकारान्त रूप ठीक-नै- विकृत रूप की ही भांति हैं । डा० सक्सेना इन्हें विकृत रूप ही मानते हैं ।

(५) -बी-बि - डा० सुकुमार सैन (पृ० १६६-६७) इन्हें अशोकी प्राकृत के - क्टविय, इक्षितविय, दखितविय- रूपों से सम्बद्ध मानते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि -तव्य- का एक विकल्प -तविय- भी बन गया था जिसे स्त्रीवाची रूप मान सकते हैं । उक्ति व्यक्ति प्रकरण में प्रयुक्त स्त्रीवाची रूपों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है । इस रूप में यह भविष्यत् बोधक अधिक होता है, जबकि प्राय: -न-ब- प्रत्यान्त रूप उभय-लिंग में प्रयुक्त होते हैं । यहां डा० चटर्जी द्वारा निर्देशित स्त्रीवाची - इतव्या + इका-[१] रूप मान्य नहीं है क्योंकि वहीं वे - देवि- को दातव्या से सम्बद्ध भी कहते हैं । उक्तिव्यक्ति प्रकरण में प्रयुक्त रूप हैं -अभ्यासबि (१२।१६), देबि (२२।२७) तथा पाउबि (जायसी), करबि (तुलसी) किन्तु जानिबी , पालबी और एक विशिष्ट प्रयोग धाइबी (तुलसी) । पु०राज० में करवी, वर्जवी रूप थे (तैसीतोरी- पृ० १७४) ।

(६) -बु- इसे -बौ-बो- रूपों का संकोच माना जा सकता है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रत्यय मूलत: स्वरान्त माना जा सकता है । किन्तु मूलत: स्वरान्त धातुओं

---

१. उक्तिव्यक्तिप्रकरण-स्टडी, पृ० २४

के अनन्तर आने के कारण उकारान्त हो गया । तुलसी में होबु, जाबु रूप हैं । डा० सक्सेना ने लखीमपुरी अवधी में - बजावबु, रोउबु, लटावबु- आदि रूप दिए हैं ।[१] पुरानी राज० - छांड़िवु, करिवुं, धोइवुं (तैसीतोरी, पृ० १७४-७५) ।

(७) - अइ - क्रियार्थक- अइ-रूप केवल पूर्वी हिन्दी तक ही सीमित नहीं है । यह बिहारी और पश्चिमी हिन्दी की विभाषाओं में भी प्राप्त होता है । डा० चटर्जी ने भोजपुरी, मैथिली, असमी और बंगला में इस रूप के उदाहरण दिये हैं ।[२] डा० तैसीतोरी पुरानी राजस्थानी के विवेचन में - अइ- को -ना- की भांति पृथक् करके धातु-रूप[३] प्राप्त करने की पुष्टि करते हैं । किन्तु पु०राज० में भी अवधी की ही भांति करइ, रहइ आदि रूप वर्तमानकाल के रूपों से विकसित माने गये हैं । डा० सक्सेना इसके विकास के प्रति सन्देह[४] प्रकट करते हुए इसे प्राचीन प्रेरणार्थक धातु से- कराइउम् 7 कराइउं 7 करइ- रूप में व्युत्पन्न मानते हैं ।[५] लेकिन मुझे यह वर्तमान काल से ही व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं । वस्तुत:- -ना- -ब- अइ- तीनों के विकास और अर्थ एक समान नहीं हैं । भिन्न स्रोतों से व्युत्पन्न यहतीनों ही रूप सार्वत्रिक नहीं हैं । इसलिये यह मानकर चलने में कोई तत्व नहीं है कि कृदन्तों से कृदन्त ही विकसित होगा । इस सम्बन्ध में डा० सक्सेना की स्थापना बहुत उचित है ।[६]

कर्तृवाचक संज्ञा -

१७०. कर्तृवाचक संज्ञा के हिन्दी में दो प्रत्यय हैं - वाला, और हारा । यह क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप के अनन्तर संयुक्त किये जाते हैं, जैसे - करनेवाला, चलने-

---

१. इवो०आ०अवधी, पृ० २८३-८४

२. बैं०लैं०, पृ० ७४७

३. पु०राज०, पृ० १४३

४. ए०यू० स्टडीज, १९२६, पृ० ३३७

५. इवो० आ० अवधी, पृ० २८५

६. ए०यू० स्टडीज, पृ० ३३७ का फुटनोट

वाली, सिरजनहारा, मैटनहारा, मरनहार, सौवनहार । इनमें अन्तिम दो रूप बोलियों के हैं । इनके अतिरिक्त बोलियों के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में कम प्रयुक्त- अइया-प्रत्यय भी है । -अइया - प्रत्यय को धीरेन्द्र वर्मा आदि बोलियों का प्रत्यय मानते हैं, किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी में भी इसके प्रयोग प्रचलित हैं, जैसे- गवैया, लड़ैया, बजैया, कटैया आदि । इनकी व्युत्पत्ति नीचे दी जाती है ।

१. वाला- इसका विकास संस्कृत-पालक से माना जाता है ।[१] तैसीतोरी द्वारा सुझाये गए रूप[२] से इसका विकास सिद्ध नहीं होता ।

२. हारा, हार - यह संस्कृत धारक अथवा-धार-[३] रूप से व्युत्पन्न है ।

३. अइया - डा० सक्सैना[४] इसका विकास संस्कृत कर्तृवाचक संज्ञा के प्रत्यय- तृ+क- से मानते हैं, जैसे - पढ़ैया < सं० पठतृक: ।

---

१. (क) धीरेन्द्र वर्मा -हि०भा०इ० - १३३ (ख) उ०ना० तिवारी - हि०भा० उद्०वि०, पृ० ४२३ ।

२. (क) पु०रा०ज०, पृ० १७७-७८

३. (क) धी०वर्मा - हिं०भा०इ०, ३१३, (ख) चटर्जी - उ०व्य०प्र०स्टडी, पृ० २३-२४
(ग) वीरेन्द्र श्रीवास्तव - अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ० २४०

४. इ०आ०अवधी- पृ० २८६

अध्याय – ५

संयुक्त क्रिया

अध्याय - ५

संयुक्त क्रिया

१७१. हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं की रचना असाधारण है किन्तु सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार के सूक्ष्म भेदों का क्रमिक विकास प्रकट करने में पूर्ण समर्थ हैं। सामान्यत: संयुक्त क्रियाओं के विकास के सम्बन्ध में तीन मत हैं। धीरेन्द्र वर्मा[१] और उदयनारायण तिवारी[२] के अनुसार इनका विकास आधुनिक है। चटर्जी[३] ने चर्यापदों को दृष्टि में रखते हुए उन्हें आ०भा०आ० के प्रारंभिक चरण से स्वीकार करते हुए इन पर द्रविड़ प्रभाव भी माना। रामचन्द्र नारायण वले[४] ने प्रो० नरसिंह आदि विद्वानों (र०एन० नरसिंह- ग्रामर आव् ओल्डेस्ट कनारीज़ इन्सक्रिप्शन्स, मैसूर, १६४४, नागवर्मन्- कर्णाटिक भाषाभूषणा- सं० श्री कै०बी०बी० राइस, १८८४, एफ़ किटेल - ग्रामर आव् कन्नड) का हवाला देते हुए चटर्जी के द्रविड - प्रभाव का खण्डन तो किया किन्तु वे इसका उचित समाधान नहीं दे पाये। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि द्रविड भाषाओं में काल्डवैल और शंकरन् जैसे विद्वानों ने भी संयुक्त क्रिया को आर्य-प्रभाव माना है अथवा उल्हैनवर्ग का समर्थन करते हुए मानवीय मनोविज्ञान[५] से सम्बद्ध तथ्य कहा है। इनसे इतना निश्चित हो जाता है कि संयुक्त

---

१. हि०भा०इति०, ३२७

२. हि०भा०उद्०वि०,पृ० ५०४

३. बै०लैं०, ७७८

४. वर्बल कम्पोज़ीशन इन इण्डो आर्यन, पृ० २७३

५. वही, पृ० २८२ तथा ३२७

क्रियाओं की सीमा आ०भा०आ० तक ही नहीं है और हिन्दी के सन्दर्भ में संस्कृत और द्रविड़ दोनों ही स्रोतों पर विचार करना होगा ।

१७२. आधुनिक भारतीय (आर्य और द्रविड़) भाषाओं में संयुक्त क्रिया आकस्मिक घटना नहीं है । यही कारण है कि इस प्रश्न पर बीम्स (कं०ग्रा०, भाग ३, पृ० २१५-१६) , यैट्स (इण्ट्रोडक्शन टु हिन्दुस्तानी लैंग्वेज़, कलकत्ता, १८३६, पृ० ७४), फ़ारबिस डंकन (ए ग्रामर आव बैंगाली लैंग्वेज,१२१), केलाग (हिं०ग्रा०, पृ० २५७ - २७६), प्लैट्स (हिं०ग्रा०, पृ० १६६-१८०), के०पी० कुलकर्णी (मराठी भाषा चे उद्गम वा विकास, ३५६) , ग्रियर्सन (लिं०स० भाग ४, मुण्डा एण्ड द्राविडियन २८० - ३), चटर्जी (लैंग्वेज एण्ड लिंग्विस्टिक प्राब्लैम, पृ० १२) , मैकडानैल (वैदिक ग्रामर, २७५), ह्विटनी (सं०ग्रा०, पृ० ३६२ - ४०३), हार्नले (कं०ग्रा० ३८८), रामकृष्णैया, ज़्यूल ब्लाख़ आदि विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं के सन्दर्भ में विचार किया है । इन विद्वानों द्वारा विवेचित सम्पूर्ण सामग्री को तीन रूपों में देखा जा सकता है ।

१. ऐतिहासिक विकास और संस्कृत-समास — इस सम्बन्ध की मुख्य बातें यह हैं -- (क) स्पेइजर और अल्बर्ट हौएफ़र ने ह्विटनी के अनुकूल संस्कृत में सहायक क्रियाओं का पृथक् अस्तित्व मानते हुए क्रियार्थक-संज्ञा के साथ सहायक क्रियाओं का वही प्रयोग स्वीकार किया जो आधुनिक भारोपीय भाषाओं में है (जे०एस० स्पेइजर - संस्कृत सिन्टैक्स १८८६, ३८४ तथा वेदिशे उन्द संस्कृत सिन्टैक्स, १८६५) । इस प्रकार की संस्कृत सहायक क्रियाओं में मुख्य हैं --अर्ह् , शक्, इष् । वले ने यह श्रेय अल्वर्ट (हौएफ़र (इनफ़िनिटिव बैसौन्डर्स इं संस्कृत, १८४०) को दिया जिसने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि क्रियार्थक संज्ञा सहायक क्रिया से मिलकर नये अर्थों का द्योतन करती है । रामकृष्णैया ने (स्टडीज़ इन द्राविडियन फ़िलालोजी, १६३५) तेलुगु क्रियाओं में इस तथ्य को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है । (ख) इन विद्वानों ने पाणिनि के क्रिया-विभाग पर इसलिये प्रश्न-चिह्न लगा दिये कि इनके अनुसार लौकिक संस्कृत के अनेक प्रयोग व्याकरण - सूत्रों से आगे बढ़ गये । फलस्वरूप भट्टोजिदीक्षित (सिद्धान्त कौमुदी), कौण्ड भट्ट (वैयाकरण-

भूषणसार) और विश्वेश्वर (व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि) आदि परवर्ती वैयाकरणों के मतों को विकासात्मक दृष्टि से मान्यता मिली ।

(२) आधुनिक भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण- प्राचीन संस्कृत व्याकरण और भाषा-प्रवाह के आधार पर किया गया जिसकी प्रेरणा पाश्चात्य विवेचन-पद्धति से मिली । फलस्वरूप प्राचीन कृदन्त, विशेषण आदि के संयोग से क्रिया-सम्बन्धों के विकसित नवीन रूपों को क्रिया-समास, क्रिया-समुच्चय, सामासिक क्रिया, धातुपल्लव, संयुक्त क्रिया और मुहावरा-क्रिया आदि नाम दिए गये । इन नवीन नामों का आधार अंग्रेज़ी के ग्रुप वर्ब, वर्ब फ्रेज , कम्पोज्ड वर्ब्स, वर्ब कम्पाउण्ड और कम्पाउण्ड वर्ब आदि शब्द हैं । इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि आधुनिक संयुक्त क्रिया का अर्थद्योतन प्राचीन शब्दावली से संभव नहीं था । इसी प्रकार वर्गीकरण की स्थिति भी है । कैलाग के वर्गीकरण में आधुनिकता के साथ-साथ प्राचीन पद्धति का अनुकरण भी स्पष्ट है जहां उसे वाक्य-विन्यास का अंग माना है । चटर्जी महोदय ने बंगला संयुक्त क्रियाओं के वर्गीकरण का आधार ग्रियर्सन (मैथिली-ग्रामर, पृ० २८६-२८८), प्लैट्स (हिं०ग्रा०, पृ० १६६-८०) और कैलाग को बनाया है ।

(३) तुलनात्मक अध्ययन- की उक्त पूर्वपीठिका का सहज उपयोग वले ने किया है, लेकिन बहुत सन्तोषजनक परिणाम नहीं प्राप्त हुए । चटर्जी आदि ने तुलनात्मक दृष्टि से जो सामग्री दी है, उससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी पर द्रविड़-प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता । ज्यूल ब्लाख़ के अनुसार हिन्दी में द्रविड़ शब्द तो आए हैं लेकिन संयुक्त क्रियायें नहीं हैं, पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता और दूसरे आ०भा०आ० के सम्बन्ध में संस्कृत के अनेक तत्वों का उल्लेख संभवत: कहीं नहीं किया गया । इन रूपों पर यहां विचार किया जाता है ।

१७३. संस्कृत की क्रिया-रचना पाणिनि के सूत्रों में इतनी जकड़ी हुई है कि विविध क्रिया-प्रयोगों के अन्तर्गत आने वाले विविध कृदन्त और तिङ्न्त रूपों को भिन्न नाम नहीं दे सकते । व्याकरण-रचना की यह पद्धति पालि और प्राकृतादि

भाषाओं में बनी रही । मेरी दृष्टि में यह ऐसा कारण है जिससे संयुक्त - क्रियाओं का विकास आधुनिक कहा गया । हिन्दी की संयुक्त क्रिया में प्राप्त अनेक रूपों के बीज संस्कृत में विद्यमान तो थे, लेकिन जहां मध्य भारतीय आर्यभाषाओं में भारतईरानी तत्व उपलब्ध होते हैं अथवा प्राचीन वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट प्राकृत भाषाएं व्याकरणिक नियमों के अनुसार विरचित हैं अथवा अपभ्रंश भाषाओं में भी कृत्रिमता विद्यमान है (सुकुमार सेन- तुल०पा०प्रा०अ०व्या०, पृ० ६-१४), वहां इनके व्याकरण-सम्मत ग्रन्थों पर निर्भर रह कर मूल तत्त्व तक पहुंचना कठिन है । दूसरे, काव्य-ग्रन्थों में वाक्य की पूर्णता और सभी क्रिया रूपों की खोज करना दुराशा मात्र है । फिर भी,- ऐतिहासिक दृष्टि से संयुक्त क्रिया के अनेक रूप संस्कृत में स्पष्टत: मिल जाते हैं । जैसे - पठनाय याति - प्रा० पढणों जाइ हिं० पढ़ने जाय । इस अर्थभेद पर पहले विचार किया जा चुका है । इसी प्रकार संस्कृत में धातुज कर्मबोधक शब्द द्वितीयान्त में पूर्वकालिक अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं, जैसे - दर्शं दर्शं (देख देख कर) , श्रावं श्रावं (सुन सुन कर) आदि । परवर्ती भाषाओं में इनका विकास अर्थबोध की स्पष्टता के आग्रह के कारण भी वियोगात्मक रूप में हुआ है । दामोदर पंडित ने उक्ति व्यक्ति प्रकरण में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं --अवलग्य सुखी भवन्नास्ते, भोजंभोजं व्रजति, दर्शं दर्शं तुष्यति, आदायमादायंपलायते ।

सहायक क्रिया और अभ्यस्त रूप:-

१७४. ह्विटनी, मैकडानेल और वाकरनागेल प्रभृति विद्वानों की दृष्टि संस्कृत की सहायक क्रियाओं - कृ, अस् , भू के प्रयोगों पर आरम्भ से ही रही है । यह क्रियायें अन्य शब्दों (विशेष रूप से अनुकरणमूलक शब्दों) से संयुक्त होकर नवीन अर्थबोध कराती हैं । ह्विटनी[1] ने वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों से - अक्खलीकृत्य, जंज-

---

१. सं०ग्रा०, १०६१

नाभवन्त, अललाभवन्त, मषमषाकरं , किक्किटाकार आदि रूपों का उल्लेख किया है। इन रूपों में न केवल नामधातु करने निर्मित करने की शक्ति निहित है, वरन् नये अर्थों और क्रिया तत्वों को विकसित करने की मूल प्रेरणा भी है । आगे चल कर इन रूपों ने नामधातु, मूलधातु और पूर्वकालिक क्रिया के स्थिरी-करण में भी योग दिया है। जैसे - हिन्दी मसमसाना, कटकटाकर अथवा संस्कृत चमत्क्रियते से व्युत्पन्न चमकना आदि (दे० अनु० ५४-६१) । इस प्रकार की क्रियाओं ने संस्कृत अभ्यस्त रूपों को समाप्त करने में भी योग दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि परवर्ती काल में द्विरुक्तिमूलक अथवा अभ्यासमूलक चार रूप मिलते हैं, जैसे खटखटाना, खटखट करना, चल चल कर, चलते-चलते आदि । संस्कृत में इन्हें न तो अभ्यास कह सकते हैं और न द्विरुक्ति । भुक्त्वा-भुक्त्वा आदि द्वैत-क्रियापदों के प्रति पाणिनि ने वीप्सा (नित्यवीप्सयो : ८।१४) का विधान किया है जिसमें निरन्तरता[१]का भाव लगा हुआ है । इस प्रकार उक्त समस्त रूपों में निर-न्तरता, अभ्यास अथवा वीप्सा का भाव आदिकाल से ही विद्यमान है । अपने रूप-निर्माण, उच्चारण और अभिव्यक्ति , तीनों ही दृष्टियों से उक्त रूप अभ्यस्त रूपों से अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट हैं। इसी प्रकार आदि युग से ही धातु और धातु के योग से काल-रचना सम्पन्न की जाती रही है । ऐसे रूपों के प्रति ह्विटनी[२] का यह अधिकार पूर्वक कथन महत्त्वपूर्ण है कि इनमें सहायक क्रिया के पूर्व आने वाली मूलधातु वस्तुत: व्युत्पन्न धातु होती हैं -- बिभ्यत् यह रूप कृ, अस्, भू के संयोग से निष्पन्न होते हैं - बिभयांचकार, बिभयांबभूव, बिभयामास । ह्विटनी ऐसे रूपों को संस्कृत-क्रिया का विशिष्ट रूप मानते हैं, क्योंकि इन संयुक्त रूपों की दोनों ही धातुएं अभ्यस्त हैं ।

---

१. उदयनारायण तिवारी, हिं०भा०उद्०वि०, पृ० ५०४

२. सं०ग्रा० - १०७० - ७२

क्रिया-समास -

१७५. संस्कृत में क्रिया-संयोगों के विशिष्ट रूपों को समास के अन्तर्गत ही माना है । इस सम्बन्ध में पाणिनि के सूत्रों - समर्थः पदविधिः (२।१।१) तथा सहसुपा (२।१।४) के प्रति पतंजलि से लेकर विश्वेश्वर तक समास-विचार के विकास का ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन सायण और यास्क आदि के उद्धरणों सहित डा० वर्मा[1] ने किया है । इस सम्बन्ध में वर्मा के इस विचार से मैं पूर्णतया सहमत हूं कि कौमुदीकार भट्टोजि दीक्षित ने (आख्यातमाख्यातेन क्रिया सातत्ये) अथवा कौण्ड भट्ट ने वैयाकरण भूषण में (सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङ्णातिङा। सुबन्तेनेति विज्ञेय : समासः षड्विधो बुधः) कह कर समास और क्रिया-सम्बन्धों का जो निरूपण किया है वह प्रचलित रूपों की नवीन सूचना है किन्तु वर्मा ने भट्टोजिदीक्षित के उक्त 'आख्यातमाख्यातेन' के आधार पर क्रिया-समासों का जो विधिवत् और वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसमें कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह गये हैं । यहां यह द्रष्टव्य है कि -

(१) हिन्दी की संयुक्त क्रियाओं में कृदन्त केवल सहायक क्रियाओं के सहयोग से ही काल-रचना व्यक्त नहीं करते वरन् स्वयं कृदन्तीय रूपों से भी काल-सम्पन्न किये जाते हैं, जैसे वह चलता है, वह चला, वह चला गया , वह चलता चला गया ।

(२) भाषा के विकास में ऐसे वैदिक रूपों की उपेक्षा जो आधुनिक युग में तो मिलते हैं, लेकिन म०भा०आ० के ग्रन्थों में नहीं मिलते या अनियमित मान लिये जाते हैं , जैसे - वै० करति - करइ - करै (अनु० ४-८, ३८ आदि) भवति - हवदि (हे०च० ४ - २६६) , - भवदि - भवइ , हवइ, (पि० ४७५) , हुअइ ,

---

१. व०का०इं०आ०, पृ० २३६-४३

किन्तु फुटनोट ३ में हेमचन्द्र जोशी वहीं - भोदि- होदि रूप को अशुद्ध कहते हैं जबकि अशोकी प्राकृत में मेहन्दले (हिस्टा०ग्रा०ई०प्रा०, पृ० १३) भोदि रूप देते हैं । अथवा उन धातुओं की रूपावली जिन्हें प्राकृत युग में नये नियमों में ढलना पड़ा --यह प्रायः ऋ अन्त वाली धातुएं हैं (विस्तृत विवरण के लिये देखिये - ह्विटनी - ७१० - ७१४ , पिशल ४७६ - ७७ तथा अन्य) ।

(३) म०भा०आ० में प्राप्त अनेक रूपों को अनियमित कह कर टालने का प्रयास किया गया जबकि उनके विकसित रूप आज भी मिलते हैं, जैसे - पिशल (अनु० २६५ में) प्रा० होक्खइ < भोष्यति < भविष्यति रूप को विशुद्ध भूल कहते हुए इसके विविध रूपान्तरों - होक्खामि, होक्ख, होक्खइ, होक्खन्ति (अनु० ५२१ तथा १५८ में) होसे रूप देते हैं । आधुनिक भोजपुरी में होखे और अवधी में होसे, होयेसे रूप सीमित भविष्यत् काल में मिलते हैं ।

उपसर्ग और कृदन्त -

१७६. संस्कृत में उपसर्गों के उपयोग से धातुका अर्थ विशिष्ट[१] हो जाता है । इस भाव को लेकर पं० रमापति शुक्ल आदि विद्वानों ने यह कहा कि संस्कृत के उपसर्गों का स्थान हिन्दी में कृदन्तों ने ले लिया । मुझे यह कथन स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि प्राकृत युग में ही उपसर्गों की हैसियत समाप्त हो गई थी, अतः उनके विकास का प्रश्न ही नहीं उठता (दे० अनु० ४०) । संस्कृत में भी कृदन्त और उपसर्ग दो भिन्न तत्व हैं और न तो उपसर्गों का स्थान कृदन्त ले सकते हैं और न कृदन्तों का कार्य उपसर्ग ही सम्पन्न कर सकते हैं । यहां यह सैद्धान्तिक विचार उपयोगी होगा कि उपसर्ग के कारण धातु का अर्थ[२] बदल सकता है लेकिन कृदन्तों में

---

१. उपसर्गोविशेषकृत् (यजुः प्रातिशाख्य ८।५४)

२. धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते ।

तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ।।

धातु का अर्थ विद्यमान रहता है । कृदन्त न केवल अर्थ में चारुता उत्पन्न करते हैं वरन् क्रिया-व्यापार के क्रमिक विकास को व्यक्त करने में सहायक भी होते हैं, जैसे - ते प्रक्रम्य प्रतिवावदातोऽतिष्ठन् । हिन्दी संयुक्त क्रिया में भी व्यापार के क्रमिक विकास की यही स्थिति पाई जाती है, जैसे --रोगी उठकर बैठ गया ।

सहायक क्रिया और कृदन्त --

१७७. यद्यपि क्रिया-समास की रचना-पद्धति संस्कृत की अपनी चीज़ है लेकिन परवर्ती विकास को दृष्टि में रखते हुए दो बातें स्पष्टत: लक्षित की जा सकती हैं । एक तो काल रचना या लकार-पद्धति में सहायक क्रिया और दूसरे कृदन्तों के साथ सहायक क्रिया का संयोग । संयोग की यह स्थितियां नीचे दी जाती हैं ।

(१) प्रथम स्थिति तिङ्न्तीय काल रचना की वह सामान्य अवस्था है जिसमें धातु के साथ सहायक क्रिया का संयोग होता है । यह दो रूपों में उपलब्ध है ।

(क) परोक्षभूत (लिट् लकार) के अन्तर्गत, जैसे - आसांचकार, आसांबभूव, आसामास आदि (जुहोत्यादि के रूप अनु० १७४ में देखें, जैसे बिभयांचकार आदि) ।

(ख) कथन की विशिष्ट शैली में - जैसे- प्रतिवसति स्म । यहां यह कहना अधिक उचित है कि लौकिक संस्कृत का लुट् लकार सहायक क्रियाओं के ही आश्रित है, जैसे - अस् का वर्तमान प्रयोग - बोधितासि, बोधितास्थ:, बोधितास्थ ।

(२) कृदन्त और सहायक क्रिया के संयोग से न केवल समास की रचना की जाती है, वरन् यह काल का भी बोध कराते हैं । विविध समासों का अध्ययन डा० वले (पृ० २४३-४५) ने प्रस्तुत किया है । यहां उन तत्वों पर विचार किया जाता है जो हिन्दी - संयुक्त क्रियाओं के निर्माण में ऐतिहासिक दृष्टि से सहायक रहे हैं ।

पूर्ण क्रिया भी सहायक क्रिया -

१७८. प्रत्येक आ०भा०आ० में पूर्णक्रिया भी सहायक क्रिया का कार्य सम्पन्न करती है । संस्कृत युग से ही सहायक रूप में क्रियाओं का प्रयोग प्रचलित रहा है ।

वैदिक युग में इस प्रकार के सहायक प्रयोगों पर ह्विटनी (१०६० और आगे) आदि (अनु० १७२) ने विस्तार से विचार किया है। सहायक क्रियाओं में क्रमिक विकास की दृष्टि से संस्कृत की प्रमुख सहायक क्रियाओं में – अस्, भू , कृ, शक्, वस्, आस् , गम्, धा, क्रम् , स्था, अर्ह्, इ, इष्, ईह - की गणना सरलता पूर्वक की जा सकती है। परवर्ती संस्कृत में अन्य अनेक धातुओं का प्रयोग यह सूचित करता है कि कृदन्तीय काल-रचना में क्रिया-व्यापार के सूक्ष्म अर्थों का क्रमिक विकास व्यक्त करने की आकांक्षा भी संयुक्त क्रिया की ओर एक नया कदम था। ऐसी नवप्रयुक्त सहायक क्रियाओं में मुख्य यह हैं - ग्ला, घट्, जृम्भ्, ज्ञा, दा, मन् , यत् , यम् , याच् , युज्, रभ्, रुच् , वांछ् , वृत् , सह्। इन धातुओं से निर्मित कतिपय रूप यहां दिये जाते हैं।

(क) वैदिक संस्कृत - अललाभवन्त , गमयांचकार, अस्तं यान्त , अस्तमेष्यन्त , ते प्रक्रम्य प्रतिवावदातोऽतिष्ठन्न् ,पेपीयमानो मोदमांस्तिष्ठति (सभी अथर्व वेद) , विदां वा इदं अयं चकार (जैमिनीय ब्राह्मण), तान् ह राजा मदयामेव चकार (ऐतरेय ब्राह्मण), वाक् प्रविष्टा आस, मंत्रयामास (ऐत०, गोपथ ब्राह्मण), ~~वाक् प्रविष्टा आस, मंत्रयामास (ऐत०, गोपथ ब्रा०)~~ , मीमांसामेव चक्रे (शतपथ) , ते देवा न किंचनाशक्नुवन् कर्तुम् (शतपथ), जनयामास (श्वेताश्वतर), रमयामकः, स्वादयामकः, स्थापयामकः (सभी मैत्रायणी संहिता) , विदाक्रमन् (तैत्तरीय संहिता), ईक्षामास, जुह्वांकरोति (शांखायन श्रौतसूत्र) आदि।

(ख) लौकिक संस्कृत- कर्तास्मि, कर्तुं लग्नः, कर्तुं शक्नोति, गतोस्मि, चिन्तयन्नास्ते, तं पातयाम् प्रथममास पपात् पश्चात् , (रघु०), तामेव न ददौ गन्तुम्, त्वया भोजनम् कृतम् अस्ति, दातास्मि, दातुमर्हसि, द्रष्टुं लभते , धारियुमिच्छामि, परिपूर्णायम् घटः सक्तुभिर्वर्तते, प्रभंशयां यो नहुषं चकार (रघु०), प्रत्यर्चयाम् , धर्मभृतोबभूव, प्रहर्तुमीहते, भोक्तुं ग्लायति, व्याख्यानमिष्यामि, स कालं यदि कुर्वीत को लभते ततो गतिम् , स्वरन्नेति। केशग्राहं युध्यन्ते, कथाम् कथयितुं देवि जानामि, राज्यं दातुं याचध्वं आदि।

इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त-क्रिया-रचना आधुनिक नहीं है । संस्कृत युग में ही अभिव्यक्ति की अनिवार्यता के कारण कृदन्तों के साथ नाना प्रकार की क्रियाओं का प्रचलन हो गया था । परवर्ती युग में इस प्रकार के प्रयोगों का विस्तार होता गया ।

सहायक क्रियाओं के अर्थ :-

१७६. जिस प्रकार समर्थ कवि शब्दों के अर्थ में नवीनता ला देते हैं, उसी प्रकार क्रिया के अर्थों में भी नवीनता आ जाती है । संस्कृत में भी धातु का प्रयोगात्मक अर्थ विकसित होता रहा है । परवर्तीकाल में एक ही क्रिया भिन्न क्रियाओं के संयोग से पृथक् अर्थ का भावन करती है । हिन्दी में इस प्रकार के अनेक रूप मिलते हैं, जैसे - मार डाला, डाल दिया, प्रसाद पा लिया , ले पाया, दे पाया आदि । इस प्रकार के प्रयोगों की सूचना भोक्तुं शक्नोति और शक्नोति भोक्तुं जैसे रूपों से मिलने लगती है । व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि के कर्ता विश्वेश्वर ने संस्कृत की सहायक क्रियाओं को क्रियार्थ की दृष्टि से पांच रूपों - प्रवीणता, योग्यता, अशक्ति, प्रयत्न और सम्भव - के अन्तर्गत विभाजित करते हुए कहा है - "अक्रियार्थोपपदार्थ आरम्भ: ।भोक्तुंशक्नोति । दृष्णोति जानातीत्यर्थ: । भुज्यर्थस्य विषयतयान्वये तत्र प्रावीण्यम् गमयते । ग्लायतीयत्रत्वशक्ति: । घटतेईतीयत्र योग्यता । आरभते उत्सहते प्रक्रमते इत्यत्र प्रयत्न: । लभते इत्यत्रान्यकर्तृकप्रत्या-ख्यानाभाव: अस्ति भवति विद्यतेवेत्यत्र सम्भवमात्रमिति विवेक: ।" हिन्दी के सन्दर्भ में इस कथन का महत्व इस दृष्टि से आंका जा सकता है कि एक ही क्रिया भिन्न सूक्ष्म अर्थों का द्योतन कर सकती है, जैसे - कुछ लेतो दूं, जो होगा देखा जायेगा, आपकी कौन सी पुस्तक चलती है, यह लड़की अभी नहीं चलती ।

सहायक क्रिया और विधेय -

१८०. पाश्चात्य विद्वानों ने क्रिया-समास अथवा कम्पाउण्ड वर्ब पर विचार करते हुए संस्कृत की सहायक क्रियाओं को मुख्य विधेय का पूरक माना है । होएफर

और स्पैइजर ने विशेष रूप से संस्कृत शक्, अर्ह्, इष् धातुओं के सम्बन्ध में यही धारणा व्यक्त की है । इस कथन का मुख्य कारण यह है कि इन धातुओं का स्वतंत्र क्रिया के रूप में प्रयोग संस्कृत में भी एक प्रकार से सीमित प्रयोग था । हिन्दी-युग तक आते-आते सकना क्रिया का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया और वह सहायक क्रिया मात्र रह गई । तुलसी (सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेस -- रा०च०मा०) और कबीर (सकै तो ठाहर लाइ - क०ग्रं०) में सकना के स्वतंत्र अस्तित्व के दर्शन होते हैं, अन्यथा यह मुख्य विधेय क्रिया का पूरक ही है, जैसे - वह इतना नहीं खा सकता ।

१८१. कभी कभी हिन्दी में विधेयत्व इतना प्रबल हो जाता है कि संयुक्त क्रिया ही विधेय होती है, जैसे- वह चलते-चलते पहुंच गया, सभी मर पच जायेंगे । कभी कभी पूर्ण कथन ही क्रियाद्योतक होता है, जैसे - नहाना खाना-चलता रहता है । हिन्दी में इस प्रकार के कथन नवीन तो हैं लेकिन इनकी पूर्व सूचना संस्कृत-प्रयोगों से ही मिलने लगती है, जैसे - ते प्रक्रम्य प्रतिवावदातोऽतिष्ठन् , तं पात-याम् प्रथममास पपात पश्चात् आदि ।

विभक्ति का लोप -

१८२. संयुक्त क्रियाओं में व्यवहित और अव्यवहित दोनों ही प्रकार के प्रयोग आदि काल से ही प्राप्त होते हैं । वस्तुत: समासरचना का मूल आधार ही विभक्तियों के लोप पर आधारित है । किन्तु अनेक प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें अव्यय की अनिवार्यता (अभिव्यक्ति की अनिवार्यता) के कारण ऐसे पदों को पृथक् पृथक् स्थानों में देखा जाता है । जैसे - विभक्ति-लोप की दशा में - अश्नीतपिबता, खादतमोदता आदि । व्यवहित प्रयोग में, जैसे —मीमांसामेवचक्रे, प्रभ्रंशयां यो नहुषो चकार । हिन्दी में इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं की कमी नहीं है जिनमें विभक्तिरहित पदों का प्रयोग किया जाता है, जैसे - उठा लिया (उठा कर लिया) , बढ़ आया (बढ़ कर आया) । लेकिन हिन्दी में इससे विकसित अर्थ की सूक्ष्मता और

स्पष्टता की दृष्टि से एक एक पद का पृथक् प्रयोग भी प्राप्त होता है, जैसे - बादल घिर कर आये (बादल घिर आए), पैसे गिनकर लेना (पैसे गिन लेना) इसी प्रकार हिन्दी में व्यवहित प्रयोग के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं - चल भी सकता है, उठ भी तो नहीं पाता, गिर ही तो पड़ा । प्राकृत और अपभ्रंश में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं , जैसे - गन्तुं न वट्टति, पावेउं न तरइ आदि ।

म०भा०आ० में संयुक्त क्रिया :-

१८३. प्राकृत युग में संयुक्त क्रियाओं का अभाव मानना तर्क संगत नहीं है । पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में इस प्रकार के अनेक प्रयोग मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के अनेक रूपों के स्थान पर पालि और प्राकृत ने न केवल संयोगी क्रियाओं का प्रयोग जारी रखा वरन् अपने नये रूप भी निर्मित किये । यह अवश्य है कि संस्कृत की अतिशय रुचिरता के कारण जनसामान्य के अनेक स्वाभाविक प्रयोग साहित्यिक ग्रन्थों में आने से वंचित रह गए । इनका जो विकसित रूप अपभ्रंश में मिलता है , वह परम्परागत ही है, उसे आधुनिक नहीं माना जा सकता । नीचे पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं, जो उक्त भ्रान्ति को अन्यथा सिद्ध करते हैं ।

(क) पालि -

१८४. अट्ठि पतित्वा गतं (जातक ३।२६), धम्मं सोतुं इच्छामि (संयुत्त० १।२१०), को तं निन्दितुं अर्हति (धम्म० २३०) , राजा अरहसि भवितुं (सुत्तनिपात ५५२), नहात्वा ठित निवासेत्वा ठित (जा० १।२६५), गन्तुं न वट्टति (रा०है०), थक्ता होन्ति (रा०है०) ।

(ख) प्राकृत -

१८५. इच्छामि पव्वइउं, करिउं अरिहइ (उत्तरज्झयण सुत्त) गन्तुं न वट्टवि , जाणसे वोल्लुं, णच्चिउं जाणन्ति , ण देइ गन्तुं, ण देइ मरिउं (सभी-गाथा), लग्गा चीवराइं विसारिउं (उत्तर०), काउं सक्कइ, वट्टिउं लग्गा (उपदेशपद), पावेउं न तरइ (उत्तर०) ।

१८६ (ग) अपभ्रंश -

अपभ्रंश में प्राप्त संयुक्त क्रिया सम्बन्धी सामग्री प्राचीनता की दृष्टि से सरहपा और स्वयंभू से काफ़ी पहले की है। यहां इसे निम्नलिखित रूपों में संयोजित किया जा रहा है।

(१) दो क्रिया संयोग -रहेवि लग्ग (प०च० २८।३), कहणा ण सक्कइ (सरह-दो०को० ८), होज्ज ण होज्जवै (सरह-दो०को० ६६), कहं गइ पइठा (भूसुकपा-दो०को० १३६), सहि पढ़िया (कमरिपा-दो०को० १५२), ण आवइ पाविअउ (सरह० दो०को० १२६), कहणा न जाइ (संदेशरासक- ८१), न धरणाउ जाइ (सं०रा० ७१) , चप्पिड दैंता (धवल-हरिवंशपुराण - ८६।१२) उलस उठिअ मणा (वब्बर-का०धा० ३२०)।

(२) तीन क्रिया संयोग - चाहन्ते चाहन्ते दिट्ठि रुणाद्धि (सरह- दो०को०६), चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ (सरह-दो०को० ६), रूविणि पिक्खिकरि (सं०रा० ३१), करि लेविणु मन्नाइ (सं०रा० ७१), छिअडा फुट्टि तडन्ति करि (है०च०, ४।३५७) आवंता जंत मरंतरणा (सरह-दो०को० १२४)।

(३) चार क्रिया संयोग - खलखलिय खडक्क फडक्क दिंति (प०च० ३१।३), मोडइ कहन्ति (हडहडं घणाइं (जस०च० २।३७,२।७), हणुहणु मारु-मारु पभणंतिहिं (हरि०पु० ८८।१०), हउं काइं करमि लइ जामि मरमि (पुष्पदन्त - का० धा० २२८)।

(४) द्वैत क्रियापद - दुक्खइदुक्खइ, सुक्कइसुक्कइ, तप्पइतप्पइ, छिप्पइ छिप्पइ (पुष्प-दन्त-णायकुमार चरिउ- ५।६)।

(५) अनेक क्रिया प्रयोग -

(अ) सरह - (१) णाच्चहु गावहु विलसहु चंगे

(२) देखउ सुणाउ पईसउ सादउ ।
जिग्घउ भमउ बईसउ उट्ठउ ।।

(आ) स्वयंभू -

(१) पहि खलणावलणा खलखलखलंति
खलखलिय खहक्क फहक्क दिंति ।।

(इ) पुष्पदन्त -

तहि तडयडइ पडइ रुंजइ हरि ।
तरु कडयडइ फुडइ विहडइ गिरि (कुल० ६० क्रियाये प्रयुक्त हैं)

१८७. इनके अतिरिक्त अपभ्रंश युग में अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो हिन्दी के पूर्व रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं । इनमें पूर्वकालिक क्रिया, लोकोक्तियां, विविध क्रिया-संयोग आदि अनेक तत्व उपलब्ध होते हैं । जैसे -

बइठ् उट्ठाहु (सरह), णिस्सरि जाइ (सरह), करि कब्बु दिण्णा (स्वयंभू), आवंत दिट्ठु (पुष्पदन्त), घुलियमिलिय (पुष्पदन्त) , चलंतिया , घुलंतिया (पुष्पदन्त- मिलाइये विद्यापति- बरसन्तिया, हन्तिया), जितइ हवइ (नयनन्दी -सुदंसण चरिउ), चल्लिय लेवि (मुनिकनकामर-करकंड चरिउ), धाइया, धाविया, भिड़िया, थक्का, भग्गा, जिया, हल्लोहलि हूयउ (क०च०), दीसइं रज्जु करन्त, दीसइ हज्झंतु, जाय तु जाय (सभी -सुप्रभाचार्य-वैराग्य सार), ऊहा ऊहिहिं जाइ (शालिभद्रसूरि - भरत बाहुबलिरास) ।

(क) देवसेन (सावयधम्मदोहा) - धम्मु करउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि, आवइ आजु की कल्लि, हुंति ण भल्लापोसिया दुद्धें काला सप्प ।

(ख) वीर कवि (जंबु सा०च०) - कच्चें पल्लट्टइ को रयणु पित्तलइ हेम विक्कइ कवणु । (ग) धनपाल - किं घिउ होय विरोलिए पाणिए । (घ) अब्दुर्रहमान (सं०रा०) - विरह हुयास दहेवि करि आसा जल सिंचेइ ((ङ०) हेमचन्द्र - बाँह बिछोडवि जाहिं तुहुं, रूसी पिय रूसेउ हउं रुट्ठी मइं अणुणेइ , हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।

१८८. इस विवेचन के अनन्तर यह कहना सरल हो जाता है कि हिन्दी-संयुक्त क्रियाओं के विकास में जहां परम्परागत तत्व उपलब्ध होते हैं, वहां द्रविड़ और फ़ारसी - प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि यह सब सीधे हिन्दी-युग में ही नहीं आए। यद्यपि वले महोदय ने अपने समापन अध्याय में द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव स्वीकार नहीं किया है, लेकिनद्विरुक्तिमूलक अथवा अनुकरणात्मक धातुओं - मिषमिषायते, किक्किटाकार - आदि का खण्डन भी नहीं करते, जो स्पष्टत: आग्नेय, आस्ट्रिक या आर्येतर प्रभाव माने गये हैं। हिन्दी की दृष्टि से यह परम्परागत हैं (दे०अनु० ५१ और ५६)। फिर भी अपभ्रंश में प्राप्त घुलियमिलिय (अनु० १८७) आदि रूपों के सादृश्य पर उठियबैठिय, करियधरिय जैसी क्रियायें आधुनिक नहीं मानी जा सकतीं।

१८९. हिन्दी-क्रिया निश्चयात्मक रूप से वाक्य के अन्त में आती है। ठीक यही स्थिति मलयालम, तमिल[1], और फ़ारसी[2] में भी है। वाक्य में क्रिया स्थिरीकरण प्राकृतकाल से ही प्रारम्भ हो गया था। अपभ्रंश में यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है। डा० तिवारी ने हिन्दी में बाह्य प्रभाव पर विचार करते हुए यह कहा है कि " मोटे तौर पर कुछ अन्तर होने पर भी, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी के साथ फ़ारसी क्रियापदों की तुलना करने पर एक प्रकार की समानता[3] ही मिलती है।" डा० चटर्जी[4] ने इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं का उल्लेख स्लाव भाषाओं

---

१. डा० पी०एस० जोब (प्रधानाचार्य, ईविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद) ने विचारविमर्श में इस बात की पुष्टि की है कि तमिल और मलयाली क्रियायें वाक्य के अन्त में आती हैं।

२. उ०ना०तिवारी, हिं०भा०उद्०वि०, पृ० ५३५

३. वही, पृ० ५३६

४. बैं०लैं०, ७७७

के सन्दर्भ में किया है । ज़्यूल ब्लाख़ की इस धारणा का विवेचन वले ने किया है कि द्रविड़ भाषाओं से फुटकल क्रियायें तो आई हैं, लेकिन संयुक्त क्रियाओं को द्रविड़-प्रभाव कहना संगत नहीं है । इसलिये किसी प्रकार का निर्णय करने की अपेक्षा अध्ययन का द्वार उन्मुक्त रखना अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है ।

द्वितीय खण्ड

व्याकरण

अध्याय — ६

क्रिया

अध्याय — ६

क्रिया

१६०. क्रिया वह रूपान्तरशील शब्द है जिससे व्यापार या अवस्था का बोध होता है । इसलिये क्रिया को विधान करने वाला विकारी शब्द कहा गया है । क्रिया से ही किसी काम के करने या होने की रीति का ज्ञान होता है ।

१६१. वाक्य में क्रिया आत्मस्वरूप विद्यमान रहती है और मुख्य रूप से विधेय का कार्य करती है । कभी कभी यह उद्देश्य भी बन जाती है । जैसे - पढ़ना ही धर्म है ।

१६२. 'क्रिया' संज्ञा आदि शब्दों की भाँति एक शब्द भी है और अनेक शब्दों का ऐसा समवाय है जो एक निश्चित अर्थ का निर्देश करते हैं । जैसे - तू जा । ' एक नीम है । जवान है ।' वह बड़ी दूर से सायकिल चलाता चला आ रहा है ।

१६३. क्रिया समय का बोध कराती है और कर्ता तथा वक्ता के अनुसार रूप ग्रहण करती है । इसलिये क्रिया में काल, वाच्य, अर्थ, पुरुष, वचन, लिंग समाहित रहते हैं ।

१६४. हिन्दी-क्रिया के तीन काल हैं —वर्तमान, भूत और भविष्यत् । व्यापार की पूर्णता और अपूर्णता के विचार से इनके अनेक अवान्तर भेद होते हैं । काल से क्रिया के व्यापार की अवस्था और समय आदि का सम्बन्ध प्रकट होता है ।

१६५. वाच्य तीन हैं — कर्तृ, कर्म और भाव । कर्ता और क्रिया-सम्बन्ध से वाच्य प्रकट किये जाते हैं ।

१९६. अर्थ तीन हैं --निश्चय, आज्ञा और संभावना । अर्थ वस्तुस्थिति को प्रकट करने की रीतियां हैं ।

१९७. पुरुष तीन हैं --उत्तम, मध्यम, अन्य । प्रत्येक पुरुष के दो वचन होते हैं --एक वचन और बहुवचन ।

१९८. लिंग दो हैं --पुल्लिंग और स्त्रीलिंग । कर्ता अथवा कर्म के अनुसार क्रिया में लिंग भेद होता है । यह लिंग भेद संस्कृत कृदन्तों के परिणामस्वरूप हैं ।

१९९. धातु- (क) क्रिया के मूल रूप को धातु कहते हैं । शब्दकोषों में यह 'ना' प्रत्यययुक्त होती है, जैसे - पढ़ना । 'ना' युक्त रूप को क्रिया का साधारण रूप और क्रियार्थक संज्ञा कहते हैं (दे० धातु निर्णय एवं क्रियार्थक संज्ञा) । धातु और प्रत्ययों के योग से क्रियापद और शब्द निर्मित किये जाते हैं । धातुएं स्वरान्त या व्यंजनान्त होती हैं -- आ, जा, खा , पी, पढ़् , लिख् , सीख् , रड़् आदि ।

(ख) कुछ धातुओं का प्रयोग भाववाचक संज्ञा की भांति होता है । जैसे-दौड़, नाच, बोल, माँग, रोक, लूट आदि । वस्तुतः यह धातुएं व्यंजनान्त हैं (दौड़् नाच् , बोल् , माँग् , रोक् , लूट् आदि) और उनसे बने उक्त रूप स्वरान्त । धातु-निर्मित इन भाववाचक संज्ञाओं में जब संज्ञा के प्रत्यय लगते हैं तब यह कभी - कभी मूर्त रूप धारण कर लेते हैं, जैसे - नाचों, भेंटों, बोलों, रोकें, भूलें, माँगें , लूटें, हाँके आदि ।

(ग) धातु और प्रत्यय के योग से निम्नलिखित का भी निर्माण किया जाता है --अपूर्ण कृदन्त , पूर्ण कृदन्त, क्रियार्थक संज्ञा, कर्तृवाचक संज्ञा, पूर्वकालिक कृदन्त, पुनरुक्त क्रिया और संयुक्त क्रिया ।

(घ) क्रिया के साधारण रूप की तीन प्रमुख विशेषताएं होती हैं -- क्रिया, संज्ञा और विशेषण सम्बन्धी । उसकी यह रचना सम्बन्धी विशेषताएं

वाक्यों में प्रकट होती हैं (दे० क्रियार्थक संज्ञा)।

(ड०) धातु के भेद -- (१) व्यापार के फल की दृष्टि से
(२) व्युत्पत्ति की दृष्टि से

२००. (ड०) १. व्यापार के फल या व्यापार के कर्म के विचार से धातु मुख्य दो प्रकार के होते हैं -

सकर्मक और अकर्मक।

२०१. सकर्मक-- सकर्मक वह धातु है जिसके व्यापार का फल कर्म पर पड़ता है, जैसे - गुरु ने विद्यार्थियों को पढ़ाया। यहाँ 'पढ़ाया' क्रिया का कर्त्ता गुरु है किन्तु पढ़ाने के व्यापार का फल कर्त्ता गुरु को छोड़ कर कर्म 'विद्यार्थियों' पर पड़ता है। व्यापार का कर्म पर प्रभाव सीधे भी आता है, जैसे - मैंने आम खाया। मज़दूर ने लकड़ी काटी।

२०२. अकर्मक --अकर्मक वह धातु है जिसके व्यापार और फल का प्रभाव कर्त्ता पर ही पड़े। अकर्मक धातु का कर्म नहीं होता, इसलिये अकर्मक क्रिया का व्यापार और फल दोनों कर्त्ता में ही रहते हैं। जैसे - ~~लड़की~~ लड़की सोती है, तुम हँसते हो। इन वाक्यों में क्रिया का कर्म नहीं है। कर्त्ता लड़की ही सोने का व्यापार भी करती है और वही सोती भी है अर्थात् क्रिया का फल या प्रभाव भी उसी पर पड़ता है (दे० धातु निर्णय)। प्राय: गत्यर्थक - आना, उड़ना, जाना, घूमना, चलना, दौड़ना आदि और अवस्थाबोधक - रहना, लेटना, सोना आदि क्रियायें अकर्मक होती हैं।

२०३. हिन्दी में अकर्मक और सकर्मक का भेद प्राय: अर्थ और प्रयोग पर भी निर्भर होता है (दे०अनु० ८७- ९२)। अर्थ की विशेषता के कारण कभी कभी सकर्मक क्रिया अकर्मक और अकर्मक क्रिया सकर्मक बन जाती है। जैसे - वह रामायण पढ़ता है (सकर्मक), किन्तु - वह मेरे साथ पढता है (अकर्मक)। इसी प्रकार- वह

खेलता है (अकर्मक), वह खेल खेलता है (सकर्मक) । यह वस्तुत: सजातीय कर्म वाली क्रियायें हैं । इनके कर्म इनकी धातु से निर्मित होने के कारण सजातीय कहे जाते हैं । इनकी संख्या सीमित है । कुछ प्रमुख सजातीय रूप यह हैं – चाल चलना, खेल, खेलना, लड़ाई लड़ना, दौड़ दौड़ना, मार मारना, बोली बोलना, बात बताना, झूला झूलना, नाच नाचना, हँसी हँसना आदि । कभी कभी ऐसे सकर्मक रूपों में कर्म सजातीय नहीं होते , जैसे - हल्ला बोलना, धावा बोलना आदि ।

२०४. यदि कर्म की विवक्षा न रहे, अर्थात् जब क्रिया केवल व्यापार को ही प्रकट करे तो सकर्मक क्रिया भी अकर्मक बन जाती है । यह वह अवस्था है जब क्रिया के व्यापार का फल किसी विशेष वस्तु पर न होकर सामान्य होता है । जैसे - वह बहुत पढ़ता है, इस मकान में कितने परिवार रहते हैं ?

२०५. कुछ क्रियाएँ सकर्मक और अकर्मक दोनों रूपों में प्रयुक्त होती हैं । इन्हें 'उभयविध' धातु कह सकते हैं । जैसे - ऐंठना, खुजलाना, गड़बड़ाना, घबराना, घिसना, बदलना, भरना, भूलना, लजाना, ललचाना, लुभाना आदि । उदाहरण - चलते-चलते पाँव घिस गये, मैं पत्थर पर पाँव घिसता हूँ ।

२०६. इसी प्रकार सहायक क्रिया - है, था - के रूप न तो अकर्मक हैं, न सकर्मक । प्रयोग के अनुसार इन्हें अकर्मक या सकर्मक कह सकते हैं ।

२०७. भेद – अकर्मक क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं :–

(क) पूर्ण अकर्मक, (ख) अपूर्ण अकर्मक । पूर्ण अकर्मक वह है जिससे कथन का आशय पूर्णत: प्रकट हो जाय । जैसे –तुम चलो, वह सोता है, ईश्वर है ।

२०८. अपूर्ण अकर्मक वह है जो कथन की पूर्णता के लिये किसी पूर्ति की अपेक्षा करे । जैसे - नौकर बीमार हो गया , सोना पीला होता है ।

२०९. सकर्मक क्रिया के तीन प्रकार के प्रयोग मिलते हैं :–

(क) अकर्मक (इनका विवेचन ऊपर देखें) (ख) एक कर्म सकर्मक

(ग) द्विकर्मक ।

२१०. (ख) एककर्मसकर्मक – सामान्यत: सकर्मक क्रियाओं का एक ही कर्म होता है। जैसे - वह दूध पीता है। राजगीर मकान बनाता है।

२११. (ग) द्विकर्मक - जब किसी क्रिया का आशय एक कर्म से पूर्णतया प्रकट नहीं होता तब वह एक गौण कर्म भी चाहती है। गौणकर्म के अनन्तर 'को' विभक्ति प्रयुक्त होती है किन्तु मुख्य कर्म के बाद कोई विभक्ति नहीं आती। जैसे - धीवर ने शान्तनु को अपनी कन्या अर्पित की, मैं तुम्हें शिकारी जाति का यह ताज़ी कुत्ता देता हूँ।

सूचना –(१) इस सम्बन्ध में प्राय: सभी व्याकरण ग्रन्थों में उल्लिखित यह सिद्धान्त वाक्य -"मुख्यकर्म पदार्थवाचक और गौणकर्म प्राणिवाचक होता है" - गलत सिद्ध हो जाता है। दोनों ही कर्म प्राणिवाचक हो सकते हैं, उक्त दोनों उदाहरणों में दोनों कर्म प्राणिवाचक हैं। पदार्थ-वाचक का उदाहरण - उसने गाय को रोटी खिलायी। हिन्दी में अनेक क्रियायें द्विकर्मक रूप धारण कर लेती हैं अथवा इन्हें दो-दो कर्मों की अपेक्षा होती है। कुछ मुख्य क्रियायें यह हैं - करना, कहना, देना, बताना, बनाना, पढ़ाना, पाना, पूछना, मानना, समझना, सिखाना आदि।

(२) व्याकरण ग्रन्थों में उल्लिखित 'अपूर्ण सकर्मक' क्रिया का अन्तर्भाव उक्त रूप में हो जाता है। अत: इस उपभेद की आवश्यकता नहीं रह जाती।

२१२ मूल सकर्मक धातु से निर्मित प्रेरणार्थक धातुएँ बहुधा द्विकर्मक होती हैं (दे० प्रेरणार्थक धातु २१५)।

२१३. (ड०) २. व्युत्पत्ति की दृष्टि से –धातुओं के दो भेद होते हैं :–(अ) मूल धातु और (आ) साधित धातु। मूल धातुओं को सिद्ध,अव्युत्पन्न, सामान्य और रूढ़ धातु भी कहते हैं। साधित धातुओं को यौगिक, व्युत्पन्न और असामान्य धातु कहा जाता है।

(अ) मूल धातु (सिद्ध धातु) - मूल धातु वह है जो किसी अन्य शब्द से न बनी हो। जैसे - आ, जा, खा, कर, चल आदि।

(आ) यौगिक धातु (साधित धातु) - यौगिक धातु वह है जो किसी अन्य धातु या शब्द से निर्मित हो । जैसे - कटवाना, चलवाना, बतियाना, हथियाना आदि ।

२१४. यौगिक या साधित धातुओं का निर्माण दो प्रकार से किया जाता है --(क) आन्तरिक परिवर्तन और प्रत्यय जोड़ने से तथा (ख) अन्य शब्दों को धातु रूप में स्वीकार करने से ।

यहाँ यौगिक धातुओं में वर्गीकरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनकी व्युत्पत्ति । इनमें (क) आन्तरिक परिवर्तन - जैसे, केवल स्वर- परिवर्तन के कारण अकर्मक धातु सकर्मक और मूल सकर्मक का परिवर्तन अकर्मक में हो जाता है (दे० धातु - निर्णय , अनु० ८७) । प्रेरणार्थक धातु का निर्माण प्रत्यय के संयोग से किया जाता है और (ख) के अन्तर्गत नामधातु आते हैं ।

प्रेरणार्थक धातु

२१५. प्रेरणार्थक ऐसी साधित सकर्मक धातु है जिसका प्रथमकर्त्ता प्रेरक और दूसरा कर्ता क्रिया के वास्तविक व्यापार का करने वाला होता है ।

२१७. सामान्य धातु में जो कर्ता रहता है, वह प्रेरणार्थक धातु में स्वयं कार्य न करके किसी दूसरे से कार्य कराता है । जैसे - (क) सीता चलती है (अकर्मक) (ख) सीता चक्की चलाती है (सकर्मक) और (ग) सीता नौकरानी से चक्की चलवाती है (प्रेरणार्थक) । स्पष्ट है कि तीसरे वाक्य में सीता प्रेरक कर्ता है और नौकरानी वास्तविक कर्ता । वास्तविक कर्ता को प्रेरित कर्ता भी कहते हैं ।

२१८. सैद्धान्तिक रूप में (क) सभी अकर्मक और सकर्मक धातुओं से प्रेरणार्थक धातु बन सकती है , लेकिन व्यावहारिक रूप में हिन्दी की समस्त धातुओं के प्रेरणार्थक रूप नहीं बनते । (ख) इसी प्रकार सभी धातुओं के दो- दो प्रकार के प्रेरणार्थक रूप नहीं बनते ।

२१६. प्रेरणार्थक निश्चित धातु हैं और शब्दकोषों में `ना` युक्त रूप में अन्य धातुओं की भाँति इनका उल्लेख तो होता है किन्तु अर्थ नहीं दिये जाते। फलस्वरूप कहीं इन्हें अकर्मक से और कहीं सकर्मक रूप से व्युत्पन्न माना गया है। मूल धातु के निर्धारण के अनन्तर इस भ्रम का निवारण आवश्यक है।

२२०. प्रेरणार्थक धातु के रूप प्रत्येक पुरुष, वचन, लिंग आदि में सकर्मक धातु की भांति चलते हैं --करवाऊँ, करवाता हूँ, करवाया था, करवाऊँगा आदि। सकर्मक की भाँति प्रेरणार्थक भी क्रियार्थक संज्ञा होती है। जैसे —तुम्हें कम्बल खरीदने के बजाय रज़ाई बनवानी थी, यह पेड़ कहाँ लगवाना है ? , लड़की को हाईस्कूल ज़रूर करवाना।

२२१. प्रेरणार्थक धातु का प्रेरक कर्ता कर्ताकारक में और वास्तविक (प्रेरित) कर्ता करण कारक में आते हैं। यदि ऐसा न हो तो धातु की बनावट के आधार पर उस धातु को प्रेरणार्थक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की कुछ धातु, जो बनावट में प्रेरणार्थक प्रतीत होती हैं, किन्तु प्रेरणार्थक नहीं हैं, नीचे दी जाती हैं - गड़ाना, जिलाना, जलाना, रुलाना, सुलाना, खिलाना, छुलाना, धुलाना, पिलाना, छुड़ाना, जिताना, तोड़ना, बेचना, फोड़ना, रखना आदि।

२२२. प्रेरणार्थक धातु के प्रेरित कर्ता के बाद करणकारक के विभक्तिचिह्न- (क) से, द्वारा जरिये, मार्फत आदि का प्रयोग अनिवार्य है। यह प्रेरित कर्ता चाहे एक हों या अनेक विभक्ति चिह्न यथावत् लगेंगे। जैसे - मैं तुमसे घर बनवाऊँगा, मोहन और सोहन के जरिये चिट्ठियाँ भिजवाई गई हैं।

(ख) कभी-कभी `के हाथ (से), की मदद से, की सहायता से , के माध्यम से` पद भी विभक्ति रूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे - मैंने राम के हाथ (से) पुस्तक भिजवाई है, किसकी सहायता से (मदद से) यह काम करवाया जाय ?, किसी प्रोफेसर के माध्यम से यह पुस्तक लिखवाओ।

प्रेरणार्थक के वैकल्पिक रूप

२२३.   अर्थ की दृष्टि से हिन्दी में प्रेरणार्थक के प्रथम और द्वितीय रूपों का कोई महत्व नहीं है । यह दोनों ही रूप एकार्थी हैं । इस सम्बन्ध में गुरु का यह कथन पूर्ण सत्य है कि इनका 'पहला रूप बहुधा सकर्मक क्रिया ही के अर्थ में आता है और दूसरे अर्थ से यथार्थ प्रेरणा समझी जाती है । जैसे, गिरता है, कारीगर घर गिराता है, कारीगर नौकर से घर गिरवाता है ।' (गुरु० पृ० १२६) फिर भी हिन्दी में ऐसी धातुओं की संख्या कम नहीं है जिनके वैकल्पिक प्रेरणार्थक रूप मिलते हैं । इन वैकल्पिक रूपों का कारण धातुओं की व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है (दे० प्रेरणार्थक - अनु० ८७ - १०८) ।

२२४.   प्रेरणार्थक के सम्बन्ध में एक भ्रम[१] और है । अन्य विद्वानों की भाँति दीमशित्स ने भी प्रथम प्रेरणार्थक में 'व्यापार की प्रक्रिया में कर्ता के अलावा एक करने वाला' और द्वितीय प्रेरणार्थक में 'कर्ता के अलावा कम से कम दो करने वाले'[२] माने हैं । वस्तुत: यह दोनों बातें प्रेरणार्थक के दोनों रूपों पर लागू होती हैं । साथ ही यह भी विचारणीय है कि किसी भी सकर्मक या प्रेरणार्थक क्रिया में कर्ता और कर्म विवक्षित या अविवक्षित होते हैं । यदि इनकी विवक्षा न हो तो इनका प्रयोग भी नहीं होता । जैसे - सकर्मक-जल्दी मरे, पाप कटे । वह खा चुका । प्रेरणार्थक - अभी मँगवाऊँ या बाद में ? उन्हीं से लिखवाओ (दीमशित्स) ।[३] यह प्रयोग एक प्रकार से अध्याहार के कारण हैं । अत: इस प्रकार का नियम बनाना उपयुक्त नहीं है ।

---

१. भारती भवन , पटना से प्रकाशित - राजेन्द्र सिंह - शुद्ध हिन्दी कैसे लिखें और वासुदेव नन्दन प्रसाद के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

२. हिं० व्या० रूप, पृ० २५६

३. वही, पृ० २६०

२२५.   हिन्दी में निम्नलिखित धातुओं के ही प्रेरणा में वैकल्पिक रूप मिलते हैं । इन धातुओं के वैकल्पिक रूपों में अर्थ, प्रयोग और गांभीर्य की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं मिलता । यहाँ धातुओं के सकर्मक रूप ही दिये जाते हैं ।

(क) एकाक्षर धातु - ढोना, देना, सीना

(ख) द्वयाक्षर धातु - आँकना, आँजना, काटना, कातना, करना , कसना, कहना, कूचना, कूटना, कूतना, खींचना, खोदना, खोंसना, गाड़ना, गिनना, गुढ़ना, गुहना, गूँथना गाँठना, गोदना, घिसना, घोंटना, चीरना, चीथना, छाँटना, छापना, छीनना, ~~गूँथना~~, ~~गाँठना~~, ~~गोदना~~, ~~घिसना~~, ~~घोंटना~~, ~~चीरना~~, ~~चीथना~~, ~~छाँटना~~, ~~छापना~~, ~~छीनना~~, छीलना, छींटना, छेदना (छेड़ना), छोड़ना, जाँचना, जड़ना, जोड़ना, जोतना, टाँकना, टाँगना, डालना, ढालना, ढाहना, तागना, तानना, तापना, तोलना, तोड़ना, तोपना, दरना (दलना) , दुहना, धुनना, नाथना, नोचना, पागना, पाटना, पाथना, पीसना, पूछना, पेरना (पेलना) , पेसना, पोंछना, पोतना, फाड़ना, फेरना, फूँकना, फोड़ना, फेंकना, फेंटना, बाँटना, बाँधना, बींधना, बीनना, बुनना, भाँजना (रस्सी के संदर्भ में), मारना, मींजना, मीसना, मूँड़ना, मूँदना, मोड़ना, रखना, राँधना, रींधना, रूँधना, लादना, लिखना, लीपना, सेंकना, सींचना, सीना ।

(ग) तीन अक्षरों की धातु (नामधातुओं से) — औनचना , कबूलना, बगरना, बदलना, ।

(घ) तीन से अधिक अक्षरों वाली धातुओं के वैकल्पिक रूप प्राप्त नहीं होते ।

(ङ) सभी नाम धातुओं के प्रेरणार्थक रूप नहीं होते । अतएव इनके वैकल्पिक रूपों का प्रश्न ही नहीं उठता ।

नियम -

२२६. (क) अकर्मक से सकर्मक बनाने के नियम -

के मूल रूप में ही प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

१. अकर्मक मूल धातु के अन्त में 'आ' जोड़ने से सकर्मक रूप सिद्ध होते हैं।
(अ) दो अक्षरों वाली मूल धातु - जैसे -

अक०	सक०	अक०	सक०
अँट	अँटा	चल	चला
उठ	उठा	छिप	छिपा
घट	घटा	हट	हटा
घुस	घुसा	बह	बहा

(आ) तीन अक्षरों वाली मूल धातु -

अटक	अटका	उलट	उलटा
उठंग	उठंगा	चमक	चमका
उपज	उपजा	निबट	निबटा
उपट	उपटा	परच	परचा
उलझ	उलझा	समझ	समझा

२. अकर्मक धातुओं की उपधा के दीर्घ स्वर को ह्रस्व करके नियम १ के अनुसार सकर्मक रूप बनाये जाते हैं। जैसे -

जाग	जगा	झूल	झुला
भाग	भगा	लेट	लिटा
भीग	भिगा	डूब	डुबा
जीत	जिता	भूल	भुला

३. समस्त प्रकार की धातुओं की उपधा के -ऐ-औ- स्वर प्रत्येक दशा में अपरिवर्तित रहते हैं। अतः अकर्मक से सकर्मक बनाने के लिये नियम[१] का अनुसरण करना चाहिए। जैसे –

ऐंठ	ऐंठा	चौंक	चौंका
पैस	पैसा	दौड़	दौड़ा
फैल	फैला	धौंक	धौंका
बैठ	बैठा	पौढ़	पौढ़ा
		लौट	लौटा

२२७. (ख) प्रेरणार्थक बनाने के नियम

निर्देश - हिन्दी में प्रेरणा के मुख्य दो प्रत्यय हैं - आ- और - वा -। विकल्प से कुछ धातुओं में -ला- प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है, जो भ्रमवश -लवा- भी कहा जाता है (दे० प्रेरणार्थक - अनु० ६८ - १०७)।

नियम -(१) मूल अकर्मक और सकर्मक धातुओं में सीधे -वा- प्रत्यय जोड़कर प्रेरणार्थक धातु बनाये जाते हैं। जैसे –

(अ) दो अक्षरों वाली धातु से –

अकर्मक	प्रेरणार्थक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
उठ	उठवा	खन	खनवा
गिर	गिरवा	चख	चखवा
चढ़	चढ़वा	चर	चरवा
चल	चलवा	जन	जनवा
टल	टलवा	पढ़	पढ़वा
तर	तरवा	पुर	पुरवा
बिक	बिकवा	लिख	लिखवा
सुन	सुनवा	हुर	हुरवा

(आ) तीन अक्षरों वाली धातु से -

अकर्मक	प्रेरणार्थक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
उगल	उगलवा	उबट	उबटवा
उचट	उचटवा	उलट	उलटवा
उठँग	उठँगवा	कचर	कचरवा
उपट	उपटवा	कुतर	कुतरवा
ठिठुर	ठिठुरवा	खुरच	खुरचवा
निहुर	निहुरवा	चुपड़	चुपड़वा
पिघल	पिघलवा	पटक	पटकवा
बजड़	बजड़वा	मसक	मसकवा

(२) नियम ३ - और ४ में उल्लिखित धातुओं के अतिरिक्त शेष समस्त अकर्मक और सकर्मक धातुओं के उपधा के दीर्घ स्वर को ह्रस्व करके नियम[१] की भाँति प्रेरणा-प्रत्यय-वा- जोड़ते हैं। जैसे --

(अ) एकाक्षरी धातु से -

चू	चुवा	गा	गवा
छू	छुवा	ले	लिवा

अन्य एकाक्षरी सकर्मक धातु यह हैं - छा, ता, दाँ, पा।

(आ) दो अक्षरों वाली धातु से -

जाग	जगवा	छान	छनवा
भीग	भिगवा	साल	सलवा
जीत	जितवा	पीट	पिटवा
घूम	घुमवा	छींक	छिंकवा
भूल	भुलवा	पेल	पिलवा
डूब	डुबवा	फेंक	फिंकवा

अकर्मक	प्रेरणार्थक	सकर्मक	प्रेरणार्थक
लेट	लिटवा	भेज	भिजवा

(इ) तीन अक्षरों वाली सकर्मक धातु से –

सकर्मक	प्रेरणार्थक
उखाड़	उखड़वा
उधेड़	उधिड़वा
उलीच	उलिचवा
निकास	निकसवा
निचोड़	निचुड़वा
सिकोड़	सिकुड़वा

(ई) चार अक्षरों वाली धातु से –

अकर्मक	प्रेरणार्थक
गड़बड़ा	गड़बड़वा
तलतला	तलतलवा
भड़भड़ा	भड़भड़वा

(उ) अनु० २२५ में उल्लिखित समस्त धातु जिनमें विकल्प से -आ-वा- प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे –

धातु	प्रेरणार्थक	वैकल्पिक रूप
काट	कटवा	कटा
कर	करवा	करा
कस	कसवा	कसा

(३) निम्नलिखित धातुओं में दीर्घ स्वर ह्रस्व होकर -ल- का आगम होता है। तदनन्तर -आ- और-वा- प्रत्यय विकल्प से जोड़े जाते हैं। कुछ धातुओं

के तीन विकल्प होते हैं । जैसे --

धातु	प्रेरणार्थक १	२	३
जी	जिला	जिलवा	....
पी	पिला	पिलवा	.....
सी	सिला	सिलवा	.....
दे	दिला	दिलवा	दिवा
ढो	ढुला	ढुलवा	ढोवा
धो	धुला	धुलवा	धोवा
रो	रुला	रूलवा	रोवा
सो	सुला	सुलवा	सोवा
सीख	सिखला	सिखलवा	सिखवा
नहा	नहला	नहलवा	नहवा
कह	कहला	कहलवा	कहवा

(४) निम्नलिखित धातुओं के दीर्घ स्वर (क- नियम ३) अपरिवर्तित रहते हैं, अतः उनमें नियम १ के अनुसार प्रत्यय जोड़े जाते हैं । जैसे --

(अ) - ऐ-औ-वाली धातु से --

ऐंठ	ऐंठवा
पैठ	पैठवा
फैल	फैलवा
औट	औटवा
पौढ़	पौढ़वा
लौट	लौटवा

(आ) - ए - ओ- वाली धातु से --

रे	रेवा
से	सेवा

खौ   खौवा
बौ   बौवा

इस प्रकार की कुल पठित धातु यह हैं --टै, पौ, मौ, नौ, हौ, उकैल, उंडेल, उरैह, खदेड़, घुसेड़, ढकैल, धकैल, पलेड़, सहैज, । इस रचना की अन्य धातुओं में नियम २ लागू होगा ।

२२८. नियमातिरैक – हिन्दी में अनियमित प्रेरणार्थक धातु कैवल एक है - 'खाना' । इसके 'आ' का परिवर्तन -इ- में हो जाता है और इसके तीन वैकल्पिक रूप मिलते हैं - खा - १. खिला, २. खिलवा, ३. खवा ।

(ख) नाम धातु

२२६. क्रिया से भिन्न अन्य शब्दों को जब धातुरूप में स्वीकार किया जाता है तो उन्हें नामधातु कहते हैं ।

२३०. हिन्दी में नामधातु प्राय: संज्ञा, विशेषण और अव्यय से निर्मित किये जाते हैं । जैसे - संज्ञा से - काम - कमाना, पत्थर - से पथराना ।
विशेषण से - लाल - ललियाना , गरम - से गरमाना , बिलग - बिलगाना ।
अव्यय से , ऊपर-उपराना, दूर - दुरियाना , नहीं - नहिंयाना आदि ।

२३१. सामान्यत: हिन्दी-नाम धातुओं के तीन प्रत्यय माने जाते हैं - ला । किन्तु - ला - प्रत्यय वस्तुत: प्रेरणार्थक धातुओं की भांति कैवल आगम है (दै० नामधातु - अनु० ८३, ८६ तथा प्रेरणार्थक अनु० ८६ और आगे) । प्रत्यय निम्नलिखित रूप से जोड़े जाते हैं । क्रिया के साधारण रूप का प्रत्यय- इसके बाद जुड़ता है ।

१. अनेक शब्दों में - अ- आ- प्रत्यय सीधे जुड़ जाते हैं । जैसे --

(क) - अ- प्रत्यय से - अनुराग, उद्धार, धिक्कार, विचार, दुलार, खर्च, खराद, दाग, तुरुप, तराश, तलाश, वसूल, हलाल आदि

(ख) -आ- प्रत्यय से - थिर - थिरा, दुख-दुखा की भांति रिस, लाज, अलग, बिलग, गंध, अपना, कपड़ा, चिकना, लँगड़ा और अनुकरणमूलक शब्दों से, कटकटा, झनझना, लटपटा, जगमगा, गुला आदि ।

२. अनेक शब्दों में -आ- प्रत्यय जुड़ने से पूर्व अन्तिम स्वर में परिवर्तन हो जाता है, -अ- आ- का - ई- में और -ऊ- का -उ- में । ऐसे शब्दों में उपधा का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है । फलस्वरूप ई+ आ - इया और उ+ आ - उवा ऊआ हो जाते हैं । जैसे -

(अ) अकारान्त शब्द से -

आग - अगिया (ना) काट - कठिया(ना), खाल- खलिया, गाँठ- गँठिया, घात-घतिया, तह- तहिया, दूर- दुरिया, धूर-धुरिया, बगल- बात-बतिया, लात-लतिया, साठ-सठिया, हाथ-हथिया आदि ।

(आ) आकारान्त शब्द से -

आधा - अधिया, कच्चा-कचिया, कँधा-कँधिया, जूता-जुतिया ।

(इ) ईकारान्त शब्द से -

अंटी- अँटिया, आँधी- अँधिया, कली-कलिया, खसी- खसिया, खलिया, गुर्चा- गुर्चिया, छाती-छतिया, डोरी-डोरिया, पपड़ी पानी-पनिया, बासी-बसिया, माटी-मटिया ।

(ई) ऊकारान्त शब्द से -

आँसू- अँसुवा, कद्दू- कदुवा, कूँकू-कुंकुआ, कूकू - कुकुआ, धू धू - धुधुआ आदि ।

३. कुछ शब्दों में - ल - का आगम होता है और उसके पश्चात् -आ- प्रत्यय जोड़ा जाता है। जैसे - गँदला, चुभला, जतला, भुँफला, फुठला, डिगुला, तुतला, धुँधला, बतला, बहला, हकला आदि।

विशेष - कुछ व्याकरण ग्रन्थों में -इया- प्रत्यय भ्रमवश मानलिया गया है। यह वस्तुत: नियम २ से भिन्न नहीं है। स्वर - परिवर्तन की यह प्रक्रिया संस्कृत से बहुत दूर नहीं है (दे० - सक्सेना - सं०व्या०प्र०, पृ० ५०५-५०८) ।

अध्याय --७

वाच्य

अध्याय – ७

वाच्य

२३२. हिन्दी में वाच्य-निर्धारण की दो पद्धतियां दिखाई पड़ती हैं –

(१) रूप के अनुसार और (२) अर्थ के अनुसार ।

इसके कारण कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा वाच्य और प्रयोग का भ्रम भी प्रचलित हुआ । रूप के अनुसार जो क्रिया कर्मवाच्य मानी गई उसे अर्थ के अनुसार कर्तृवाच्य कहा गया । जैसे - लड़के ने पुस्तक पढ़ी । यह वाक्य रूप अर्थात् क्रिया की रूपावली के अनुसार कर्मवाच्य इसलिये कहा गया कि यहां 'पढ़ी' क्रिया, कर्म 'पुस्तक' के अनुकूल है, किन्तु अर्थ के अनुसार पढ़ी क्रिया का कर्ता 'लड़के ने' है, अत: यह कर्तृवाच्य कहा गया । 'अर्थ' को ही अन्वय कहा गया है । अन्वय से अभिप्राय है कारक से क्रिया का सम्बन्ध (क्रियान्वयित्वम्कारकत्वम्) । अन्वय के आधार पर यह वाक्य कर्तृवाच्य कर्मणिप्रयोग माना गया । यहां वाच्य से प्रयोग को पृथक् करने का प्रयास स्पष्ट है । इस प्रकार इस तथ्य - रूपान्तर और अन्वय - को आधार मानकर तीन वाच्य – कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य और तीन प्रयोग – कर्तरि, कर्मणि, भावे – माने गये और अर्थ का विचार कहीं वाच्य में और कहीं अन्वय में समाहित हो गया । इनकी परिभाषाएँ इस प्रकार की गईं –

२३३. वाच्य – वाच्य क्रिया का वह रूपान्तर है जिससे जाना जाता है कि वाक्य में कर्ता की, कर्म की या भाव की प्रधानता का विधान किया गया है ।

२३४. प्रयोग – वाक्य के कर्ता या कर्म के पुरुष वचन और लिंग के अनुसार क्रिया जो अन्वय और अनन्वय होता है, उसे प्रयोग कहते हैं ।

२३५. इस सन्दर्भ में विवेचन की सुविधा के लिये कर्तरि प्रयोग का भी लक्षण उद्धृत किया जा रहा है ।

कर्तरि प्रयोग - कर्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार जिस क्रिया का होता है उस क्रिया को कर्तरि प्रयोग कहते हैं ।

अब मूल प्रश्न यह है कि रेखांकित पदों को इन परिभाषाओं में से घटा दिया जाय तो लक्षण पूरा नहीं होगा । दूसरे, रेखांकित पदों में रूपगत या अर्थगत या अन्वयगत कोई अन्तर नहीं है । तीसरे, पुरुष, वचन, लिंग यदि क्रिया के साथ न हों अर्थात् क्रिया अपरिवर्तित हो तो वह शुद्ध क्रिया या 'भाव' मात्र होगी । फिर भी एक ऐसी अपरिवर्तनीय क्रिया भाववाच्य में होती है जिस पर कर्ता या कर्म के पुरुष वचन लिंग का प्रभाव नहीं होता, लेकिन वह भी क्रिया का विशिष्ट रूपान्तर होता है अर्थात् क्रिया अन्यपुरुष पुल्लिंग एक वचन होती है । चौथे, वाक्य में क्रिया का रूपान्तर अनिवार्य है क्योंकि पुरुषवचनलिंग के अभाव में (वस्तुत: रूपान्तर के अभाव में) कर्ता या कर्म का क्रिया के साथ अन्वय संभव ही नहीं है । ऐसी अवस्था में वाच्य और प्रयोग एक दूसरे से पृथक् नहीं कहे जा सकते ।

२३६. रूप और अर्थ में भेद का कारण भाववाच्य प्रतीत होता है । जो वैयाकरण प्रयोग और वाच्य को समानार्थी मानते हैं वे भाववाच्य में अकर्मक और दोनों क्रियाओं का निर्धारण करते हैं और जो प्रयोग को वाच्य से पृथक् मानते हैं वे कर्तृवाच्य में अकर्मक और सकर्मक, कर्मवाच्य में केवल सकर्मक और भाववाच्य में केवल अकर्मक क्रियाओं की ही गणना करते हैं । इनके अनुसार वाक्य में यदि कर्ता और कर्म दोनों सप्रत्यय हों तो क्रिया कर्तृवाच्य भावेप्रयोग में होगी । जैसे - रानी ने सहेलियों को बुलाया । बुलवाया । ऐसे वाक्यों को कर्तृवाच्य संभवत: इसलिए कहा गया है कि क्रिया का कर्ता वाक्य का उद्देश्य है और क्रिया अपने रूपान्तर में अन्य-पुरुष , पुल्लिंग, एक वचन होने से भाववाच्य की है, अत: भावे प्रयोग है । न्तत: जब वाक्य का उद्देश्य कर्ता हो तो क्रिया भी उसी के अनुकूल होगी । रूपान्तर मात्र के आधार पर वाच्य का वर्गीकरण उपादेय नहीं है क्योंकि निम्न-लिखित वाक्यों की क्रिया रूपान्तर की दृष्टि से सदैव अन्य पुरुष, पुल्लिंग, वचन ही होगी । जैसे --रानी ने आम खाया, लड़के ने ग्रन्थ पढ़ा । किन्तु कर्म बदलने के साथ क्रिया भी रूपान्तरित होगी, जैसे - रानी ने रोटी खाई, लड़के ने पुस्तक पढ़ी । यहाँ यह स्पष्ट है कि कर्ता की उपस्थिति में भी क्रिया का

कर्म से होता है, अर्थात् वाक्य में प्रधानता 'कर्ता' की है और क्रिया 'कर्म' की है अथवा यहाँ क्रिया अर्थ के अनुसार कर्तृवाच्य है और रूप के अनुसार कर्मवाच्य। इन्हीं आधारों पर ऐसे वाक्यों को कुछ विद्वान कर्तृवाच्य मानते हैं, कुछ कर्मवाच्य और कुछ कर्तृवाच्य कर्मणि प्रयोग। इस विवेचन से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं --

(१) कर्ता की सत्प्रत्यय उपस्थिति में भी, अर्थात् कथन का उद्देश्य कर्ता होते हुए भी क्रिया का रूपान्तर कर्म के अनुसार हो सकता है (रानी ने रोटी खाई।

(२) सत्प्रत्यय कर्ता के साथ क्रिया सदैव भूतकाल में होगी यद्यपि उसका रूपान्तर कर्म के अनुसार सँभव है, आवश्यक नहीं। जैसे -

(क) रानी ने आम खाया। आम खाये। (आम एक वचन और

(ख) रानी ने सहेलियाँ बुलवाईं।

(ग) रानी ने सहेलियों को बुलवाया

वाक्य (ख) में क्रिया का रूपान्तर बहुवचन स्त्रीलिंग अन्य पुरुष कर्म के अनुसार किन्तु वाक्य (ग) में क्रिया अप्रभावित है या अन्यपुरुष पुल्लिंग एक वचन है। कर्म प्रत्यय 'को' का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(३) कर्तृवाच्य भावे प्रयोग (या भाववाच्य) में सकर्मक क्रिया के कर्ता कर्म दोनों को सप्रत्यय माना गया (दे० ऊपर २ ग), किन्तु अन्यत्र भी सप्रत्यय रहते हैं, जैसे -(क) रानी ने सहेलियों को दी। (ख) राम ने हनुमान को मुद्रिका दी।

यहाँ 'ने' और 'को' प्रत्यय केवल कर्तृवाच्य तक ही सीमित नहीं हैं। उक्त ३. क, में क्रिया का नियमन कर्म के अनुसार हो रहा है, लेकिन निम्नलिखित वाक्यों में सत्प्रत्यय कर्ता और कर्म साथ होने पर भी भाववाच्य कहा गया है।

(ग) मैंने लड़की को देखा ।

(घ) तुमने मुझे देखा ।

२३७. इस प्रकार उक्त आधारों पर वाच्य और प्रयोग का वर्गीकरण बहुत उचित नहीं प्रतीत होता । हिन्दी-क्रिया न तो पूर्णतया संस्कृत का अनुगमन करती है और न तो अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार नियम बद्ध ही की जा सकती है । ऐसा कहने की आवश्यकता इसलिये है कि प्लैट्स , केलाग आदि के अनु-करण पर नागप्पा आदि ने भाववाच्य के रूपों को कर्मवाच्य में ही कहा है । यह धारणा पूर्णतया भ्रान्त है । हिन्दी में प्रयोगों को वाच्य से पृथक् करना उपादेय नहीं है क्योंकि वाच्य और प्रयोग के लक्षणों में मौलिक अन्तर नहीं है । वस्तुत: क्रिया का रूपान्तर कथन के उद्देश्य से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होता है । यदि कर्ता अकथित हो तो क्रिया कर्मवाच्य या भाववाच्य होगी । जैसे -पुस्तक पढ़ी गई, यहां पढ़ा नहीं जाता । यह क्रिया के अन्वय और अन-न्वय के कारण है, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से वाच्य क्रिया की अपेक्षा कर्ता या कर्म पर केन्द्रित होता है । क्रिया संरचना में क्रिया गौण और कारक प्रमुख बन जाते हैं जब कि लक्षण के अनुसार वाच्य वाक्य के उद्देश्य-कथन में क्रिया का द्योतन है । यहां क्रिया कथन के उद्देश्य की अनुकूलता ग्रहण करती है अर्थात् क्रिया कर्ता या कर्म के अनुसार कही जाती है अथवा स्वयं क्रिया ही कथन का उद्देश्य होती है यही क्रिया की वाच्यता है । इस रूप में संस्कृत और अंग्रेज़ी (उर्दू का व्याकरण अंग्रेजी का ही अनुकरण है, अत: विचार्य नहीं है) की विवेचन - पद्धति से हिन्दी की वाच्य-सम्बन्धी भिन्नता के कुछ कारण यहाँ दिये जाते हैं -

(क) सप्रत्यय कर्ता सदैव कथन का उद्देश्य होता है, भले ही क्रिया अन्य पुरुष पुल्लिंग एक वचन में अपरिवर्तनीय हो (देखिए ऊपर १,२) ।

(ख) सप्रत्यय कर्ता और सत्प्रत्यय कर्म की एकत्र स्थिति में अकर्मक क्रिय का रूप स्वतंत्र होता है, लेकिन उसका सम्बन्ध कर्ता से अविच्छिन्

रूप में होता है (दे० ऊपर २ ग और ३ ग,घ) ।

(ग) भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं में ही नहीं होता , और

(घ) कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियाओं में ही नहीं होता ।

(ङ०) क्रिया के रूपान्तर मात्र से ही वाच्य अथवा प्रयोग का निर्धारण संभव नहीं है ।

२३८. इस विवेचन के अनन्तर अब हिन्दी-वाच्य-विधान पर विचार किया जाता है --

परिभाषा - वाच्य क्रिया का वह रूपान्तर है जिससे वाक्य में कर्ता, कर्म या भाव की प्रधानता का ज्ञान होता है ।

२३९. यह परिभाषा वाच्य का सामान्य लक्षण है । वस्तुत: वाच्य क्रिया के उस व्यापार की सूचना है जिसमें वक्ता का ध्यान वाक्य के कर्ता, कर्म या क्रिया पर केन्द्रित होता है । जब वाक्य का केन्द्र बिन्दु कर्ता नहीं होता तब वाक्य में कर्म प्रधान होता है और जब क्रिया से ही किसी भाव की सिद्धि होती है तब कर्ता और कर्म गौण हो जाते हैं और वाक्य में क्रिया की प्रधानता हो जाती है । इस रूप में हिन्दी में तीन प्रकार की वाक्य रचना होती है -- कर्तृप्रधान, कर्म-प्रधान और क्रिया प्रधान (भाव प्रधान) । अत: वाक्य का कथन प्रकार ही वाच्य है, क्योंकि जब वाक्य का वाच्य (कथ्य या केन्द्रबिन्दु) कर्ता होता है तब क्रिया का व्यापार भी कर्ता के अनुसार होता है, जब वाच्य कर्म होता है, तब क्रिया का व्यापार कर्म के अनुसार होता है । इसी प्रकार वाक्य में जहाँ कर्ता और कर्म की क्रिया को कोई आवश्यकता नहीं होती और क्रिया स्वयं अपने प्रकट करती है वहां वह वाक्य क्रिया प्रधान या भाव-प्रधान कहा जायेगा ।

२४०. वाच्य तीन है -- कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य । इन्हें क्रमश: कर्तरि प्रयोग, कर्मणि प्रयोग और भावे प्रयोग कहने की प्रथा है । इसीप्रकार कथ्य की दृष्टि से इनसे सम्बद्ध वाक्यों को कर्तृप्रधान , कर्मप्रधान और भाव प्रधान वाक्य भी कहते हैं ।

२४१ सैद्धान्तिक दृष्टि से कर्तृवाच्य अकर्मक और सकर्मक धातुओं से, कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं से और भाववाच्य केवल अकर्मक धातुओं से निर्मित होते हैं। किन्तु व्यावहारिक रूप में अकर्मक क्रिया कर्तृवाच्य और भाववाच्य में तथा सकर्मक क्रिया तीनों वाच्यों में प्रयुक्त होती है। इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि जिन सकर्मक धातुओं का प्रयोग अकर्मक की भाँति हो उन्हें अकर्मक और जिन अकर्मक धातुओं का प्रयोग सकर्मक की भाँति हो उन्हें सकर्मक धातु मानना चाहिए।

२४२. कर्तृवाच्य — जब वाक्य में कर्ता प्रधान हो और क्रिया उसके पुरुष-वचन, लिंग का अनुसरण करे तो कर्तृवाच्य होगा। जैसे — राम पुस्तक पढ़ता है, सीता आम खाती है।

२४३. कर्तृवाच्य अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं में होता है। जैसे - मैं चलता हूं, मैं चक्की चलाता हूं।

२४४. कर्तृवाच्य के वर्तमान तथा भविष्यत्काल के समस्त रूपों में कर्ता अप्रत्यय रहता है, किन्तु भूतकाल की अकर्मक क्रियाओं में अप्रत्यय और सकर्मक क्रियाओं में सप्रत्यय रहता है। जैसे —

	अकर्मक	सकर्मक
वर्तमान	राम चलता है	राम पुस्तक पढ़ता है
भविष्यत्	राम चलेगा	राम पुस्तक पढ़ेगा
भूत	राम चला	राम ने पुस्तक पढ़ी

२४५. अपवादस्वरूप कर्ता-प्रत्यय -ने- कभीकभी अकर्मक क्रियाओं के साथ भी आता है और कभी-कभी सकर्मक क्रिया के साथ नहीं आता। जैसे —

(क) भूतकालिक कृदन्त से निर्मित कालों में जनना, बकना, बोलना, भूलना, लाना और समझना : क्रियाओं का कर्ता अप्रत्यय रहता है, जैसे - लड़की कुछ न बोली , हम बहुत बके , राम - मन - भ्रमर न भूला, दूसरे गर्भाधान में

केतकी पुत्र जनी, नौकर चिट्ठी लाया,[1] कुछ तू समझा, कुछ मैं समझा[2]।

(ख) इसी प्रकार नहाना, छींकना आदि अकर्मक क्रियाओं का कर्ता सप्रत्यय रहता है, जैसे - हमने नहाया है, लड़की ने छींका।

२४६. यदि कर्म की विवक्षा न हो तो सकर्मक क्रिया का अकर्मक क्रिया की ही भांति प्रयोग होता है। जैसे - वह बहुत पढ़ता है, लड़कों ने बहुत पढ़ा, मेरा बेटा खूब पढ़ेगा।

२४७. कर्म की विवक्षा होने पर अकर्मक क्रिया कभी-कभी सकर्मक हो जाती है। जैसे - वह अजीब चाल चला, तुमने कौन सी लड़ाई लड़ी? इस तरह के प्रयोग प्राय: सजातीय होते हैं।

२४८. हिन्दी क्रियाओं का प्रयोग अधिकांशत: कर्तृवाच्य में होता है।

२४६. कर्मवाच्य- जब वाक्य में कर्म प्रधान हो और क्रिया उसके पुरुष, वचन, लिंग का अनुसरण करे तो कर्मवाच्य होगा। जैसे - पत्र भेजा गया, भेंट दी गयी

२५०. कर्मवाच्य क्रिया केवल सकर्मक होती है।

२५१. कर्मवाच्य के कर्म में कोई चिह्न नहीं लगता।

२५२. यदि कर्मवाच्य की क्रिया के कर्ता का उल्लेख आवश्यक हो तो उसे करण कारक में लिखते हैं। इसलिये करण कारक के प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं। साधारणत: निम्नलिखित विभक्ति चिह्न प्रयोग में लाये जाते हैं :- 'से, द्वारा,

---

१. गुरु, पृ० २६६

२. वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ४२४

जरिये, (की) और से , (की) तरफ से , और मार्फत । जैसे पैंसिल से पत्र लिखा गया, मेरे द्वारा पानी खींचा गया, गइने चन्दू के मार्फत भेजे गये आदि ।

२५३. कर्मवाच्य में उद्देश्य का कथन प्राय: तीन प्रकार से किया जाता है :-

(क) अप्रत्यय कर्मकारक में - यह रूप में अप्रत्यय कर्ताकारक के समान होता है । जैसे - पुस्तक पढ़ी गई, घोड़ा अस्तबल में बाँधा गया ।

(ख) सप्रत्यय कर्मकारक में --जैसे - उसे मँगवा लिया जाय , औरतों को बुलाया जाय ।

(ग) मुख्य कर्म के रूप में --जब कर्मवाच्य में द्विकर्मक क्रियायें आती हैं तो मुख्य कर्म उद्देश्य होता है और गौणकर्म यथावत् रहता है । जैसे - बच्चे को दूध पिलाया जायेगा, प्रधानमंत्री को थैली दी गई ।

२५४. अपूर्ण सकर्मक क्रियाओं के कर्मवाच्य में मुख्य कर्म उद्देश्य होता है, परन्तु वह कभी कभी कर्मकारक ही में आता है, जैसे - सिपाही सरदार बनाया गया ।[१] वस्तुत: इस दशा में उद्देश्य अप्रत्यय होता है-सिपाही (को) सरदार बनाया गया।

२५५. कुछ सकर्मक क्रियाओं का प्रयोग कर्मवाच्य में नहीं होता ।

२५६. कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियाओं पर आश्रित होने से सीमित होता है । इसका प्रयोग प्राय: निम्नलिखित स्थानों में होता है ।

(क) जब क्रिया का कर्ता अज्ञात हो अथवा उसके निश्चित प्रयोग की आवश्यक न हो । जैसे - शेर मारा गया, सब डाकू मारे जायेंगे, समाचार प्रसारित किया जायेगा ।

(ख) कानूनी भाषा या प्रशासकीय शब्दावली में --जैसे- सूचित किया जात है, कठोर दण्ड दिया जायेगा ।

(ग) साभिप्राय अथवा विशेष कथन में --यह फिर समझा जायेगा, चोरी करवाई गई है, प्रमाण प्रस्तुत किये गये ।

---

१. गुरु, पृ० २६०

(घ) शक्ति विधान में --यह काम तुमसे से ही संभव है, ऐसे काम आप से ही हो सकते हैं ।[१]

(ङ०) अशक्तता के अर्थ में --राम से रोटी नहीं खाई जायेगी, उससे दूध भी नहीं पिया जाता ।

२५७. भाववाच्य - जब वाक्य में क्रिया के द्वारा केवल भाव (धात्वर्थ मात्र) ही कहा जाय, कर्ता और कर्म न कहे जायं, तब वह क्रिया भाववाच्य होती है । जैसे - यहां कैसे रहा जायेगा, लड़के से उठा नहीं जाता ।

२५८. भाव धात्वर्थ को कहते हैं और भाववाच्य का अर्थ है किसी क्रिया का होना प्रकट करना । भाववाच्य में कर्ता या कर्म की आवश्यकता नहीं होती, इसलिये भाववाच्य क्रिया सदैव अन्यपुरुष, पुल्लिंग, एकवचन में होती है ।

२५६. भाववाच्य मुख्य रूप से अकर्मक क्रियाओं में होता है, किन्तु सकर्मक क्रियायें भी भाववाच्य होती हैं ।

२६०. भाववाच्य क्रिया का उद्देश्य नहीं होता । फलस्वरूप तीन बातें सामने आती हैं :-

(क) यदि भाववाच्य में कर्ता का उल्लेख आवश्यक हो तो उसे करण कारक में विभक्ति प्रत्यय "से" के साथ लिखते हैं - जैसे मुझसे चला जाता है, ~~उठा-जाता है~~ उससे बोला नहीं जाता ।

(ख) अकर्मक क्रिया का कर्म नहीं होता, इसलिये वाच्य-परिवर्तन होने पर वह भाववाच्य हो जाती है । जैसे - चला जाता है, उठा जाता है ।

(ग) उद्देश्य के अभाव में सकर्मक क्रिया भी भाववाच्य हो जाती है । यह वस्तुत: कर्तृवाच्य में अकर्मक की भाँति प्रयुक्त सकर्मक क्रिया का भाववाच्य रूप

---

१. वाजपेयी, हि०श०, पृ० ४११

होता है। जैसे - पढ़ा जाता है, पढ़ा नहीं जाता (दे० कर्तृवाच्य अनु० १४)। किन्तु कर्म की उपस्थिति में क्रिया कर्मवाच्य ही होगी, भाववाच्य नहीं।

२६१. भाववाच्य क्रिया शक्तता या अशक्तता के अर्थ में आती है। जैसे -- खाया नहीं जाता, पिया जाता है, अब तो उठा भी नहीं जाता, लड़के से पढ़ा तो जाता है, लेकिन लिखा नहीं जाता।

२६२. भाववाच्य क्रिया के रूप प्राय: कर्मवाच्य के समान होते हैं।[१] जैसे --

(क) दौड़ा जाये | मुझसे, तुझसे, उससे, हमसे, तुमसे, उनसे।
(ख) दौड़ा जाता था |

सम्भवत: ऐसे ही रूप-विधान को लक्ष्य करके नागप्पा महोदय ने यह कहा है कि --

"भाववाच्य वास्तव में अकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य रूप है।"[२]

भाववाच्य के रूप संयुक्त क्रियाओं से बनते हैं। यह प्राय: नीचे लिखे रूपों में होता है।

(क) प्रधान सहायक क्रिया "जाना" के संयोग से -- जैसे उठा नहीं जाता, चला नहीं गया।

(ख) शक्ति-निषेध के अर्थ में बनना क्रिया के संयोग से -- जैसे - कहते नहीं बनता, चलते न बनेगा।

(ग) नामबोधक और पुनरुक्त क्रियाओं से -- जैसे, अन्याय देखकर किसी से चुप नहीं रहा जाता, लड़के से कैसे चला फिरा जायेगा।

---

१. दुनीचंद, हिन्दी व्याकरण, पृ० १६१

२. अभिनव हिन्दी व्याकरण, पृ० २१७

इस विवेचन के अनन्तर यहां कर्मवाच्य और भाववाच्य के रूप दिये जाते हैं :-

२६३. <u>कर्मवाच्य</u>

कर्मवाच्य क्रिया का निर्माण करने के लिये कर्तृवाच्य के कर्ता को करण कारक में और कर्म को कर्ताकारक में रख कर और धातु के भूतकालिक कृदन्त (पूर्णताबोधक प्रत्यय) के रूपों के साथ 'जा' धातु के रूपों को संयुक्त किया जाता है। जैसे --मैं तुमको मारूंगा (कर्तृवाच्य) किन्तु,मुझसे तुम मारे जाओगे (कर्मवाच्य)। नीचे 'देख' धातु के केवल पुल्लिंग रूप दिये जाते हैं। स्त्री लिंग रूप भी इसी प्रकार बनाये जा सकते हैं। इन रूपों में वैकल्पिक और तात्कालिक रूप नहीं दिये जा रहे हैं।

कर्मवाच्य

धातु --देख (पुल्लिंग)

१. सामान्य वर्तमान निश्चयार्थ	देखा जाता है
२. पूर्ण वर्तमान ,,	देखा गया है
३. सामान्य भूत ,,	देखा गया
४. अपूर्ण ,, ,,	देखा जाता था
५. पूर्ण ,, ,,	देखा गया था
६. सामान्य भविष्यत् ,,	देखा जायेगा
७. अपूर्ण ,, ,,	देखा जाता होगा
८. पूर्ण ,, ,,	देखा गया होगा
९. प्रत्यक्ष विधि-सामान्य	देखा जाये
१०. ,, ,,आदरार्थ	देखे जाइए
११. वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ	देखा गया हो
१२. ,, अपूर्ण ,,	देखा जाता हो
१३. भूत अपूर्ण ,,	देखा जाता होता
१४. ,, पूर्ण ,,	देखा गया होता

सूचना -- यह अन्य पुरुष एक वचन के रूप हैं। वैकल्पिक रूपों के लिये काल-रचना देखिये। शेष जितने भी रूप हैं उन सब के पूर्व यदि, जो, अगर आदि अव्यय संयुक्त करके संभावनार्थ के रूप सिद्ध किए जा सकते हैं।

भाववाच्य

२६४. भाववाच्य क्रिया का निर्माण अकर्मक धातु से किया जाता है। भाववाच्य का कर्म नहीं होता और इसका भी कर्ता कर्मवाच्य की भांति करण-कारक में रखा जाता है। भाववाच्य की क्रिया सदैव अन्य पुरुष पुल्लिंग एक वचन होती अर्थात् एक काल में प्रत्येक पुरुष, वचन, लिंग में क्रिया का एक ही रूप प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य की भाँति भाववाच्यमेंभी मुख्य धातु के भूतकालिक कृदन्त (पूर्णताबोधक प्रत्यय) के रूपों के साथ'जा' धातु के रूपों को संयुक्त किया जाता है। यहाँ भाववाच्य में उपलब्ध वास्तविक रूपों को दिया जाता है।

भाववाच्य

धातु- चल्

१. सामान्य वर्तमान निश्चयार्थ	चला जाता है
२. पूर्ण ,, ,,	चला गया है
३. सामान्य भूत ,,	चला गया
४. अपूर्ण ,, ,,	चला जाता था
५. पूर्ण ,, ,,	चला गया था
६. सामान्य भविष्यत् ,,	चला जायेगा
७. अपूर्ण ,, ,,	चला जाता होगा
८. पूर्ण ,, ,,	चला गया होगा
९. वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ	चला जाता होवे
१०. वर्तमान पूर्ण ,,	चला गया हो
११. भूत अपूर्ण ,,	चला जाता होता
१२. भूत पूर्ण ,,	चला गया होता

इन रूपों के साथ प्रत्येक पुरुष वचन लिंग का कर्ता करण कारक में प्रयुक्त होगा, जैसे - मुझसे चला जायेगा, हमसे चला जायेगा, तुझसे चला जायेगा, तुमसे चला जायेगा, उससे चला जायेगा, उनसे चला जायेगा ।(दे० अनु २६२की सूचना)।

२६५. कर्तृवाच्य की रूपावली कालरचना में देखिये ।

—

अध्याय – ८

अर्थ

अध्याय - ८

अर्थ

२६६. क्रिया के अर्थ के प्रति हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थों में अनेक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं। यह परिभाषाएं प्राय: अंग्रेज़ी-व्याकरण के MOODS के आधार पर निर्मित हैं। विचारार्थ कुछ विशिष्ट परिभाषाएं प्रस्तुत हैं :-

१. पंडित कामताप्रसाद गुरु के अनुसार "क्रिया के जिस रूप से विधान करने की रीति का बोध होता है उसे 'अर्थ' कहते हैं।[१]

२. (क) डा० भोलानाथ तिवारी-"क्रिया के वे रूप जिनसे कहने वाले के भाव (या व्यापार की रीति) का बोध होता है, अर्थ कहे जाते हैं।"[२]

(ख) डा० तिवारी अन्यत्र लिखते हैं कि -"क्रिया के वे रूप, जिनसे कहने वाले के मानसिक भाव का बोध होता है, अर्थ कहलाते हैं।"[३]

३. डा० ज०म० दीमशित्स के अनुसार - क्रिया के प्रकारों को ऐसे क्रिया परक रूप कहते हैं जो वस्तुस्थिति के प्रति वक्ता से अभिहित क्रिया के व्यापार या का निर्देश करते हैं। क्रिया के प्रकार जो अर्थ देते हैं उन्हें प्रकारपरक कहते हैं

२६७. इन परिभाषाओं में अंग्रेजी-व्याकरण का अनुकरण स्पष्ट है, किन्तु यह अपूर्ण अथवा भ्रामक हैं। गुरु की परिभाषा में क्रिया के केवल 'करने' का

---

१. हि०व्या०, पृ० २६३

२. हि०भा०स०व्या०, पृ० १००

३. भाषाविज्ञान कोश

४. हि०व्या०रूपरेखा, पृ० १२६

भाव है, 'होने' का भाव नहीं है । डा० तिवारी के पहले लक्षण में क्रिया की अपेक्षा कर्त्ता (करने वाले) पर बल अधिक है और दूसरे लक्षण में यह 'मानसिक-भाव-बोध' में ही सीमित हो जाता है । इसी प्रकार डा० दीमशित्स की परिभाषा में नवीनता या गहराई तो नहीं है, लेकिन कथन का विस्तार अवश्य है । परिभाषा की अपूर्णता या भ्रम का मुख्य कारण काल और अर्थ का अभेद है ।[1] संस्कृत की लकार - प्रक्रिया में भी यह बहुत स्पष्ट नहीं है और अंग्रेजी के सम्बन्ध में ब्लूमफ़ील्ड[2] की भी धारणा यही है । संभवत: यही कारण है कि अंग्रेजी के वैयाकरणों नेस्फ़ील्ड और रेन की परिभाषाओं और भेदों में अन्तर है । जहाँ नेस्फ़ील्ड विधान करने की रीति[3] को अर्थ मानते हैं वहाँ रेन के अनुसार क्रिया की दशा तथा रूप को कहते हैं जिससे काम के करने या होने का ढंग प्रकट हो ।[4] गुरु ने पादरी आदम साहब की जिस परिभाषा का खण्डन किया है, उस पर रेन का ही प्रभाव लक्षित होता है । कहीं-कहीं श्रीप्रकाश गुप्त अर्थ की परिभाषा में दशा और रूप के साथ अवस्था[5] को भी सम्मिलित कर लेते हैं । दुनीचंन्द की परिभाषा में वक्ता के अन्तर्गत भाव का बोध[6] आवश्यक है । डा० धीरेन्द्रवर्मा और डा० बाबूराम सक्सेना[7] के अनुसार 'व्यापार की रीति का बोध' अर्थ है । इन विविध रूपों का एक कारण यह है कि अनेक वृत्तियों या भावों के प्रकाशन में केवल क्रिया समर्थ नहीं होती । अनुमान, सन्देह, सम्भावना आदि प्रकट करने के लिये वाक्य में

---

१. गुरु, हि०व्या०, पृ० २६४

२. एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आव लैंग्वेज , पृ० १४४ तथा १४७

३. ईंयिडयम एण्ड ग्रामर , पृ० ७१

४. हाईस्कूल इंगलिश ग्रामर, पृ० १२८ (अनु० श्रीप्रकाश गुप्त)

५. न्यू लाइट इन जनरल इंगलिश, पृ० ५१

६. हिन्दी व्याकरण, पृ० १४३

७. नवीन हिन्दी व्याकरण, पृ० ६७

क्रिया के साथ अन्य शब्दों अथवा अव्ययों आदि का प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे - शायद उसने नौकरी छोड़ दी, आपके पहुंचने पर ही वह जा सकेगा, सम्भव है वह कल आये। इस सम्बन्ध में डा० दीमशित्स ने विशेष क्रियाओं के प्रयोग को भी 'प्रकारपरक' माना है।[१] 'सकना' क्रिया का उक्त प्रयोग इसी प्रकार का है इस प्रकार विभिन्न अर्थों के लिये यह परिभाषा की जा सकती है -- क्रिया की जिस रीति, दशा, अवस्था या रूप से वक्ता के भाव का बोध होता है, उसे अर्थ कहते हैं।

२६८. अर्थ के भेद --हिन्दी में मूलत: तीन अर्थ हैं --निश्चयार्थ, आज्ञार्थ और सम्भावनार्थ। अर्थ के भेदों के प्रति विद्वानों में सहमति प्राय: नहीं है। अंग्रेजी-शैली पर लिखित व्याकरणों में अंग्रेजी का व्याकरण-भेद हिन्दी में भी है। पी० सी रैन[२] और उनसे सहमति प्रकट करने वाले लेखकों ने निश्चयार्थ, आज्ञार्थ और संभावनार्थ तीन भेद माने। अंग्रेजी में नैस्फ़ील्ड[३] ने चार भेदों की गणना की। हिन्दी में अर्थ के भेदों के प्रति तीन मत हैं। (१) डा० धीरेन्द्र वर्मा,[४] डा० बाबूराम सक्सेना,[५] डा० उदयनारायण तिवारी,[६] रामलोचनशरण,[७] प्लैट्स[८],

---

१. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा, पृ० १२६
२. हा०इं०ग्रा०, पृ० १२८
३. इंडियम एण्ड ग्रामर, पृ० ७१
४. हि०भा०इति०, पृ० २६७
५. नवीन हिन्दी व्याकरण, पृ० ६७
६. हिं०भा०उद्०वि०, पृ० ४६३
७. व्या०चं० , पृ० ६८
८. ए ग्रामर आफ़ हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, पृ० १३५

फ़िल्चर्,[1] नागप्पा[2] और डा० हरदेव बाहरी[3] तीन अर्थ - निश्चय, आज्ञा, सम्भावना - मानते हैं। इनमें डा० तिवारी निर्देशक और संयोजक नाम देते हैं। डा० बाहरी प्रकारान्तर से सन्देहार्थ और संकेतार्थ को भी स्वीकार करने की सलाह देते हैं। (२) दूसरे वर्ग में डा० कैलाग[4] और दीमशित्स[5] हैं जिन्होंने चौथा संकेतार्थ भी माना है। (३) तीसरे वर्ग में कामताप्रसाद गुरु,[6] दुनीचंद[7] और भोलानाथ तिवारी[8] सन्देहार्थ और संकेतार्थ सहित पाँच अर्थों का विवेचन करते हैं, लेकिन इसे मानने का कोई तर्क या प्रमाण नहीं देते। सत्यता यह है कि सन्देहार्थ को सम्भावनार्थ से पृथक् करके देखने की आवश्यकता नहीं है। इसी-प्रकार संकेतार्थ का अधिकांश सम्भावना में और शेष अन्य अर्थों में आ जाता है। यदि केवल नामकरण को ही महत्त्व दें तो मानसिक भावबोध के जितने रूप संभव हैं, उतने भेद करने होंगे। यह इसलिये भी उचित नहीं है कि संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही पद्धतियों का प्रभाव होने पर भी दोनों का अनुकरण किया जाय। हिन्दी की प्रकृति भिन्न होते हुए भी 'अर्थ' की सैद्धान्तिक दृष्टि इस सम्बन्ध में भी वही है। उदाहरणास्वरूप संस्कृत में आज्ञा और विधि को भिन्न अर्थ माना है। लेकिन हिन्दी में यह मिल कर एक हो गए हैं। इसी प्रकार जो कभी निश्चयार्थ था, वह अब आज्ञार्थ हो गया है[9]। इसी प्रकार जहां अंग्रेजी INDICATIVE

---

१. हिन्दुस्तानी स्टम्बलिंगब्लाक्स, पृ० ४१,४८,८८

२. अभिनव हिन्दी व्याकरण, पृ० २३६

३. व्यावहारिक हिन्दी व्याकरण, पृ० १२०

४. हिं०ग्रा०, पृ० २२१

५. हि०व्या० की रूपरेखा, १२६

६. हिं०व्या०, पृ० २६४

७. हि००व्या०, पृ० १४३

८. भा०वि० कोश। सरल व्या०, पृ० १००

९. धीरेन्द्र वर्मा - न०हिं०व्या०, पृ० ६८ तथा देखिए प्लैट्स, पृ० १३९ का फुटनोट २।

का अर्थ निर्देशक (उ०ना० तिवारी) और निश्चयार्थ किया गया है वहां SUBJ. का अर्थ संयोजक (वही) और संकेतार्थ (भो०ना० तिवारी आदि) आदि भी किया गया है। क्रिया के जिस PRESUMPTIVE (अनुमान) अर्थ का आज्ञा और सम्भावना में अन्तर्भाव हो जाता है (देखिये, काले, ह्विटनी, नेस्फील्ड, रैन, प्लैट्स आदि) उसके लिये स्वतंत्र नाम देने की आवश्यकता (गुरु तिवारी, दीमशित्स के अनुसार) मेरी दृष्टि में नहीं रह जाती। इसी प्रकार स्वयं गुरु महोदय निश्चयार्थ को निश्चयपूर्वक स्वतंत्र भेद कहने की अपेक्षा सुभीते के लिये ही मान लेते हैं, जब कि अन्य विद्वान् INDICATIVE का अनुवाद निश्चयार्थ ही करते हैं। गुरु महोदय की विवेचना-पद्धति में, इस प्रकार निश्चयार्थ प्रथम भेद होकर भी गौण हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चयार्थ के अन्तर्गत गुरु के सरलकाल (इनकी संख्या सबसे अधिक छ: है) अंग्रेज़ी के आधार पर लिये तो गए किन्तु संस्कृत कालों और अर्थों की पृथकता के कारण उन्हें 'सुभीते' का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। इस संकोच के कारण ही शायद उन्होंने तीन की अपेक्षा पाँच अर्थों का नियमन किया होगा अन्यथा इस मौलिकता की आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में वर्णित INFINITIVE को हिन्दी में कहीं संकेतार्थ और कहीं संभावनार्थ में रखने के कारण भी यह कठिनाइयाँ आई हैं। अब अर्थ-भेदों पर विचार किया जाता है।

२६९. १. निश्चयार्थ - क्रिया के जिस रूप से व्यापार या तथ्य का निश्चय प्रकट हो वह निश्चयार्थ है।

२७०. निश्चयार्थ का प्रयोग सबसे अधिक होता है। इसके अन्तर्गत वर्णन, प्रश्न, निषेध और तात्कालिकता आदि आते हैं। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(क) वर्णन - राम लखनऊ गया

(ख) कथन - वह आता है

(ग) प्रश्न - राम कब आयेगा

(घ) निषेध - मोहन वहाँ नहीं है

(ढ०) तात्कालिकता - लड़की अब नहा रही है ।

२७१. यद्यपि निश्चयार्थ के अपने पदरचनापरक चिह्न नहीं हैं, फिर भी उसके अन्तर्गत काल के रूप होते हैं । इन रूपों के प्रति विद्वानों में न तो मतैक्य है और न तो कालों के नामकरण में समानता ही है और अर्थ की यही विशेषता भी है । विविध कालों में निश्चयार्थ निम्नलिखित रूपों में माना जा सकता है ।

१. सामान्य वर्तमान - मैं चलता हूं
२. पूर्ण वर्तमान - मैं चला हूं
३. सामान्य भूत - मैं चला
४. अपूर्ण भूत - मैं चलता था
५. पूर्ण भूत - मैं चला था
६. सामान्य भविष्यत् - मैं चलूँगा ।

२७२. इनके अतिरिक्त निश्चयार्थ के कुछ रूप और हैं जिनमें काल-सम्बन्धी मतभेद है, किन्तु एक ही वाक्य भिन्न सन्दर्भों में अपूर्ण भविष्य या सन्दिग्ध वर्तमान हो सकता है । जिसे एक विद्वान् पूर्ण भविष्य निश्चयार्थ[1] और दूसरा सन्दिग्ध भूत[2] कहता है वही तीसरे के अनुसार पुराघटित भविष्यत्[3] भी है । इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी क्रिया-रचना अपने भावबोध में जितना वक्तव्य प्रकट करती है उतना काल नहीं । यही कारण है कि अनेक विद्वानों ने 'अर्थ' को 'रीति' कहने की अपेक्षा 'मानसिक भाव का बोध' कहना उचित समझा है । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी की कुछ क्रियायें निश्चित अर्थों में ही प्रयुक्त होती हैं, जैसे - सकना क्रिया केवल संभावनार्थ में और 'रहना' स्थिति बोधक और तात्का लिकता (काल) में आती है - मैं इसी घर में रहता हूँ । मैं रामायण पढ़ रहा

---

१. वर्मा - सक्सैना, नवीन हिन्दी व्याकरण, पृ० ८७
२. गुरु- हि०व्या०, पृ० २६६
३. उ०ना० तिवारी - हि०भा० उद्०वि०,पृ० ४६७

था । अब निश्चयार्थ के शेष रूप प्रस्तुत हैं -

७. अपूर्ण भविष्यत् - मैं चलता होऊँगा
८. पूर्ण भविष्यत् - मैं चला होऊँगा
६. तात्कालिक -
(क) वर्तमान - मैं चल रहा हूँ
(ख) भूत - मैं चल रहा था
(ग) भविष्यत् - मैं चल रहा होऊँगा

इनके अतिरिक्त प्लैट्स आदि ने खुदा जाने, मैं क्या जानूँ, ईश्वर जानता है जैसे रूपों को निश्चयार्थ कहा है । धीरेन्द्रवर्मा और भोलानाथ तिवारी आदि भी यही मत व्यक्त करते हैं, लेकिन यह वाक्य-रचना संभावना और अनुमान ही अधिक है और तात्कालिक रूपों को निश्चयार्थ से पृथक् करना असंभव है ।

आज्ञार्थ

२७३. क्रिया के जिस रूप से आज्ञा, उपदेश, प्रार्थना और आशीर्वाद आदि प्रकट हो उसे आज्ञार्थ कहते हैं ।

२७४. आज्ञार्थ में आज्ञा आदि के अतिरिक्त, अनुमति, चेतावनी, मंगल कामना अभिलाषा, अनुमान या कल्पना, योग्यता और निषेध भी व्यक्त किये जाते हैं इस प्रकार आज्ञार्थ का मूल रूप अपनी रचना में अन्याश्रित होता है अथवा वह ऐसे व्यापार को प्रकट करता है जो वक्ता से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है । इसलिये यह सदैव मध्यमपुरुष में ही होता है । यह कथन लक्षणमात्र समझना चाहिये । यहाँ मेरा हिन्दी के समस्त वैयाकरणों से मतभेद है ,क्योंकि हिन्दी आज्ञार्थ में केवल आज्ञा ही नहीं है । उसमें प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि दोनों ही रूपों का परिगणन प्राय: सबने किया है । में आज्ञा, विधि और आशी: तीनों के भिन्न रूप होते हैं, लेकिन हिन्दी

में उक्त तीनों रूपों की एकत्र गणना की जाती है। यही कारण है कि हिन्दी में आज्ञा, उपदेश के साथ-साथ आमंत्रण, आशीर्वाद, योग्यता आदि भी आ जाते हैं। संस्कृत में भी सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सब आज्ञार्थ में ही आते हैं, किन्तु रूप रचना की दृष्टि से भिन्न हैं और आशीर्लिङ् में भविष्यत् बोधक तत्व विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में वैयाकरणों के इस कथन का कोई मूल्य नहीं रह जाता कि "आज्ञार्थ केवल मध्यम पुरुष में ही होता है।" यहाँ यह कहना अधिक उचित है कि शुद्ध आज्ञा केवल मध्यम पुरुष में होती है। इस कथन का अन्य पक्ष यह भी है कि क्या संभाव्य भविष्यत् या सामान्य वर्तमान को विशिष्ट - काल रूप मानें या आज्ञा -विधि का रूप ? क्योंकि इन रूपों में अभेद भाव स्पष्ट है। यहाँ सुविधा के लिए इन्हें आज्ञा कहेंगे, शेष विवेचन काल रचना में किया जायेगा। आज्ञार्थ के विविध रूप नीचे दिये जाते हैं।

(क) आज्ञा - जा, एक घड़ा पानी ला।

(ख) अनुमति - अच्छा, आओ।

(ग) चेतावनी - ख़बरदार जो तुम उन पर हाथ लगाओ।

(घ) निषेध - लम्बी घास में नंगे पैर मत चलो।

(ङ) उपदेश - सदा सच बोलो।

(च) प्रार्थना - प्रभु ! कृपा करो ! मैं जाऊँ।

(छ) आशीर्वाद- जुग जुग जिओ बेटा। भगवान तुम्हारा भला

(ज) कामना (इच्छा, अभिलाषा) - हमारा देश उन्नत हो।

(झ) योग्यता - लड़का यहाँ बैठे। आप कुर्सी पर बैठें।

(यं) संमति, परामर्श - आप चल कर उसे देख लें।

२७५. विदेशी वैयाकरणों ने चेतावनी, निषेध और अवरोध को अलग-अलग लिखा है, लेकिन यह तीनों रूप वस्तुत: उपदेश के अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसे - बोलो। किसी को गाली मत दो (डा० हरदेव बाहरी) तथा अब मत खेलो (नागप्पा)।

आदरसूचक आज्ञार्थ

२७६. आदरसूचक रूपों में हिन्दी ने प्राचीन परम्परा का परित्याग किया है । प्राचीनकाल में सामाजिक उच्चता सम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्तियों के सम्बोधन के लिये आदरार्थ का प्रयोग होता था ~~किन्तु~~ किन्तु हिन्दी में किसी भी व्यक्ति के प्रति इनका प्रयोग किया जाता है । आदरार्थ की दूसरी विशेषता अपने से छोटे और बड़े दोनों के प्रति भिन्न रूपों में प्रकट की जाती है । यह आदर-भेद तीन भिन्न प्रत्ययों के योग से सम्पन्न होता है —

(क) - इये - (धातु + इये) - आइये

(ख) -इयेगा - (धातु + इये + गा) - आइयेगा

(ग) - इयो - (धातु + इये + ओ) - आइयो

२७७. (क) अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति सामान्य आदरसूचक कथन में — इये - प्रत्ययान्त रूप प्रयुक्त होते हैं जैसे - आइये, अन्दर चलिये । यह रूप वर्तमान सम्बोधन का ही रूप है । इसके प्रति प्लैट्स, केलाग और फ़िल्लट आदि का विचार है कि यह सामान्य शिष्टाचार सम्बन्धी आदरार्थ है ।

२७८. (ख) -इयेगा - प्रत्ययान्त रूपों से विनम्रता और आग्रह दोनों ही प्रकट होते हैं । यह भविष्यत् बोधक रूप है जिसमें कभी कभी प्रार्थना के अतिरिक्त कामना या आदेश भी व्यक्त किये जाते हैं । जैसे - आप शादी में ज़रूर आइयेगा उससे कुछ मत कहियेगा । यह सदैव 'आप' सर्वनाम के साथ ही आता है ।

२७९. (ग) -इयो-प्रत्ययान्त रूपों का प्रयोग मध्यम पुरुष तू, तुम रूपों के साथ ही होता है, जैसे - जा, लेकिन जल्दी आइयो । तुम भूलिओ मत ।

कभी-कभी यह आशीर्वाद के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । जैसे - बेटा खुश रहियो । आशीर्वादात्मक अर्थ के विस्तार से यह अन्य पुरुष में भी आता है । जैसे - भगवान तुमको खुश रखियो । प्लैट्स ने अभिशाप के अर्थ में भी एक उदाहरण दिया है —खुदा की लानत काफ़िरों और मुश्रिकों पर हूजिओ

२८०. ऐसा प्रतीत होता है कि अपने से छोटे व्यक्तियों के प्रति आदरसूचक प्रयोग की भावना के कारण 'तुम' और 'आप' से सम्बद्ध प्रत्यय (इये+ ओ) एक दूसरे में मिल जाने से -इयो- रूप बन गया है । अभी भी प्रयाग के खत्री-बन्धुओं मेंलीजो,दीजो, पीजो - आदि रूप प्रचलित हैं । लेकिन इन्हें साहित्यिक प्रयोग नहीं माना जा सकता । काव्य में ऐसे प्रयोग अवश्य प्राप्त होते हैं । जैसे - कह गिरिधर कविराय कहो अब कैसी कीजै । जल खारी ह्वै गयो कहो अब कैसे पीजै ।'

क्रियार्थक संज्ञा - परोक्ष विधि

२८१. हिन्दी में क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग परोक्ष विधि के रूप में निरन्तर मिलता है । जैसे - तुम कल ज़रूर आना । यह पुस्तक मन लगाकर पढ़ना । क्रियार्थक संज्ञा का यह आज्ञार्थक प्रयोग भविष्यत् बोधक होता है । क्रियार्थक संज्ञा का यह प्रयोग केवल मध्यम पुरुष में ही होता है ।

आज्ञार्थ में निषेध

२८२. आज्ञार्थ में निषेधात्मक न , नहीं और मत तीनों अव्ययों का प्रयोग जाता है । सामान्य रूप से 'मत' का प्रयोग 'आप' के साथ परोक्ष विधि में उत्तम पुरुष एवं अन्य पुरुष में नहीं माना जाता (केलाग, पृ० ४५६, गुरु, पृ० ४६३) । बाहरी, १२०) लेकिन प्लैट्स (पृ० ३५६) के अनुसार 'मत' का प्रयोग आज्ञार्थ और आदरार्थ में होता है । जैसे - तू भूलियो मत । मैथिलीशरण गुप्त का एक प्रयोग ऐसा ही है -

हे आर्य ! आप चुप ही रहिये ।
मत कहिये यह मत कहिये ।। (साकेत)

२८३. 'नहीं' के लिए केलाग आदि ने लिखा है कि इसका प्रयोग आज्ञार्थ में ही नहीं । किन्तु प्लैट्स ने बहुत पहले इसका खण्डन यह कहकर किया था कि 'बाग़ओ - बहार' में इसका उल्लेख न होने से यूरोपीय वैयाकरणों (और आधारों पर भारतीय वैयाकरणों) को भ्रम हुआ है । प्लैट्स से उद्धृत

(१) तू डर नहीं

(२) आज घर मत जाओ

(३) इस दरख्त के पास न जाइये

अन्यत्र इससे भिन्न उदाहरण भी मिलते हैं - आप आज नहीं ही जाइये । तुम खाना नहीं । अब मत पढ़ । ज्यादा न खा ।

इस प्रकार विकासात्मक दृष्टि से कह सकते हैं कि - न , नहीं, मत के प्रयोग के प्रति अब कोई बन्धन नहीं रह गया है ।

संभावनार्थ

२८४. संभावनार्थ पर विशेष विचार की आवश्यकता है । संभावनार्थ के प्रति विभिन्न मतों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है । धीरेन्द्रवर्मा, बाबूराम सक्सेना सद्गुरुशरण अवस्थी, रामदहिन मिश्र और रामावतार शर्मा केवल संभावनार्थ का उल्लेख करते हैं और इसके अन्तर्गत अनुमान, इच्छा, कर्त्तव्य, शर्त, अनिश्चय, संशय, संदेह, कामना, याचना, संभावना और संदिग्धता का परिगणन करते हैं । लगभग यही स्थिति प्लैट्स, केलाग और फिल्लट आदि की भी है । दीमश्त्सि ने सन्देहार्थ नहीं माना है । उनके संकेतार्थ में अवास्तविक घटना और असाध्यकार्य तथा संभावनार्थ में शक्यता, आशंका, द्विविधा और अवास्तविकता शब्द आये हैं । तीसरे वर्ग में कामताप्रसाद गुरु, रामलोचनशरण, दुनीचन्द, भोलानाथ तिवारी और हरदेव बाहरी ने सन्देहार्थ में सन्देह और अनिश्चय तथा संकेतार्थ में संकेत, शर्त, कार्यकरण सम्बन्ध और घटनाओं की असिद्धि का वर्गीकरण-किया है । इनमें बाहरी केवल संभावना का और अन्य लोग अनुमान,इच्छा, कर्त्तव्य और आशीर्वाद का भी उल्लेख करते हैं । इन विभिन्न शब्दों में अर्थ की दृष्टि से तात्विक अन्तर नहीं है । इन्हें निम्नलिखित चार रूपों में संयोजित कर सकते हैं-

(क) संभावना, अनुमान, आशंका, शक्यता,

(ख) अनिश्चय, सन्देह, संदिग्धता, संशय, द्विविधा

(ग) शर्त, कार्यकारणसम्बन्ध, संकेत, घटनाओं की असिद्धि, असाध्य कार्य, अवास्तविक घटना

(घ) कर्त्तव्य, इच्छा, कामना, याचना, आशीर्वाद

२८५. इनमें इच्छा, कामना, याचना और आशीर्वाद को संभावना की अपेक्षा आज्ञार्थ के अन्तर्गत मानना अधिक उपयुक्त है, और इनका विवेचन आज्ञार्थ में किया जा चुका है। आज्ञार्थ में इच्छा स्वयं निहित है।

परिभाषा - इन समस्त रूपों को मोटे तौर पर संभावना, अनिश्चय, शर्त और कर्त्तव्य के अन्तर्गत मान सकते हैं। इस रूप में संभावनार्थ की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है - क्रिया के जिस रूप से संभावना, अनिश्चय, शर्त या कर्त्तव्य प्रकट हो, वह संभावनार्थ है। जैसे --

(क) संभावना - संभव है कि वह गया हो।

(ख) अनिश्चय - वह यहीं कहीं होगा।

(ग) शर्त - यदि दूध होता तो दही बनता।

(घ) कर्त्तव्य - छात्रों को कठिन परिश्रम करना चाहिए।

२८६. संभावनार्थ के इन रूपों में यदि, अगर, जो, तो आदि अव्यय आते हैं। इनके अतिरिक्त संभव है, कदाचित, शायद, आदि पद भी प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार 'सकना' क्रिया संभावना या शक्यता की बोधक है और काल रचना में 'होना' क्रिया के रूपों का प्रयोग भी विशेष रूप से सहायक है। इस प्रकार संभावनार्थ में शुद्ध क्रिया-प्रयोग नहीं मिलता। यदि मिलता भी है तो उक्त शब्दों में से कोई न कोई अप्रयुक्त या अप्रकट रूप में विद्यमान रहता है। जैसे - (यदि) वह चलता तो पहुंच जाता।

२८७. संभावनार्थ के रूप लिंग, वचन और पुरुष के अतिरिक्त काल के अनुसार भी बदलते हैं।

२८८. निषेधात्मक शब्दों के प्रयोग से कभी कभी संभावनार्थ की वाक्यरचना निश्चयार्थ में बदल जाती है।

२८९. यदि - "यदि" और "अगर" अव्यय शर्त या कार्यकारण-सम्बन्ध प्रकट करते हैं। इनका प्रयोग हिन्दी के समस्त तथाकथित १६ कालों के साथ संभव है। इस रूप में सब कुछ संभावनार्थ में आ जाता है। इस स्थिति में संभावनार्थ में विभिन्न काल-रूपों की गणना विचारणीय प्रश्न बन जाता है। संभावनार्थ के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा जिन काल रूपों की गणना की गई है उन्हें क्रिया-प्रयोगों के रूप में विविध नामों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है।

१. वह चलता हो - (क) वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ - धीरेन्द्रवर्मा, बा०राम सक्सैना
(ख) संभाव्य वर्तमान - गुरु, बाहरी, भो०नाथ, ग्रीव्ज़
(ग) घटमान संभाव्य वर्तमान - उदयनारायण तिवारी
(घ) वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ - भो०नाथ तिवारी
(ङ०) हेतुहेतुमद्वर्तमान् - सद्गुरुशरण अवस्थी
(च) PRESENT POTENTIAL - प्लैट्स
(छ) POSSIBLE PRESENT - ग्रीव्ज़
(ज) CONTINGENT IMPERFECT - ग्रीव्ज़, कैलाग

२. वह चला हो (क) वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ - वर्मा, सक्सैना, भो०नाथ,
(ख) संभाव्य भूत - गुरु, बाहरी, भो०नाथ, ग्रीव्ज़
(ग) पुराघटित संभाव्यवर्तमान - उदयनारायण तिवारी
(घ) भूतपूर्णसंभावनार्थ - भो०नाथ
(ङ०) POSSIBLE PAST - ग्रीव्ज़
(च) CONTINGENT IMPERFECT - ,,
(छ) CONTINGENT PERFECT - कैलाग

३. वह चले	(क) वर्तमान संभावनार्थ	वर्मा-सक्सेना, भो०नाथ
	(ख) संभाव्यभविष्यत्	गुरु, बाहरी, भो०नाथ, वासुदेव, रा०शरण
	(ग) हेतुहेतुमद्भविष्य	सद्०अवस्थी
	(घ) इच्छार्थक } वर्तमान	उदयनारायण तिवारी
	(ङ०) आज्ञार्थक	
	(च) AORIST	प्लैट्स
	(छ) CONTINGENT FUTURE	कैलाग
४. वह चलता होगा	(क) भविष्य पूर्ण निश्चयार्थ -	वर्मा-सक्सेना, भो०नाथ
	(ख) संदिग्धवर्तमान	गुरु-बाहरी, भो०नाथ, वासुदेव, ग्रीव्ज़, रा०शरण
	(ग) घटमान भविष्यत्	उ०ना०तिवारी
	(घ) संभाव्य वर्तमान	अवस्थी
	(ङ०) आनुमानिक { वर्तमान / भूत	भो०नाथ
	(च) FUTURE IMPERFECT	प्लैट्स
	(छ) PRESUMPTIVE PERFECT	ग्रीव्ज़, कैलाग
	(ज) ,, IMPERFECT	ग्रीव्ज़
५. वह चला होगा	(क) भविष्य पूर्ण निश्चयार्थ	वर्मा, सक्सेना
	(ख) सन्दिग्ध भूत	गुरु, बाहरी, भो०नाथ, वासु[illegible] ग्रीव्ज़, रा०शरण
	(ग) पुराघटित भविष्यत्-	उ०ना०तिवारी
	(घ) संभाव्यभूत	अवस्थी
	(ङ०) भूत संभावनार्थ	-भो०नाथ

	(च) FUTURE PERFECT	प्लैट्स
	(छ) PAST POTENTIAL	,,
	(ज) PRESUMPTIVE PERFECT	ग्रीव्ज़, कैलाग
	(झ) ,, IMPERFECT	,, ,,
	(यं) DOUBTFUL PAST	,, ,,
६. वह चलता	(क) भूत संभावनार्थ	वर्मा, सक्सैना, भो०ना०
	(ख) सामान्य संकेतार्थ	गुरु, बाहरी
	(ग) कारणात्मक अतीत	उ०ना० तिवारी
	(घ) हेतुहेतुमद्‌भूत	अवस्थी, भो०ना०, वासुदेव, रा०शरण
	(ङ०) PAST CONDITIONAL	प्लैट्स
	(च) OPTATIVE	,,
	(छ) INDEFINITE IMPERFECT	कैलाग
७. वह चलता होता	(क) भूत अपूर्णसंभावनार्थ	वर्मा, सक्सैना, भो०नाथ
	(ख) अपूर्ण संकेतार्थ	गुरु, भो०नाथ,
	(ग) घटमान संभाव्य अतीत	उ०ना० तिवारी
	(घ) नैमी संकेतार्थ	बाहरी
	(ङ०) PAST PERF. CONTINUOUS	प्लैट्स
	(च) PAST CONTINGENT IMPERF.	ग्रीव्ज़, कैलाग
	(छ) अपूर्ण हेतुहेतुमद्‌भूत (INCOMPLETE CAUSE & EFFECT)	ग्रीव्ज़
८. वह चला होता	(क) भूतपूर्ण संभावनार्थ	वर्मा, सक्सैना, भो०नाथ
	(ख) पूर्ण संकेतार्थ	गुरु, बाहरी, भो०नाथ
	(ग) पुराघटित संभाव्य अतीत -	उ०ना० तिवारी
	(घ) PAST PERFECT.	प्लैट्स
	(ङ०) PAST CONTINGENT PERFECT.	ग्रीव्ज़, कैलाग

(च) पूर्ण हेतुहेतुमद्भूत

(छ) INCOMPLETE CAUSE & EFFECT. } ग्रीव्ज़

२६०. उक्त समस्त रूपों में संभावना और अनिश्चय के आधार पर संभावनार्थ और संदेहार्थ को भिन्न कहा गया है। लेकिन संभावना में अनिश्चय निहित रहता है। जैसे -'वे आई होंगी' डा० बाहरी के अनुसार सन्देहार्थ है। किन्तु उन्हीं के अनुसार 'निषेध में 'न', 'नहीं' दोनों लग सकते हैं, किन्तु तब यह निश्चयार्थ हो जाते हैं।'[1] अब इसमें 'न' लगाकर देखिये -'वे न आई होंगी'। क्या यह संदेहार्थ नहीं है? तब संदेह और अनिश्चय को संभावनार्थ से पृथक् कहना उचित नहीं है। यहाँ यह कहना अधिक उपयुक्त है कि काकु के कारण वक्ता का कथन निश्चयार्थ या अनिश्चयार्थ में होना संभव है। लेकिन इस आधार पर वर्गीकरण उपयोगी नहीं प्रतीत होता।

२६१. संकेतार्थ नाम न मानने का भी कारण है। कामता प्रसाद गुरु ने हेतुहेतुमद्भूतकाल के लिये संकेतार्थ शब्द का प्रयोग किया है (व्या०, पृ० २६७) लेकिन संकेतार्थ नाम देने का कोई कारण नहीं दिया है और जिस आधार पर पादरी आदम साहब और अन्य विद्वानों का खण्डन किया है (पृ० २६४) ठीक उसी आधार पर अपनी अर्थमिश्रित कालरचना भी प्रस्तुत की है। उनकी संकेतार्थ की परिभाषा हेतुहेतुमद् (कार्यकारणसम्बन्ध) से भिन्न नहीं है। दूसरे, संकेतार्थ के रूपों से जब वर्तमान, भूत, भविष्यत् में से किसी भी काल से सम्बन्ध हो सकता है (गुरु, भोलानाथ तिवारी, दीमशित्स) तो फिर 'संकेत' किसका है? इस सम्बन्ध में दीमशित्स का कथन है कि "व्यापार के सम्पादन का काल पता चलता है प्रसंग से या समयविशेषताबोधक से'। यहां तीन बातें स्पष्ट हैं - (क) संकेतार्थ से निश्चित काल रूप का भावन नहीं होता (ख) यह निश्चित वाक्य रचना नहीं है और (ग) यह प्रसंग-निर्भर वाक्य रचना है। अतः यह कहना उप-

---

१. व्यावहारिक हिन्दी व्याकरण, पृ० १२२

युक्त है कि क्रिया की यह अवस्था केवल संभावनार्थ में ही संभव है । तीसरे, 'संकेत' स्वयं में शर्त है, या कार्यकारण सम्बन्ध है, या असिद्ध घटना है या कोश्र कार के अनुसार किसी निश्चित वस्तु, स्थान, अवस्था आदि की ओर इंगित है ? 'संकेत' पूर्वनिर्धारित भी होता है, जैसे - संकेतस्थल । मूलत: 'संकेत' अपनी अर्थवत्ता में निश्चय की सूचना है । अत: इसे स्वतंत्र क्रियार्थ भेद मानना उपयुक्त नहीं है । इसे संभावनार्थ के अन्तर्गत ही मानना ठीक है ।

२६२. ऊपर की तालिका में परिगणित समस्त रूप संभावनार्थ के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते । इनमें यदि, अगर के प्रयोग के आधार पर (दे० अनु २८६) काल-विभाजन न करके इन्हें वाक्यों में संभावनापरक अव्यय कहना उपयोगी होगा, क्योंकि इनका प्रयोग शर्त प्रकट करता है, काल नहीं ।

२६३. इनमें वाक्य संख्या ३ का विवेचन आज्ञार्थ में किया जा चुका है । (दे० अनु० २८५) ।

२६४. वाक्य संख्या ६ को प्लैट्स आदि ने इच्छार्थक (OPTATIVE) भी कहा है । अपनी प्रयोग-व्यवस्था में यह इच्छार्थक भी है । अत: संभावना के इसी अर्थ में 'इच्छा' भी जोड़ी जा सकती है ।

२६५. प्रयोग-प्रक्रिया की दृष्टि से संभावनार्थ के यह समस्त रूप संयुक्त वाक्य-रचना के विषय हैं और यह संयुक्त क्रियाओं से सम्पन्न होते हैं । यह प्राय: संयोजक अव्ययों के योग से निर्मित होने के कारण ही SUBJUNCTIVE (केलाग्, प्लैट्स, एर्थारिंगटन आदि) अर्थात् संयोजक (उदयनारायण तिवारी) अर्थ में उल्लिखित हैं (दे० अर्थ के भेद) । ऐसे क्रिया रूपों में विशेष रूप से वाक्य संख्या १, २, ३, ६, ७, ८ आते हैं । शेष दो रूप ४ और ५ में सामान्यत: किसी अव्यय-संयोग की आवश्यकता नहीं है । जैसे - (४) वह आम खाता होगा, वह चलता होगा आदि । किन्तु इन रूपों में भी वाक्यार्थ की भिन्नता लक्षित की गई है । वर्मा, सक्सेना, भोलानाथ तिवारी तथा प्लैट्स इसे भविष्य अपूर्ण

निश्चयार्थ कहते हैं, जब कि गुरु, बाहरी, भोलानाथ तिवारी, रामलोचन शरण, वासुदेवनन्दन प्रसाद और ग्रीव्ज़ संदिग्ध वर्तमान कहते हैं। सद्गुरुशरण अवस्थी के अनुसार यह संभाव्य वर्तमान है। भोलानाथ तिवारी अन्यत्र इसे आनुमानिक वर्तमान और आनुमानिक भूत भी मानते हैं। ऊपर दी गई तालिका में यह भेद द्रष्टव्य है। अब प्रश्न यह है कि इन्हें अपूर्ण भविष्यत् मानें या संभाव्य वर्तमान और संभाव्य भूत कहें ? क्योंकि वाक्य-रचना एक है और कालरचना तीन हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक अव्यवस्था ग्रीव्ज़ और भोलानाथ तिवारी में मिलती है। जैसे -'वह चलता होगा' - भोलानाथ के अनुसार भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों है (व्या०, पृ० ११४)। यह कथन पूर्णतया भ्रान्त और अनर्गल है। यह वाक्य एक साथ भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं हो सकता, असंभव है। इसी प्रकार इस वाक्य को पूर्णताबोधक भी मानना असंगत है, क्योंकि हिन्दी की -ता- प्रत्यययुक्त समस्त क्रियायें अपूर्ण होती हैं।

२६६. ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा झगड़ा - ता - प्रत्यय को हिन्दी में वर्तमानकालिक कृदन्त-प्रत्यय मानने से हुआ है। यह -ता- प्रत्यय इतिहास की दृष्टि से वर्तमानकालिक कृदन्त हो सकता है, लेकिन प्रयोग और कालरचना के विचार से वर्तमानकालिककृदन्त प्रत्यय नहीं है। इस वक्तव्य के दो कारण हैं। (१) इससे किसी काल का बोध नहीं होता और (२) -ता- प्रत्यय युक्त अकेली क्रिया से वाक्य पूर्ण नहीं होता। इस सम्बन्ध में तथाकथित सोलह काल द्रष्टव्य हैं। यह -ता - प्रत्यय वस्तुत: (क) अपूर्णताबोधक प्रत्यय है (ख) इसे वाक्य की पूर्ति के लिये अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है और (ग) अपूर्णताबोधक रूप में यह तीनों कालों में प्रयुक्त होता है। जैसे --

(१) वह चलता है, (२) वह चलता था , (३) वह चलता होगा

इस प्रकार वर्तमान और भूत की भाँति भविष्यत् के इस रूप को भी निश्चयार्थ ही मानना उचित है। दूसरे, जिस प्रकार विविध वाक्य प्रसंग भेद से अनेक अर्थों का अभिधान करते हैं, उसी रूप में इस अपूर्ण भविष्यत् से भी अन्य अर्थों का बोध

होता है । अत: इसे संभावनार्थ के अन्तर्गत परिगणित करना उपादेय नहीं है ।

२६७. वाक्य संख्या ५ भी ४ की ही भाँति निश्चयार्थ है । (दे० निश्चयार्थ)।

२६८. इस विवेचन के अनन्तर संभावनार्थ के निम्नलिखित रूप शेष रहते हैं ।

१. वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ - (यदि) वह चलता हो
२. ,, पूर्ण ,, - ,, वह चला हो
३. भूत अपूर्ण ,, - ,, वह चलता होता
४. ,, पूर्ण ,, - ,, वह चला होता

विशेष परिस्थिति में 'वह चलता' प्रकार की रचना इच्छार्थक और संभावनार्थ हो सकती है । संभावनार्थ में संयोजक अव्यय आवश्यक है और उक्त ० १६ काल (दे० अनु० २८६) संभावनार्थ हो सकते हैं ।

अध्याय — ६

काल-रचना

अध्याय - ६

काल-रचना

२९९. 'काल' क्रिया का वह रूप है जिससे क्रिया के व्यापार की अवस्था और समय का बोध होता है ।

३००. व्यापार की अवस्था का आशय क्रिया का वह स्वरूप है जिससे उसकी पूर्णता, अपूर्णता या निरन्तरता का ज्ञान होता है ।

३०१. हिन्दी में काल तीन हैं - वर्तमान, भूत, भविष्यत् । अवस्था-भेद से इनके अनेक रूप बन जाते हैं ।

३०२. हिन्दी की काल-रचना में तीन प्रमुख निर्णायिक तत्व हैं - सहायक क्रिया, कृदन्त और संयुक्त क्रिया । इनके प्रयोग-भेद के आधार पर काल रचना के दो मुख्य विभाग किये जाते हैं - (क) सरल काल और (ख) संयुक्त काल ।

३०३. कभी-कभी क्रिया-संगठन की विशेषता के कारण एक काल की क्रिया का उपयोग किसी अन्य काल के अर्थ में किया जाता है । इस दृष्टि से अर्थगत विशेषता के अनुसार 'काल' का अध्ययन 'कालों के विविध अर्थ' शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है । यह वस्तुत: वाक्य रचना के अन्तर्गत क्रिया का अध्ययन है ।

३०४. काल-रचना के उक्त रूपों पर विचार करने के पूर्व तत्सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन आवश्यक है । काल की परिभाषा में तीन बातें कही गई हैं । 'केवल समय का बोध' (रामावतार शर्मा, रामलोचनशरण, रामदहिन मिश्र, डा० हरदेव-बाहरी आदि), ' विधान के समय का पता चलना' (आर्येन्द्र शर्मा, भोलानाथ

तिवारी, कैलाशचन्द्र अग्रवाल) तथा 'व्यापार का समय, रीति और अवस्था' (नैस्फ़ील्ड, रैन, गुरु, नागप्पा) का उल्लेख विविध रूपों में प्राप्त होता है। काल के समस्त लक्षणों में गुरु का कोष्ठकान्तर्गत विवेचन सही है, अन्यथा जहाँ वे अर्थ को भी काल रचना में घसीटते हैं, वहाँ समस्या का निदान नहीं होता। इसी प्रकार प्लैट्स ने संभावनार्थ के चारों रूपों को 'अतिरिक्त काल' नाम देकर भ्रम ही उत्पन्न किया है। बहुत कुछ यही स्थिति कैलाग के विवेचन में भी है। इनका परिणाम यह हुआ कि काल-रचना के सिद्धान्तों में भारतीय और पाश्चात्य प्रभाव के कारण छः से लेकर सोलह कालों की व्यवस्था दिखाई देने लगी। दीमशित्स ने तो प्राय: पच्चीस कालों का उल्लेख किया, जिनमें केवल 'निश्चयार्थक प्रकार' में पन्द्रह काल परिगणित हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा काल-रचना के विवेचन का संक्षिप्त परिचय नीचे की तालिका से हो जायेगा। इस तालिका में चौथा उपशीर्षक 'अन्य' नाम से है जिसके अन्तर्गत अर्थ या वाच्य आ जाते हैं। दीमशित्स का काल-विभाजन केवल अर्थ पर आधारित होने से छोड़ दिया गया है।

३०५. तालिका- १

वैयाकरण	वर्तमान	भूत	भविष्यत्	अन्य	योग
ग्रीव्ज़	३	८	१	--	१२
प्लैट्स	३	३	३		९
कैलाग	४	६	२	३	१५
रामावतार शर्मा, रामदहिन मिश्र	३	५	२	३	१३
गुरु, धीरेन्द्र वर्मा, नागप्पा	४	६	२	४	१६
रामलोचनशरण	२	६	२	२	१२
सद्गुरुशरण अवस्थी	४	७	२	२	१५
उदयनारायण तिवारी	५	६	४	१	१६

वैयाकरण	वर्तमान	भूत	भविष्यत्	अन्य	योग
आर्येन्द्र शर्मा / कैलाशचन्द्र अग्रवाल	२	३	१	--	६
हरदेव बाहरी	३	५	२	३	१३
वासुदेवनन्दनप्रसाद	४	५	३	--	१२

३०६. इस भेद के अनेक कारण हैं जिनमें भारतीय और पाश्चात्य-पद्धति का संकेत किया जा चुका है। दूसरा प्रमुख कारण प्रान्तीय शिक्षा-पद्धति और स्थानीय प्रभाव है। पूर्वी भारत के हिन्दी-वैयाकरण और कामताप्रसाद गुरु के वर्ग क्रमश:१२ और १६ कालों की धारणा लेकर चले हैं। आर्येन्द्र शर्मा और दुनीचन्द संस्कृत की अनुकूलता तो चाहते हैं लेकिन उसमें अनेक रूप या तो छूट जाते हैं अथवा प्लैट्स की भाँति अलग से काल-रचना का सिद्धान्त खोजना पड़ता है। इसी प्रकार आज्ञार्थ आदि को काल-रचना से पृथक् करने की प्रवृत्ति के कारण भी घट बढ़ होती रही है और हिन्दी-काल-रचना स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पायी। इस भेद के दो और कारण भी हैं। एक तो भाषा का स्वाभाविक विकास और दूसरे अंग्रेजी वाक्य-रचना अथवा व्याकरण रूपों का अतिशय प्रभाव। यहाँ उर्दू-वाक्य-रचना भी हिन्दी की रूप-रचना में सहायक हुई है। अनेक विरोधों के बावजूद हिन्दी उर्दू से बहुत प्रभावित हुई है --बोलचाल में भी और लेखन में भी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भाषा का जो स्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण भट्ट, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, पं० रामजसन, माधवप्रसाद शुक्ल, रामचरण सिंह, दामोदर शास्त्री, केशवराम भट्ट, एथरिंगटन और ग्रीव्ज़ आदि के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, ठीक वही रूप गुरु, वर्मा, तिवारी, बाहरी आदि में नहीं मिलता, यद्यपि इनमें अनेक उदाहरण पुरानी पुस्तकों से दिये गये हैं। इसी प्रकार हिन्दी की प्रकृति की अपेक्षा अंग्रेज़ी-व्याकरण के अनुकूल हिन्दी-व्याकरण की रचना और हिन्दी-व्याकरण-शिक्षा की उपेक्षा भी इस भेद में सहायक कहे जा सकते हैं। इस भेद और भ्रम को काल, अर्थ-प्रकार

के नामकरण में भी लक्षित किया जा सकता है, जहां कुछ तो भारतीय हैं और कुछ अनुवाद और कुछ मौलिकता-प्रदर्शन मात्र ही है । इस दृष्टि से प्रस्तुत तालिका उपादेय सिद्ध होगी । तालिका - २ - पृष्ठ २२५ पर देखिये ।

संज्ञा रूप में क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग भाववाचक संज्ञा की भाँति किया जाता है। अतएव इसका बहुवचन रूप नहीं होता। इसी प्रकार इसका प्रयोग सम्बोधन कारक में नहीं होता। शेष कारकों में यह आकारान्त पुल्लिंग संज्ञा शब्द की भाँति रूपान्तर ग्रहण करती है।

कभी कभी क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा की भाँति किया जाता है, जैसे - गाना (गीत के अर्थ में), खाना (-भोजन), चलना या चलनी फरना (- सोता) आदि।

३७२. क्रियार्थक संज्ञा की यह प्रमुख विशेषता है कि इसका प्रयोग एक प्रकार से सामासिक पद की भाँति होता है। अतः इसके साथ आने वाले विभक्ति पदों का प्रायः लोप हो जाता है। यह आगे स्पष्ट होगा।

३७३. क्रियार्थक का संज्ञा उद्देश्य जब सम्बन्ध कारक में आता है, तो विभक्ति का विकल्प से लोप होता है, जैसे - इस वक्त उसका आना अच्छा नहीं हुआ। रात को पानी (का) बरसना शुरू हुआ।

३७४. कभी-कभी किसी उद्देश्य को प्रकट करने में भी विभक्ति का लोप हो जाता है, जैसे - वह खाने (के लिये) जाता है।

३७५. यह किसी क्रिया के कर्ता या कर्म की भाँति आती है। जब यह किसी सकर्मक क्रिया से व्युत्पन्न हो तब इसका कर्म पूर्ति के रूप में आता है। जैसे - जैसे-झूठ बोलना बुरा है, खाने में शर्म क्या है।

३७६. क्रियार्थक संज्ञा जब विशेषण के समान प्रयुक्त होती है तो उसके लिंग-वचन कर्ता या कर्म के अनुसार होते हैं, जैसे - मुझे दवा पीनी पड़ेगी, तुम्हें सबके नाम लिखने होंगे।

३७७. जब क्रियार्थक संज्ञा की कर्मपूर्ति व्यक्त करनी हो तो उसे सम्बन्धकारक या कर्म कारक में रखते हैं। जैसे-ऐसी बात को मुंह से निकालने में उनको कुछ झिझक न हुई, इस काम को जल्दी करने में लाभ है।

३०८. उक्त तालिका में मतभेद स्पष्ट हैं । सत्यता यह है कि हिन्दी की वाक्य रचना प्राय: अनेक अर्थों का अभिधान करती है । परिणामस्वरूप (क) कहीं तो हम 'काल' में 'संभावना' की खोज करते हैं और कहीं संभावना में काल देखना चाहते हैं । (ख) ऐसे ही कहीं काल में सन्देहार्थ और संदिग्धता में भी काल-रूप दिखाई पड़ता है । (ग) आज्ञार्थ और विधि या इच्छार्थ में भी विशिष्ट काल का परिगणन करते हैं और (घ) पूर्णवर्तमान में आसन्न भूत भी । इनमें यदि एकैकाल रूप मानकर अन्य रूपों को अर्थ मानें तो अधिक संगत होगा ।

३०९. इनसे भिन्न तात्कालिक रूपों की चर्चा भर मिलती है, रूपान्तर नहीं, जब कि प्रयोग में तात्कालिक रूपों का खूब प्रचार है । इसे अंग्रेजी का प्रभाव कहना अधिक उचित होगा । इसी प्रकार जिन घटमान रूपों या तात्कालिक रूपों का उल्लेख प्लैट्स और उदयनारायण तिवारी ने किया है, वे ऐतिहासिक दृष्टि से घटमान कहे जा सकते हैं । प्रयोग की दृष्टि से वे सामान्य काल हैं । हिन्दी में पूर्ण तात्कालिक रूपों की चर्चा नहीं की जाती और इन्हें अंग्रेजी पद्धति की औपचारिकता कह कर पृथक् ही किया गया । लेकिन इनकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता । इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि हिन्दी में कुछ वैकल्पिक प्रयोग भी प्रचलित हैं । ऐसे ही कुछ वैकल्पिक रूप यहाँ दिये जाते हैं -

१. मैं चलता होऊँगा, मैं चल रहा होऊंगा ।

२. मैं चलता था, मैं चल रहा था ।

३. तू चलना , तू चलियो ।

४. आप चलिये , आप चलियेगा ।

५. मैं चलता रहा होऊँगा, मैं चल रहा होऊँगा, मैं चलता रहूँगा

३१०. इस प्रकार के कुछ उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों से गुरु महोदय ने भी उद्धृत किये हैं, जैसे - गाड़ी में माल लादा जा रहा है (पृ० ५०२), हम बातें करते रहे थे , वह मुझे बुलाता रहा है (पृ० ४८४) । यहाँ यह कहना बेमानी है कि यह रूप संयुक्त काल या संयुक्त क्रिया के हैं, क्योंकि हिन्दी में धातु से बने

कालों में शुद्ध रूप केवल विधि या आज्ञार्थ है । प्रयोग भेद से यही संभाव्य भविष्यत् भी कहा गया है । इसी प्रकार 'गा' कृदन्तप्रत्यय धातु से सम्बद्ध होने पर ही सामान्य भविष्यत् बनता है । यह 'गा' प्रत्यय मूलत: संस्कृत भूतकालिक कृदन्त से विकसित माना गया है, किन्तु हिन्दी में यह भविष्यत् बोधक बन गया है । भूत काल में यह केवल 'गया' रूप में ही उपलब्ध है ।

३११. गुरु महोदय 'वह लिखता रहेगा' और 'लिखता रहा' जैसे वाक्यों को संयुक्त क्रिया में रखना चाहते हैं । प्रश्न यह है कि यदि इन्हें कृदन्तीय काल मानकर संयुक्त क्रिया या संयुक्त काल में परिगणित करें तो सरल काल में शेष क्या बचेगा ? शायद कुछ भी नहीं, क्योंकि (१) व्युत्पत्ति की दृष्टि से गया, हुआ, रहा, चला आदि सामान्य भूतकाल के क्रिया-रूपों का विकास संस्कृत - भूतकालिक कृदन्त से माना जाता है । (२) अन्य सभी काल एक से अधिक क्रियाओं के संयोग हैं जिनमें कृदन्तीय रूप के अभाव में काल-रचना असंभव है । (३) काल-रचना में सहायक बहुप्रचलित होना और रहना क्रियाएं अस्तित्व स्थिति और तात्कालिकता का बोध कराती हैं । इस अवस्था में हिन्दी-क्रिया-रचना संस्कृत और अंग्रेजी दोनों से पृथक् है । गुरु महोदय द्वारा उद्धृत पुराने ग्रन्थों के उदाहरणों से भी यही सिद्ध होता है कि यह प्रयोग नवीन नहीं हैं और इन्हें काल-रचना में स्थान मिलना ही चाहिये । इस दृष्टि से व्यापार की सामान्य, अपूर्ण और पूर्ण अवस्था और उनके तात्कालिक रूपों के अनुसार काल-रचना नीचे दी जाती है । कोष्ठकों में वैकल्पिक रूप दिये गये हैं ।

३१२. तालिका - ३

काल	सामान्य	अपूर्ण तात्कालिक	पूर्ण	पूर्ण तात्कालिक
वर्तमान	वह चलता है	वहचल रहा है	वह चला है	वह चलता रहा है
भूत	वह चला	वह चल रहा था (वह चलता था)	वह चला था	वह चलता रहा था
भविष्यत्	वह चलेगा	वह चल रहाहोगा (वह चलता होगा)	वह चला होगा	वह चलता रहेगा

३१३. हिन्दी में काल-रचना क्रियापरक रूपों का ऐसा संयोजन है, जो कथन के क्षण समय, व्यापार और अवस्था का प्रत्यक्ष और वास्तविक निर्देश करता है। काल के मुख्य तीन भेद हैं – वर्तमान, भूत और भविष्यत् – जो सामान्य अपूर्ण, पूर्ण और तात्कालिक उपभेदों में व्यक्त किये जाते हैं। इनकी विशेषताएं इस प्रकार हैं :–

(क) सामान्य- क्रिया की जिस अवस्था से केवल साधारण काल का बोध हो और पूर्णता-अपूर्णता का रूप न प्रकट हो उसे काल की सामान्य अवस्था कहते हैं। जैसे - वह स्कूल जाता है, मैंने आम खाया, सीता सोयेगी।

(ख) अपूर्ण - अपूर्ण वह अवस्था है जिससे कथन के क्षण काम का होना सिद्ध हो। जैसे - वह खाना खा रहा है।

(ग) पूर्ण - पूर्ण अवस्था वह है जिससे व्यापार के समाप्त होने की सूचना मिलती है। जैसे - सीता ने आम खाया है। वह घर आया है।

३१४. वर्तमान काल - ऐसे व्यापार या अवस्था को सूचित करता है जो कथन के समय आरंभ हुआ हो अथवा शाश्वत सत्य हो। जैसे – लड़का खेलता है, सूरज पूरब में निकलता है।

३१५. भूतकाल - ऐसे व्यापार या अवस्था को सूचित करता है जो कथन के समय से पहले हो चुका था या हो रहा था। जैसे -रामायण वाल्मीकि ने लिखी थी, यह पुल १६२५ में बन रहा था।

३१६. भविष्यत् काल - ऐसे व्यापार या अवस्था को सूचित करता है जो कथन के समय के बाद होगा। जैसे- मैं बनारस जाऊंगा, कल इस समय गाड़ी जा रही होगी।

३१७. हिन्दी-कालों के समस्त रूपों की रचना में अकेली धातु विविध प्रत्ययों के संयोग से भी समर्थ नहीं होती। इसलिये काल-रचना में सहायक क्रिया और अन्य प्रत्ययों का योग अनिवार्य हो जाता है। इस आधार पर विद्वानों ने काल-रचना को निम्नलिखित तीन शीर्षकों में परिगणित किया है –

(क) सरल या धातु से निर्मित काल - संभाव्य और सामान्य भविष्यत्, प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि ।

(ख) वर्तमानकालिक कृदन्त से निर्मित- सामान्य संकेतार्थ, सामान्य वर्तमान, अपूर्णभूत, संभाव्य वर्तमान, संदिग्ध वर्तमान, अपूर्ण संकेतार्थ ।

(ग) भूतकालिक कृदन्त से निर्मित- सामान्य, आसन्न , पूर्ण, संभाव्य और संदिग्ध भूत तथा पूर्ण संकेतार्थ ।

३१८. वस्तुत: हिन्दी-काल-रचना में तीन तत्व प्रमुख हैं -

(क) तिङ्० या मूल प्रत्यय

(ख) कृदन्त प्रत्यय (अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय तथा काल बोधक प्रत्यय) - ता, आ, था, गा, ना

(ग) सहायक क्रिया - है, और हो तथा रह् धातुओं के संयोग ।

३१९. (क) तिङ्० या मूल प्रत्ययों का विस्तार निम्नलिखित है -

(१) वर्तमान निश्चयार्थ

	ए०व०	ब०व०
उ०पु०	ऊँ	एँ
म०पु०	ए	ओ
अ०पु०	ए	एँ

(२) आज्ञार्थ

उ०पु०	(ऊँ)	(एँ)
म०पु०	अ	ओ
अ०पु०	(ए)	(एँ)

३२०. (ख) अपूर्णता-पूर्णताबोधक तथा भविष्यत् बोधक प्रत्ययों का विस्तार:-

इन प्रत्ययों को कृदन्त-प्रत्यय माना जाता है। इसके दो कारण हैं। एक तो इन प्रत्ययों का विकास संस्कृत कृदन्त रूपों और प्रत्ययों से हुआ है और दूसरे हिन्दी में यह लिंगभेद से प्रभावित होते हैं। किन्तु - गा - प्रत्यय को कृदन्त मानकर भी धातु के मूल प्रत्यय कहकर इसकी गणना 'धातु से निर्मित कालों' में करना उचित नहीं है। सत्य यह है इसे - तिङ्० या मूल-प्रत्यय - नहीं माना जा सकता क्योंकि उक्त सिद्धान्त इस पर भी लागू होते हैं और सामान्य भविष्यत् में धातु और -गा- के बीच वर्तमान निश्चयार्थ के तिङ्० प्रत्यय जुड़ते हैं। इस प्रकार -गा - मूल प्रत्यय न होकर कृदन्त प्रत्यय ही सिद्ध होता है। -था- स्वतंत्र क्रिया रूप होकर भी अपनी प्रकृति में कृदन्तीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी की क्रिया-संरचना अपनी विशेषताओं में संज्ञा, विशेषण और अव्यय की विशेषताओं से संवलित है। फलस्वरूप उसका धात्वर्थ सर्वत्र प्रधान है और काल-रचना विभिन्न तत्वों का समवाय है। नीचे संज्ञा, विशेषण, और अव्यय के संदर्भ में क्रिया-प्रत्ययों की तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत है। द्रष्टव्य है कि 'खड़ा' क्रिया रूप में (जिसे कोषकार विशेषण कहते हैं) स्थिति सूचक है - जैसे - बैठा है, खड़ा है आदि। इसी अर्थ में हिन्दी के क्रिया-प्रत्यय के रूप में -ता, आ, था, गा, ना- आकारान्त संज्ञा, विशेषण और अव्यय की प्रकृति के अनुरूप विकारी होते हैं। जैसे -

३२१. तालिका ४

संज्ञा, विशे० अव्य०, क्रिया के मूल प्रत्यय :	संज्ञा	विशेषण	अव्यय	क्रिया
१. आ	का, रा, ना	आ	सा, रा, वाँ	ता, था, गा
२. ए	के, रे, ने	ए	से, रे, वें	ते, थे, गे, ने
३. ई	की, री, नी,	ई	सी, री, वीं	ती, थी, गी,

३२२. स्पष्ट है कि मूल-प्रत्यय-श्रा-ए-ई- सर्वत्र उपलब्ध है । किन्तु क्रिया-रूपों में एक विशेषता है । क्रिया-प्रत्यय-ई-थी-ती के बहुवचन के रूप अनुनासिक-ईं - थीं - तीं हो जाते हैं । -तीं- का प्रयोग इनमें भी विशिष्ट है, जो आगे स्पष्ट होगा ।

३२३. इन कृदन्त प्रत्ययों की दो कोटियां हैं -

(क) अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय, तथा

(ख) काल-बोधक प्रत्यय ।

(क) अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय- -ता- आ- हैं । - ता - प्रत्यय से युक्त किसी भी क्रिया से न तो किसी काल का बोध होता है और न तो ऐसी अकेली क्रिया से वाक्य ही पूर्ण होता है । यह तीनों कालों में प्रयुक्त होता है (दे० अर्थ २६६) । इसी प्रकार -आ- प्रत्यय व्यापार की पूर्णता का बोधक है । अपवादस्वरूप सामान्यभूतकाल में अकेली धातु के साथ अकेले आता है, अन्यथा इन दोनों प्रत्ययों को काल-निरपेक्ष कह सकते थे । फिर भी -ता- प्रत्यय काल - निरपेक्ष है । इनका प्रयोग निम्नलिखित रूपों में होता है ।

३२४. (अ)-ता- प्रत्यय से निर्मित अपूर्णकाल एवं अर्थ -

(१) सामान्य वर्तमान वह चलता है

(२) अपूर्ण भूत वह चलता था

(३) अपूर्ण भविष्यत् वह चलता होगा

(४)वर्त०अपूर्ण संभावनार्थ (यदि) वह चलता हो

(५) भूत ,, ,, (यदि) वह चलता होता ।

३२५. (आ) -आ- प्रत्यय से निर्मित पूर्णकाल एवं अर्थ -

(१) सामान्य भूत वह चला

(२) पूर्ण वर्तमान वह चला है

(३) पूर्ण भूत वह चला था

(४) पूर्ण भविष्यत् — वह चला होगा
(५) वर्त० पूर्ण संभावनार्थ — (यदि) वह चला हो
(६) भूत ,, ,, — (यदि) वह चला होता

३२६. (ख) काल-बोधक - प्रत्यय -था-गा-ना- हैं । जिस प्रकार "है" सहायक क्रिया से वर्तमान काल का ज्ञान होता है, उसी प्रकार -था- और -गा- प्रत्ययों के संयोग से क्रमश: भूत और भविष्यत् काल के रूपों का बोध होता है । -ना- प्रत्यय का प्रयोग आज्ञार्थ में मध्यमपुरुष के दोनों वचनों में समान रूप से भविष्यत् के लिये किया जाता है । उनके प्रयोग निम्नलिखित कालों में होते हैं ।

३२७. <u>-था- के प्रयोग</u>

(१) अपूर्ण भूत - चलता था
(२) पूर्ण भूत - चला था
(३) अपूर्ण भूत तात्कालिक - चल रहा था
(४) पूर्ण भूत ,, — चलता रहा था

३२८. <u>- गा - के प्रयोग</u>

(१) सामान्य भविष्यत् — चलेगा
(२) अपूर्ण भविष्यत् — चलता होगा
(३) पूर्ण ,, — चला होगा
(४) अपूर्ण तात्कालिक ,, — चल रहा होगा
(५) पूर्ण ,, ,, — चलता रहा होगा तथा चलता

३२९. <u>-ना- के प्रयोग</u>

(१) आज्ञार्थ — चलना
(२) ,, तात्कालिक — चलते रहना
(३) ,, ,, — चलते रहना होगा
(४) ,, (इच्छार्थ) — चलते रहना था

३३०. (ग) सहायक क्रियाओं का विस्तार :

हिन्दी में तीन मुख्य सहायक क्रिया हैं - है- हो- रह् । सामान्यत: सहायक क्रिया वह है जो किसी मुख्य क्रिया के अर्थ या काल की रचना करने में सहायता दे । -है-हो-रह्- क्रियायें प्रयोग में दो प्रकार की हैं —मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया । मुख्य क्रिया के रूप में इन्हें विकार दर्शक और सहायक क्रिया के रूप में स्थितिदर्शक[१] कहा गया है । कुछ विद्वान् इन्हें विद्यमानताबोधक और उत्पत्तिबोधक[२] भी कहते हैं । यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं हैं । इन्हें मुख्यक्रिया और सहायक क्रिया कहना ही उपयुक्त है । इसी प्रकार क्रिया के इन सहायक रूपों को केलाग[३] की भांति न तो संयुक्त क्रिया कह सकते हैं और न केवल तात्कालिक वर्तमान ही माना जाना जा सकता है । वस्तुत: यह सहायक क्रियाएं अर्थ की पूर्णता के लिये मुख्य क्रिया के व्यापार की दशा, अवस्था और काल का बोध कराती हैं । जब यह स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होती हैं तब मुख्य क्रिया बन जाती हैं और अपने साथ सहायक-क्रिया रूपों का सहयोग चाहती हैं । सहायक रूप में इन क्रियाओं के रूपान्तर निम्नलिखित हैं :—

तालिका - ५

३३१. - है-

वर्तमान काल

	एकव०	ब०व०
उ०पु०	हूँ	हैं
म०पु०	है	हो
अ०पु०	है	हैं

३३२. यद्यपि इन रूपों को सामान्यवर्तमान काल[४] अथवा वर्तमान

---

१. गुरु- हि०व्या०, पृ० २८२
२. रा०लौ०शरण- व्या०च०, पृ० १११
३. हिं०ग्रा० - पृ० २६१-६२
४. गुरु- हिं०व्या०, पृ० २६६

निश्चयार्थ[१] के रूप कहा गया है, लेकिन काल-रचना और प्रयोग की दृष्टि से यह रूप केवल सामान्य वर्तमान तक ही सीमित नहीं है। इसके प्रयोग वर्तमान के चारों रूपों में उपलब्ध होते हैं। जैसे - चलता है, चल रहा है, चला है, चलता रहा है (दे० तालिका ३)।

तालिका - ६

३३३. - हो -

(क) भविष्यत् काल (कोष्ठकों में वैकल्पिक किंवा संक्षिप्त रूप लिखे हैं।)

	ए०व०	ब०व०
उ०पु०	होऊँगा (हूँगा)	होवेंगे (होंगे)
म०पु०	होवेगा (होगा)	होओगे (होगे)
अ०पु०	होवेगा (होगा)	होवेंगे (होंगे)

(ख) आज्ञार्थ—

	ए०व०	ब०व०
उ०पु०	होऊँ	होवें (हों)
म०पु०	होवे (हो)	होवे (हो)
अ०पु०	होवे (हो)	होवें (हों)

(ग) संभावनार्थ

होता	होते
होता	होते
होता	होते

इन रूपों का सहायक क्रिया के अर्थ में मुख्य क्रिया के साथ किसी एक काल में बाधित प्रयोग नहीं होता जैसा कि अनेक ग्रन्थों में कहा गया है।

१- धीरेन्द्र वर्मा — हिं० भा० इति०, पृ० २६२.

इसी प्रकार —होना - का प्रयोग सहायक क्रिया की भाँति तभी आता है जब उसके बाद 'चाहिए' का प्रयोग हो । जैसे —उसे सोते होना चाहिए, पढ़ते होना चाहिए ।

तालिका - ७

३३४. -रह्-

(१) अपूर्ण तात्कालिक काल —

(क) वर्तमान - रहा - (चल रहा है)

(ख) भूत - रहा - (चल रहा था)

(ग) भविष्यत् -रहा - (चल रहा होगा)

(२) पूर्ण तात्कालिक काल -

(क) वर्तमान - रहा - (चलता रहा है)

(ख) भूत - रहा - (चलता रहा था)

(ग) भविष्यत् - रहेगा- (चलता रहेगा)

(३) तात्कालिक आज्ञार्थ--

(क) रहूँ रहें (चलता रहूँ आदि)
रहे रहो
रहे रहें

(ख) चलते रहना

(ग) चलते रहना होगा

(घ) चलते रहना था (इच्छार्थ)

(४) तात्कालिक संभावनार्थ -

रहा रहे (यदि चलता रहा, आदि)
रहा रहे
रहा रहे

सहायक क्रिया-रूप में प्रयुक्त अन्य क्रियाओं का वर्णन संयुक्त क्रिया के अन्तर्गत किया जायेगा ।

क्रिया की रूपावली

३३५. हिन्दी क्रिया की रूपावली पूर्णतया सैद्धान्तिक आधारों को स्वीकार करके नहीं चलती । एक प्रकार से क्रिया-प्रयोग अधिक प्रबल हैं । फल स्वरूप सभी क्रियाओं के सब कालों, वाच्यों और प्रेरणार्थक आदि के रूप या तो मिलते नहीं या सिद्ध नहीं होते । कुछ प्राचीन रूप या प्रयोग धीरे धीरे परिनिष्ठित हिन्दी से लुप्त होते जा रहे हैं, जैसे - मुआ, हूजिये आदि । कुछ वैकल्पिक रूप भी घिस रहे हैं, जैसे - होवेगा - होगा, होवोगे-होगे आदि । इस प्रकार हिन्दी-क्रिया-रचना एक रूपता की ओर अग्रसर है । कुछ धातुएं, जिन्हें शिष्ट भाषा में परिगणित नहीं किया जाता था, अब हिन्दी में प्रयुक्त होने लगी हैं, जैसे - गैल्हना (हजारीप्रसाद द्विवेदी - अशोक के फूल), उफरना (राहुल सांकृत्यायन - वोल्गा से गंगा) आदि । कुछ धातु शिष्ट प्रयोग हैं तो उनके मूल रूप ग्राम्य माने जाते हैं, जैसे - गोड़ना - गोड़ । इसके विपरीत - पीर-पिराना, (धर्मवीर भारती - ठेले पर हिमालय) थिर - थिराना (किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी-शब्दानुशासन) आदि रूप अभी भी शिष्ट और ग्राम्य की उलझन में उलझे हैं । अनेक विद्वान् इस दिशा में सक्रिय हैं और अनेक ऐसी धातुओं का शिष्ट-प्रयोग प्रारम्भ हो गया है । इसलिये भी रूपावली की दृष्टि से प्रत्येक धातु का रूप देना संभव नहीं । अतएव कुछ प्रमुख धातुओं की रूपावली नीचे दी जाती है । काल-रचना में हिन्दी-व्याकरण ग्रन्थों में उल्लिखित क्रम का अनुसरण नहीं है । अब इनका क्रम इस प्रकार होगा - वर्तमान, भूत, भविष्यत्, आज्ञार्थ, संभावनार्थ ।

तालिका : ८

काल रचना

३३६. धातु चल् (अकर्मक)

(१) वर्तमान काल

(क) सामान्य वर्तमान—

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	ए०व०	ब०व०	ए०व०	ब०व०
१. उ०पु०..	मैं चलता हूँ	हम चलते हैं	मैं चलती हूँ	हम चलती हैं
२. म०पु०..	तू चलता है	तुम चलते हो	तू चलती है	तुम चलती हो
३. अ०पु०..	वह चलता है	वे चलते हैं	वह चलती है	वे चलती हैं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक वर्तमान —

१. मैं चल रहा हूँ	हम चल रहे हैं	मैं चल रही हूँ	हम चल रही हैं
२. तू चल रहा है	तुम चल रहे हो	तू चल रही है	तुम चल रही हो
३. वह चल रहा है	वे चल रहे हैं	वह चल रही है	वे चल रही हैं।

(ग) पूर्ण वर्तमान —

१. मैं चला हूँ	हम चले हैं	मैं चली हूँ	हम चली हैं
२. तू चला है	तुम चले हो	तू चली है	तुम चली हो
३. वह चला है	वे चले हैं	वह चली है	वे चली हैं

(घ) पूर्ण तात्कालिक वर्तमान —

१. मैं चलता रहा हूँ	हम चलते रहे हैं	मैं चलती रही हूँ	हम चलती रही हैं
२. तू चलता रहा है	तुम चलते रहे हो	तू चलती रही है	तुम चलती रही हो
३. वह चलता रहा है	वे चलते रहे हैं	वह चलती रही है	वे चलती रही हैं

२. भूतकाल

(क) सामान्य भूत —

१. मैं चला	हम चले	मैं चली	हम चलीं
२. तू चला	तुम चले	तू चली	तुम चलीं
३. वह चला	वे चले	वह चली	वे चलीं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भूत –

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	ए०व०	ब०व०	ए०व०	ब०व०
१.	मैं चल रहा था	हम चल रहे थे	मैं चल रही थी	हम चल रही थीं
२.	तू चल रहा था	तुम चल रहे थे	तू चल रही थी	तुम चल रही थीं
३.	वह चल रहा था	वे चल रहे थे	वह चल रही थी	वे चल रही थीं

(ग) पूर्ण भूत –

१.	मैं चला था	हम चले थे	मैं चली थी	हम चली थीं
२.	तू चला था	तुम चले थे	तू चली थी	तुम चली थीं
३.	वह चला था	वे चले थे	वह चली थी	वे चली थीं

(घ) पूर्णतात्कालिक भूत –

१.	मैं चलता रहा था	हम चलते रहे थे	मैं चलती रही थी	हम चलती रही थीं
२.	तूचलता रहा था	तुम चलतेरहे थे	तू चलतीरही थी	तुम चलतीरही थीं
३.	वह चलतारहा था	वे चलतेरहे थे	वह चलतीरही थी	वे चलती रही थीं

३. भविष्यत् काल

(क) सामान्य भविष्यत्

१.	मैं चलूँगा	हम चलेंगे	मैं चलूँगी	हम चलेंगी
२.	तू चलेगा	तुम चलोगे	तू चलेगी	तुम चलोगी
३.	वह चलेगा	वे चलेंगे	वह चलेगी	हम चलेंगी

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

१.	मैं चलरहा होऊँगा	हम चल रहेहोंगे	मैं चलरही होऊँगी	हम चल रही होंगी
२.	तू चलरहा होगा	तुम चलरहे होगे	तू चलरही होगी	तुम चल रही होगी
३.	वह चलरहा होगा	वे चल रहेहोंगे	वह चल रही होगी	वे चल रही होंगी

(ग) पूर्ण भविष्यत्

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	ए०व०	ब०व०	ए०व०	ब०व०
१.	मैं चला होऊँगा	हम चले होंगे	मैं चली होऊँगी	हम चली होंगी
२.	तू चला होगा	तुम चले होगे	तू चली होगी	तुम चली होगी
३.	वह चला होगा	वे चले होंगे	वह चली होगी	वे चली होंगी

(घ) पूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

१.	मैं चलता रहूँगा	हम चलते रहेंगे	मैं चलती रहूँगी	हम चलती रहेंगी
२.	तू चलता रहेगा	तुम चलते रहोगे	तू चलती रहेगी	तुम चलती रहोगी
३.	वह चलता रहेगा	वे चलते रहेंगे	वह चलती रहेगी	वे चलती रहेंगी

सूचना -- वर्तमान, भूत और भविष्यत् के वैकल्पिक रूपों के लिए देखें अनु० ३०६।
आगे वर्णित सभी धातु के वैकल्पिक रूप यहीं देखें ।

४. आज्ञार्थ

(क) प्रत्यक्ष विधि- (पुल्लिंग और स्त्रीलिंग) –

	सामान्य		आदरार्थ
	ए०ब०	ब०व०	
१.	मैं चलूँ	हम चलें	
२.	तू चल । चले	तुम चलो	आप चलें । चलिये
३.	वह चले	वे चलें	

(ख) परोक्ष विधि –

२.	तू चलना	तुम चलना	आप चलियेगा

५. संभावनार्थ

(क) वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ - (यदि चलता)

पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
ए०व०	ब०व०	ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं चलता होऊँ	यदि हम चलते हों	यदि मैं चलती होऊँ	यदि हम चलती हों
२. यदि तू चलता हो	यदि तुम चलते हो	यदि तू चलती हो	यदि तुम चलती हो
३. यदि वह चलता हो	यदि वे चलते हों	यदि वह चलती हो	यदि वे चलती हों

(ख) वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ—

१. यदि मैं चला होऊँ	यदि हम चले हों	यदि मैं चली होऊँ	यदि हम चली हों
२. यदि तू चला हो	यदि तुम चले हो	यदि तू चली हो	यदि तुम चली हो
३. यदि वह चला हो	यदि वे चले हों	यदि वह चली हो	यदि वे चली हों

(ग) भूत अपूर्ण संभावनार्थ –

१. यदि मैं चलता होता	यदि हम चलते होते	यदि मैं चलती होती	यदि हम चलती होतीं
२. यदि तू चलता होता	यदि तुम चलते होते	यदि तू चलती होती	यदि तुम चलती होतीं
३. यदि वह चलता होता	यदि वे चलते होते	यदि वह चलती होती	यदि वे चलती होतीं

(घ) भूत पूर्ण संभावनार्थ –

१. यदि मैं चला होता	यदि हम चले होते	यदि मैं चली होती	यदि हम चली होतीं
२. यदि तू चला होता	यदि तुम चले होते	यदि तू चली होती	यदि तुम चली होतीं
३. यदि वह चला होता	यदि वे चले होते	यदि वह चली होती	यदि वे चली होतीं

सूचना —यदि, अगर, जो, तो अव्यय के प्रयोग से कोई भी काल संभावनार्थ बन जाता है (देखिये - अनु० २८६)। यह सिद्धान्त सभी धातुओं पर लागू होता है ।

तालिका - ६

३३७. धातु - हो -

१. वर्तमान काल

(क) सामान्य वर्तमान

पुल्लिंग

	ए०व०	ब०व०
१.	मैं होता हूँ	हम होते हैं
२.	तू होता है	तुम होते हो
३.	वह होता है	वे होते हैं

स्त्रीलिंग

	ए०व०	ब०व०
१.	मैं होती हूँ	हम होती हैं
२.	तू होती है	तुम होती हो
३.	वह होती है	वे होती हैं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक वर्तमान --

पुल्लिंग

	ए०व०	ब०व०
१.	मैं हो रहा हूँ	हम हो रहे हैं
२.	तू हो रहा है	तुम हो रहे हो
३.	वह हो रहा है	वे हो रहे हैं

स्त्रीलिंग

	ए०व०	ब०व०
१.	मैं हो रही हूं	हम हो रही हैं
२.	तू हो रही है	तुम हो रही हो
३.	वह हो रही है	वे हो रही हैं

(ग) पूर्ण वर्तमान –

पुल्लिंग

१. मैं हुआ हूँ	हम हुए हैं
२. तू हुआ है	तुम हुए हो
३. वह हुआ है	वे हुये है

स्त्रीलिंग

१. मैं हुई हूँ	हम हुई हैं
२. तू हुई है	तुम हुई हो
३. वह हुई है	वे हुई हैं

(घ) पूर्ण तात्कालिक वर्तमान –

पुल्लिंग

१. मैं होता रहा हूँ	हम होते रहे हैं
२. तू होता रहा है	तुम होते रहे हो
३. वह होता रहा है	वे होते रहे हैं

स्त्रीलिंग

१. मैं होती रही हूँ	हम होती रही हैं
२. तू होती रही है	तुम होती रही हो
३. वह होती रही है	वे होती रही हैं

२. भूतकाल

(क) सामान्य भूत --

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं हुआ	हम हुए
२. तू हुआ	तुम हुए
३. वह हुआ	वे हुए

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं हुई	हम हुईं
२. तू हुई	तुम हुईं
३. वह हुई	वे हुईं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भूत --

पुल्लिंग

१. मैं हो रहा था	हम हो रहे थे
२. तू हो रहा था	तुम हो रहे थे
३. वह हो रहा था	वे हो रहे थे

स्त्रीलिंग

१. मैं हो रही थी	हम हो रही थीं
२. तू हो रही थी	तुम हो रही थीं
३. वह हो रही थी	वे हो रही थीं

(ग) पूर्णभूत --

पुल्लिंग

१. मैं हुआ था	हम हुए थे
२. तू हुआ था	तुम हुए थे
३. वह हुआ था	वे हुए थे

स्त्रीलिंग

१. मैं हुई थी	हम हुई थीं
२. तू हुई थी	तुम हुई थीं
३. वह हुई थी	वे हुई थीं

(घ) पूर्ण तात्कालिक भूत —

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं होता रहा था	हम होते रहे थे
२. तू होता रहा था	तुम होते रहे थे
३. वह होता रहा था	वे होते रहे थे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं होती रही थी	हम होती रही थीं
२. तू होती रही थी	तुम होती रही थीं
३. वह होती रही थी	वे होती रही थीं

३. भविष्यत् काल

(क) सामान्य भविष्यत् —

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं होऊँगा	हम होंगे
२. तू होगा	तुम होगे
३. वह होगा	वे होंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं होऊँगी	हम होंगी
२. तू होगी	तुम होगी
३. वह होगी	वे होंगी

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भविष्यत् —

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं हो रहा होऊँगा	हम हो रहे होंगे
२. तू हो रहा होगा	तुम हो रहे होगे
३. वह हो रहा होगा	वे हो रहे होंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं हो रही होऊँगी	हम हो रही होंगी
२. तू हो रही होगी	तुम हो रही होंगी
३. वह हो रही होगी	वे हो रही होंगी

(ग) पूर्ण भविष्यत् –

पुल्लिंग

१. मैं हुआ होऊँगा	हम हुए होंगे
२. तू हुआ होगा	तुम हुए होंगे
३. वह हुआ होगा	वे हुए होंगे

स्त्रीलिंग

१. मैं हुई होऊँगी	हम हुई होंगी
२. तू हुई होगी	तुम हुई होंगी
३. वह हुई होगी	वे हुई होंगी

(घ) पूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

पुल्लिंग

१. मैं होता रहूँगा	हम होते रहेंगे
२. तू होता रहेगा	तुम होते रहोगे
३. वह होता रहेगा	वे होते रहेंगे

स्त्रीलिंग

१. मैं होती रहूँगी	हम होती रहेंगी
२. तू होती रहेगी	तुम होती रहोगी
३. वह होती रहेगी	वे होती रहेंगी

४. आज्ञार्थ

(क) प्रत्यक्ष विधि - (पुल्लिंग और स्त्रीलिंग)

सामान्य		आदरार्थ
ए०व०	ब०व०	
१. मैं होऊँ	हम हों	
२. तू हो	तुम हो	आप हों। होइये
३. वह हो	वे हों	

(ख) परोक्ष विधि -

२. तू होना	तुम होना	आप होइयेगा

५. संभावनार्थ

(क) वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ - (यदि, अगर, जो, तो आदि अव्ययों के संयोग से)

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं होता होऊँ	यदि हम होते हों
२. यदि तू होता हो	यदि तुम होते हो
३. यदि वह होता हो	यदि वे होते हों

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं होती होऊँ	यदि हम होती हों
२. यदि तू होती हो	यदि तुम होती हो
३. यदि वह होती हो	यदि वे होती हों

(ख) वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ -

पुल्लिंग

१. यदि मैं हुआ होऊँ	यह हम हुए हों

ए०व०	ब०व०
२. यदि तू हुआ हो	यदि तुम हुए हो
३. यदि वह हुआ हो	यदि वे हुए हों

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं हुई होऊँ	यदि हम हुई हों
२. यदि तू हुई हो	यदि तुम हुई हो
३. यदि वह हुई हो	यदि वे हुई हों

(ग) भूत अपूर्ण संभावनार्थ - इसके रूपान्तर नहीं होते ।

(घ) भूत पूर्ण संभावनार्थ -

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं हुआ होता	यदि हम हुए होते
२. यदि तू हुआ होता	यदि तुम हुए होते
३. यदि वह हुआ होता	यदि वे हुए होते

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं हुई होती	यदि हम हुई होतीं
२. यदि तू हुई होती	यदि तुम हुई होतीं
३. यदि वह हुई होती	यदि वे हुई होतीं

तालिका - १०

धातु रह्

३३८. १. वर्तमान काल

(क) सामान्य वर्तमान—— पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रहता हूँ	हम रहते हैं

पुल्लिंग

ए०व०	व०व०
२. तू रहता है	तुम रहते हो
३. वह रहता है	वे रहते हैं

स्त्रीलिंग

१. मैं रहती हूँ	हम रहती हैं
२. तू रहती है	तुम रहती हो
३. वह रहती है	वे रहती हैं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक वर्तमान –

पुल्लिंग

१. मैं रह रहा हूँ	हम रह रहे हैं
२. तू रह रहा है	तुम रह रहे हो
३. वह रह रहा है	वे रह रहे हैं

स्त्रीलिंग

१. मैं रह रही हूँ	हम रह रही हैं
२. तू रह रही है	तुम रह रही हो
३. वह रह रही है	वे रह रही हैं

(ग) पूर्ण वर्तमान

पुल्लिंग

१. मैं रहा हूँ	हम रहे हैं
२. तू रहा है	तुम रहे हो
३. वह रहा है	वे रहे हैं

स्त्रीलिंग

एकवचन (ए०व०)	बहुवचन (ब०व०)
१. मैं रही हूँ	हम रही हैं
२. तू रही है	तुम रही हो
३. वह रही है	वे रही हैं

(घ) पूर्ण तात्कालिक वर्तमान–

पुल्लिंग

एकवचन	बहुवचन
१. मैं रहता रहा हूँ	हम रहते रहे हैं
२. तू रहता रहा है	तुम रहते रहे हो
३. वह रहता रहा है	वे रहते रहे हैं

स्त्रीलिंग

एकवचन	बहुवचन
१. मैं रहती रही हूँ	हम रहती रही हैं
२. तू रहती रही है	तुम रहती रही हो
३. वह रहती रही है	वे रहती रही हैं

२. भूतकाल

(क) सामान्य भूत –

पुल्लिंग

एकवचन (ए०व०)	बहुवचन (ब०व०)
१. मैं रहा	हम रहे
२. तू रहा	तुम रहे
३. वह रहा	वे रहे

स्त्रीलिंग

एकवचन	बहुवचन
१. मैं रही	हम रहीं
२. तू रही	तुम रहीं
३. वह रही	वे रहीं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भूत --

ए०व०	पुल्लिंग	ब०व०
१. मैं रह रहा था		हम रह रहे थे
२. तू रह रहा था		तुम रह रहे थे
३. वह रह रहा था		वे रह रहे थे
	स्त्रीलिंग	
१. मैं रह रही थी		हम रह रही थीं
२. तू रह रही थी		तुम रह रही थीं
३. वह रह रही थी		वे रह रही थीं

(ग) पूर्ण भूत --

	पुल्लिंग	
१. मैं रहा था		हम रहे थे
२. तू रहा था		तुम रहे थे
३. वह रहा था		वे रहे थे
	स्त्रीलिंग	
१. मैं रही थी		हम रही थीं
२. तू रही थी		तुम रही थीं
३. वह रही थी		वे रही थीं

(घ) पूर्ण तात्कालिक भूत --

	पुल्लिंग	
१. मैं रह रहा था		हम रह रहे थे
२. तू रह रहा था		तुम रह रहे थे
३. वह रह रहा था		वे रह रहे थे

सूचना --वैकल्पिक रूप में अपूर्ण तात्कालिक भूत के लिये 'मैं रहता था' --आदि और पूर्ण तात्कालिक भूत के लिये मैं रहता रहा' आदि प्रयोगों को समानान्तर प्रयोग नहीं माना जा सकता । मैं रहता था' वैकल्पिक प्रयोग अवश्य है, लेकिन समानान्तर नहीं ।

३. भविष्यत् काल

(क) सामान्य भविष्यत्

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रहूँगा	हम रहेंगे
२. तू रहेगा	तुम रहोगे
३. वह रहेगा	वे रहेंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रहूँगी	हम रहेंगी
२. तू रहेगी	तुम रहोगी
३. वह रहेगी	वे रहेंगी

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रह रहा होऊँगा	हम रह रहे होंगे
२. तू रह रहा होगा	तुम रह रहे होगे
३. वह रह रहा होगा	वे रह रहे होंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रह रही होऊँगी	हम रह रही होंगी
२. तू रह रही होगी	तुम रह रही होंगी
३. वह रह रही होगी	वे रह रही होंगी

(ग) पूर्ण भविष्यत्

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रहा होऊँगा	हम रहे होंगे
२. तू रहा होगा	तुम रहे होगे
३. वह रहा होगा	वे रहे होंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं रही होऊँगी	हम रही होंगी
२. तू रही होगी	तुम रही होंगी
३. वह रही होगी	वे रही होंगी

४. आज्ञार्थ

(क) प्रत्यक्ष विधि- (पुल्लिंग और स्त्रीलिंग)

सामान्य		आदरार्थ
ए०व०	ब०व०	
१. मैं रहूँ	हम रहें	
२. तू रह । रहे,	तुम रहो	आप रहें । रहिये
३. वह रहे	वह रहें	

(ख) परोक्ष-विधि –

२. तू रहना	तुम रहना	आप रहियेगा

५. संभावनार्थ

(क) वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ – (यदि, अगर, जो, तो आदि अव्ययों के संयोग

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं रहता होऊँ	यदि हम रहते हों
२. यदि तू रहता हो	यदि तुम रहते हो
३. यदि वह रहता हो	यदि वे रहते हों

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं रहती होऊँ	यदि हम रहती हों
२. यदि तू रहती हो	यदि तुम रहती हो
३. यदि वह रहती हो	यदि वे रहती हों

(ख) वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं रहा हौऊँ	यदि हम रहै हौं
२. यदि तू रहा हौ	यदि तुम रहै हौ
३. यदि वह रहा हौ	यदि वै रहै हौं

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं रही हौऊँ	यदि हम रही हौं
२. यदि तू रही हौ	यदि तुम रही हौ
३. यदि वह रही हौ	यदि वै रही हौं

(ग) भूत अपूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

१. यदि मैं रहता हौता	यदि हम रहतै हौतै
२. यदि तू रहता हौता	यदि तुम रहतै हौतै
३. यदि वह रहता हौता	यदि वै रहतै हौतै

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं रहती हौती	यदि हम रहती हौतीं
२. यदि तू रहती हौती	यदि तुम रहती हौतीं
३. यदि वह रहती हौती	यदि वै रहती हौतीं

(घ) भूत पूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

१. यदि मैं रहा हौता	यदि हम रहै हौतै
२. यदि तू रहा हौता	यदि तुम रहै हौतै
३. यदि वह रहा हौता	यदि वै रहै हौतै

स्त्रीलिंग

ए०ब०	ब०व०
१. यदि मैं रही होती	यदि हम रही होतीं
२. यदि तू रही होती	यदि तुम रही होतीं
३. यदि वह रही होती	यदि वे रही होतीं

तालिका - ११

२३६. धातु-पढ़् (सकर्मक)

१. वर्तमान काल

(क) सामान्य वर्तमान -

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं पढ़ता हूँ	हम पढ़ते हैं
२. तू पढ़ता है	तुम पढ़ते हो
३. वह पढ़ता है	वे पढ़ते हैं

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ती हूँ	हम पढ़ती हैं
२. तू पढ़ती है	तुम पढ़ती हो
३. वह पढ़ती है	वे पढ़ती हैं

(ख) अपूर्ण तात्कालिक वर्तमान -

पुल्लिंग

१. मैं पढ़ रहा हूँ	हम पढ़ रहे हैं
२. तू पढ़ रहा है	तुम पढ़ रहे हो
३. वह पढ़ रहा है	वे पढ़ रहे हैं

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं पढ़ रही हूँ	हम पढ़ रही हैं
२. तू पढ़ रही है	तुम पढ़ रही हो
३. वह पढ़ रही है	वे पढ़ रही हैं

(ग) पूर्ण वर्तमान—

पुल्लिंग

१. मैंने पढ़ा है	हमने पढ़ा है
२. तूने पढ़ा है	तुमने पढ़ा है
३. उसने पढ़ा है	उन्होंने पढ़ा है

स्त्रीलिंग

१. मैंने पढ़ी है	हमने पढ़ी है
२. तूने पढ़ी है	तुमने पढ़ी है
३. उसने पढ़ी है	उन्होंने पढ़ी है

(घ) पूर्ण तात्कालिक वर्तमान —

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं पढ़ता रहा हूँ	हम पढ़ते रहे हैं
२. तू पढ़ता रहा है	तुम पढ़ते रहे हो
३. वह पढ़ता रहा है	वे पढ़ते रहे हैं

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ती रही हूँ	हम पढ़ती रही हैं
२. तू पढ़ती रही है	तुम पढ़ती रही हो
३. वह पढ़ती रही है	वे पढ़ती रही हैं

२. भूतकाल

(क) सामान्य भूत –

पुल्लिंग

१. मैंने पढ़ा	हमने पढ़ा
२. तूने पढ़ा	तुमने पढ़ा
३. उसने पढ़ा	उन्होंने पढ़ा

स्त्रीलिंग

१. मैंने पढ़ी	हमने पढ़ी
२. तूने पढ़ी	तुमने पढ़ी
३. उसने पढ़ी	उन्होंने पढ़ी

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भूत –

पुल्लिंग

१. मैं पढ़ रहा था	हम पढ़ रहे थे
२. तू पढ़ रहा था	तुम पढ़ रहे थे
३. वह पढ़ रहा था	वे पढ़ रहे थे

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ रही थी	हम पढ़ रही थीं
२. तू पढ़ रही थी	तुम पढ़ रही थीं
३. वह पढ़ रही थी	वे पढ़ रही थीं

(ग) पूर्णभूत --

पुल्लिंग

१. मैंने पढ़ा था	हमने पढ़ा था
२. तूने पढ़ा था	तुमने पढ़ा था
३. उसने पढ़ा था	उन्होंने पढ़ा था

(घ) पूर्ण तात्कालिक भूत –

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं पढ़ता रहा था	हम पढ़ते रहे थे
२. तू पढ़ता रहा था	तुम पढ़ते रहे थे
३. वह पढ़ता रहा था	वे पढ़ते रहे थे

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ती रही थी	हम पढ़ती रही थीं
२. तू पढ़ती रही थी	तुम पढ़ती रही थीं
३. वह पढ़ती रही थी	वे पढ़ती रही थीं

३. भविष्यत् काल

(क) सामान्य भविष्यत्

पुल्लिंग

१. मैं पढ़ूँगा	हम पढ़ेंगे
२. तू पढ़ेगा	तुम पढ़ोगे
३. वह पढ़ेगा	वे पढ़ेंगे

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ूँगी	हम पढ़ेंगी
२. तू पढ़ेगी	तुम पढ़ोगी
३. वह पढ़ेगी	वे पढ़ेंगी

(ख) अपूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

पुल्लिंग

१. मैं पढ़ रहा होऊँगा	हम पढ़ रहे होंगे
२. तू पढ़ रहा होगा	तुम पढ़ रहे होंगे
३. वह पढ़ रहा होगा	वे पढ़ रहे होंगे

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. मैं पढ़ रही होऊँगी	हम पढ़ रही होंगी
२. तू पढ़ रही होगी	तुम पढ़ रही होंगी
३. वह पढ़ रही होगी	वे पढ़ रही होंगी

(ग) पूर्ण भविष्यत् –

पुल्लिंग

१. मैंने पढ़ा होगा	हमने पढ़ा होगा
२. तूने पढ़ा होगा	तुमने पढ़ा होगा
३. उसने पढ़ा होगा	उन्होंने पढ़ा होगा

स्त्रीलिंग

१. मैंने पढ़ी होगी	हमने पढ़ी होगी
२. तूने पढ़ी होगी	तुमने पढ़ी होगी
३. उसने पढ़ी होगी	उन्होंने पढ़ी होगी

(घ) पूर्ण तात्कालिक भविष्यत् –

पुल्लिंग

१. मैं पढ़ता रहूँगा	हम पढ़ते रहेंगे
२. तू पढ़ता रहेगा	तुम पढ़ते रहोगे
३. वह पढ़ता रहेगा	वे पढ़ते रहेंगे

स्त्रीलिंग

१. मैं पढ़ती रहूँगी	हम पढ़ती रहेंगी
२. तू पढ़ती रहेगी	तुम पढ़ती रहोगी
३. वह पढ़ती रहेगी	वे पढ़ती रहेंगी

४. आज्ञार्थ

(क) प्रत्यक्ष विधि – (पुल्लिंग और स्त्रीलिंग)

सामान्य		आदरार्थ
ए०व०	ब०व०	
१. मैं पढ़ूँ	हम पढ़ें	
२. तू पढ़ । पढ़े	तुम पढ़ो	आप पढ़ें।पढ़िये
३. वह पढ़े	वे पढ़ें	

(ख) परोक्ष विधि –

२. तू पढ़ना	तुम पढ़ना	आप पढ़ियेगा

५. संभावनार्थ

(क) वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैं पढ़ता होऊँ	यदि हम पढ़ते हों
२. यदि तू पढ़ता हो	यदि तुम पढ़ते हो
३. यदि वह पढ़ता हो	यदि वे पढ़ते हों

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं पढ़ती होऊँ	यदि हम पढ़ती हों
२. यदि तू पढ़ती हो	यदि तुम पढ़ती हो
३. यदि वह पढ़ती हो	यदि वे पढ़ती हों

(ख) वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

१. यदि मैंने पढ़ा हो	यदि हमने पढ़ा हो
२. यदि तूने पढ़ा हो	यदि तुमने पढ़ा हो
३. यदि उसने पढ़ा हो	यदि उन्होंने पढ़ा हो

स्त्रीलिंग

ए०व०	ब०व०
१. यदि मैंने पढ़ी हो	यदि हमने पढ़ी हो
२. यदि तूने पढ़ी हो	यदि तुमने पढ़ी हो
३. यदि उसने पढ़ी हो	यदि उन्होंने पढ़ी हो

(ग) भूत अपूर्ण संभावनार्थ –

पुल्लिंग

१. यदि मैं पढ़ता होता	यह हम पढ़ते होते
२. यदि तू पढ़ता होता	यदि तुम पढ़ते होते
३. यदि वह पढ़ता होता	यदि वे पढ़ते होते

स्त्रीलिंग

१. यदि मैं पढ़ती होती	यदि हम पढ़ती होतीं
२. यदि तू पढ़ती होती	यदि तुम पढ़ती होतीं
३. यदि वह पढ़ती होती	यदि वे पढ़ती होतीं

(घ) भूत पूर्णसंभावनार्थ –

पुल्लिंग

१. यदि मैंने पढ़ा होता	यदि हमने पढ़ा होता
२. यदि तूने पढ़ा होता	यदि तुमने पढ़ा होता
३. यदि उसनेपढ़ा होता	यदि उन्होंने पढ़ा होता

स्त्रीलिंग

१. यदि मैंने पढ़ी होती	यदि हमने पढ़ी होती
२. यदि तूने पढ़ी होती	यदि तुमने पढ़ी होती
३. यदि उसने पढ़ी होती	यदि उन्होंने पढ़ी होती

अध्याय—१०

कृदन्त

अध्याय-१०

कृदन्त

३४०. अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी धातु से व्युत्पन्न रूपों का व्यवहार प्रधान क्रिया, संयुक्त क्रिया और क्रियार्थक वाक्यांशों की भाँति किया जाता है। जैसे --वह रामायण पढ़ता है, वह उठ उठ कर बैठ गया, वह चलते - चलते गिर पड़ा, रमते जोगी और बहते पानी का कोई ठिकाना नहीं होता आदि।

३४१. हिन्दी-कृदन्त-प्रत्यय मूलत: धातु के अंग रूप होते हैं, जैसे - चलना, चल, चलता, चला आदि। अत: यह मुख्य क्रिया का कार्य सम्पादित करते हैं। जब यह क्रिया के अतिरिक्त अन्य शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब इन्हें कृदन्त (संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण कहते हैं।

३४२. इनकी रूप-रचना आकारान्त संज्ञा बहुवचन (भागतों के पीछे, गाने वालों, गानेवालियाँ आदि) के अतिरिक्त सर्वत्र अपने क्रिया-रूप से अभिन्न होती है। फलस्वरूप क्रिया और कृदन्त रूपों का भेद केवल प्रसंग और प्रयोग पर आश्रित होता है। यहीकारण है कि व्याकरण ग्रन्थों में इनका विवेचन क्रिया, कृदन्त, विशेषण, क्रिया-विशेषण, संयुक्त क्रिया और वाक्यविन्यास शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है।

३४३. हिन्दी-कृदन्तों की रचना क्रिया-रूपों से हुई है और यह क्रियारूप संस्कृत कृदन्तों से विकसित हुए हैं। अत: हिन्दी-क्रिया-रचना ही कृदन्त-रचना है, अर्थात् हिन्दी क्रिया के इन रूपों में एक साथ क्रिया, संज्ञा, विशेषण और क्रिया-विशेषण प्रकट करने की क्षमता निहित है। इस प्रकार यह नामिक गुणों से संवलित ऐसे व्याकरणिक तत्व हैं जो निरन्तर क्रिया का कार्य सम्पादित करते हैं।

३४४. रचना के विचार से कृदन्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है -(१) प्रत्यय संयोगी कृदन्त (२) क्रिया-संयोगी कृदन्त। इनसे निम्नलिखित कृदन्तों का निर्माण किया जाता है।

१. प्रत्यय संयोगी कृदन्त -

(क) ता- प्रत्यय के योग से - अपूर्ण कृदन्त

(ख) आ- ,, ,, - पूर्ण कृदन्त

(ग) ना- ,, ,, - क्रियार्थक संज्ञा

(घ) -ना+वाला ,, - कर्तृवाचक कृदन्त

२. क्रिया संयोगी कृदन्त -

(ङ) क्रिया अथवा अनेक क्रिया संयोग से - पूर्वकालिक कृदन्त

३४५. हिन्दी-व्याकरण ग्रन्थों में प्राप्त कृदन्तों के विविध नाम और अस्तित्व को स्वीकार करना उपादेय नहीं है। इनमें वर्तमानकालिक कृदन्त, अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त और तात्कालिक का अन्तर्भाव अपूर्ण कृदन्त में तथा भूतकालिक कृदन्त और पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त का अन्तर्भाव पूर्ण-कृदन्तमें हो जाता है। इसी प्रकार -ही-, भी, तो निपातों के प्रयोग के आधार पर क्रिया अथवा कृदन्त का वर्गीकरण उचित नहीं है, क्योंकि यह वाक्य में आने वाले संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और विशेषण के आगे-पीछे अर्थ की विशेषता या स्थिति-द्योतन के लिये कहीं भी आ सकते हैं। जैसे- मैं ही घर जाता हूं, मैं घर ही जाता हूं, मैं घर जाता ही हूं, मैंने ही घर जाते, मैंने घर ही जाते, मैंने घर जाते ही आदि आदि। -ता- और -आ- प्रत्यय मूलत: अपूर्णता और पूर्णताबोधक प्रत्यय ही हैं (अनु० १३४ तथा३१८)। इस आधार पर इन्हें अपूर्ण और पूर्ण कृदन्त कहना उचित है। यहाँ प्रत्येक कृदन्त रूप पर अलग- अलग विचार किया जाता है।

अपूर्ण कृदन्त

३४६. रचना - धातु+ता - चलता, चलते, चलती।

३४७. अपूर्ण कृदन्त का प्रयोग प्राय: विशेषण और संज्ञा की भाँति किया जाता है । विशेषण रूप में इसका प्रयोग तब होता है । जब यह विधेय रूप में कर्ता या कर्म की विशेषता बताता है । जैसे - लड़के शोर मचाते हुए स्कूल गए । पुलिस नें भागते हुए चोरों पर गोली चलाई । तुम जाते समय याद दिलाना ।

३४८. संज्ञा रूप में यह आकारान्तक शब्द की भाँति विकारी होते हैं । किन्तु इसके प्रयोग प्राय: मुहावरे की भाँति या मुहावरे ही होते हैं । जैसे - मरता क्या न करता , डूबते को तिनके का सहारा ही बहुत है, मारतों के आगे भागतों के पीछे ।

३४९. निरन्तरता का बोध कराने के लिये अपूर्ण कृदन्त के साथ होना क्रिया के पूर्णताबोधक रूप का प्रयोग किया जाता है । जैसे --वह चलती हुई गाड़ी से उतर गया । उसकी एक ललकार से भागती हुई फौज खड़ी हो गई ।

३५०. अपूर्ण कृदन्त की द्विरुक्ति से भी निरन्तरता सूचित की जाती है । जैसे - वह खेलती खेलती बैठ गई । मैं पहाड़ पर चढ़ते चढ़ते चढ़ गया । यह बीमारी जाती जाती (जाते जाते) जायेगी ।

३५१. जब कर्ता और कर्म सप्रत्यय आते हैं तब अपूर्ण कृदन्त क्रियाविशेषण की भाँति होता है । जैसे- उसने रोते रोते यह बात कही थी । उसने चलते हुए मुझे यह पुस्तक दी ।

३५२. पूर्ण कृदन्त

रचना- धातु + आ - चला, चले, चली

३५३. पूर्णकृदन्त का प्रयोग संज्ञा के समान होता है और कभी कभी यह 'बिना' के साथ आता है । जैसे - किये का फल, सोया और मरा समान होता है, उस मुए से कहो कि यहाँ से दूर चला जाय, 'वह मरों को मात्र पार उतारती' (साकेत) पिसे को पीसना व्यर्थ है, बिना गये काम न हुआ, बिना अपने किये कुछ न मिलता

३५४. संज्ञा रूप में पूर्ण कृदन्त प्राय: सम्बन्ध कारक में आता है, जैसे - हाथ का सिला, डाल का चूका, सूत की बुनी ।

३५५. पूर्ण कृदन्त का प्रयोग विशेषण के समान होता है । अकर्मक क्रिया से निर्मित होने पर कर्तृवाच्य और सकर्मक होने पर कर्मवाच्य में आता है । अकर्मक रूप में, जैसे - आया हुआ मेहमान, गया धन, खुली कूट , सकर्मक रूप में, जैसे - मेरा किया हुआ काम, उसका बनाया हुआ घर, पढ़ी हुई पुस्तक, गिराया गया पेड़ ।

३५६. यह विधेय-विशेषण के रूप में भी आता है, जैसे - यह तो आये दिन का काम है, उल्टे पावों लौट गया, चोर घबराया हुआ भागा, सड़क पर कुछ रुपये पड़े हुये दिखाई दिये ।

३५७. जिस प्रकार होना क्रिया का पूर्णताबोधक रूप अपूर्णकृदन्त के साथ आता है, उसी प्रकार पूर्ण कृदन्त के साथ भी आता है और उसी के अनुकूल रूपान्तरित भी होता है । जैसे - सोया हुआ शेर, गिरे हुए मकान, भागी हुई फौज ।

३५८. सकर्मक निर्मित पूर्ण कृदन्त के साथ 'हुआ' का प्रयोग वैकल्पिक होता है, जैसे - वह सिर्फ पाजामा पहने (हुए) बाहर आया, मुझे रोटी खाये (हुए) तीन दिन बीत गए, वह सिर झुकाए हुए था ।

३५९. यदि मुख्य अकर्मक क्रिया और पूर्ण कृदन्त का उद्देश्य एक ही हो तो पूर्णकृदन्त 'हुआ' के बिना भी आता है, जैसे वह लड़का अपने नौकर के कन्धे पर बैठा (हुआ) चला आया , राजकुमार घोड़े पर चढ़े (हुए) आये ।

३६०. पूर्ण कृदन्त जब क्रिया विशेषण का कार्य करता है तब एकारान्त ही रहता है और मुख्य क्रिया-व्यापार की पूर्णता प्रकट करता है । जैसे - इतनी रात गये तुम क्यों आये, उन्हें यह घर छोड़े तीन साल हुए ।

३६१. कभी कभी यह मुख्य क्रिया की रीति भी सूचित करता है । इस रूप में इसका प्रयोग उसी अवस्था में होता है जब पूर्णकृदन्त का कर्ता मुख्य क्रिया के कर्ता से भिन्न होता है । जैसे - वे क्रोध में भरे बैठे हैं, पहर दिन चढ़े हम लोग बाहर

निकले ।

३६२. पूर्णकृदन्त यदि सकर्मक हो तो उद्देश्य और क्रिया की दशा भी सूचित करता है, जैसे - कुत्ता मुँह में रोटी का टुकड़ा दबाये जा रहा था, वह सिर पर बोझा लादे गई ।

३६३. सप्रत्यय कर्ता के साथ आने पर अकर्मक पूर्ण कृदन्त विकारी होता है, जैसे - मैंने लेटे हुए तुमको यह पत्र लिखा है, मैंने लेटे लेटे यह पत्र तुमको लिखा है ।

३६४. अपूर्ण कृदन्त की भाँति पूर्णकृदन्त की भी निरन्तरता में द्विरुक्ति होती है, जैसे - वह अपने गधे लादे लादे चला गया, वह सिर झुकाये झुकाये भीतर घुसा, उसे लेटे लेटे तीन घंटे बीत गये ।

३६५. जब अकर्मक पूर्ण कृदन्त द्विरुक्त होता है तो इसमें भी विकार विकल्प से होता है, जैसे - मैं धूप में बैठे बैठे (बैठा बैठा) गरमा गया ।

३६६. पूर्ण कृदन्त प्राय: मुहावरे की भाँति होता है, जैसे - सालों से गये-गये आज लौटे हो, मैं दो बरस का गया गया अब आया हूँ, यह लड़कियाँ साल भर की गई गई कल वापस आई हैं ।

३६७. कभी-कभी पूर्णकृदन्त केवल क्रिया ही होता है, जैसे - मुझे आये हुए एक घंटा हुआ ।

क्रियार्थक संज्ञा

३६८. रचना - धातु+ना - चलना, चलने, चलनी

३६९. क्रियार्थक संज्ञा अपनी विशेषताओं के कारण संज्ञा, क्रिया और तीनों का कार्य-सम्पादित करती है । संयुक्त क्रिया में इन तीनों का महत्वपूर्ण स्थान है । इनका सामान्य विवेचन यहाँ किया जाता है ।

३७०. संज्ञा रूप में क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग भाववाचक संज्ञा की भाँति किया जाता है। अतएव इसका बहुवचन रूप नहीं होता। इसी प्रकार इसका प्रयोग सम्बोधन कारक में नहीं होता। शेष कारकों में यह आकारान्त पुल्लिंग संज्ञा शब्द की भाँति रूपान्तर ग्रहण करती है।

३७१. कभी कभी क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा की भाँति किया जाता है, जैसे - गाना (गीत के अर्थ में), खाना (-भोजन), चलना या चलनी भरना (- सोता) आदि।

३७२. क्रियार्थक संज्ञा की यह प्रमुख विशेषता है कि इसका प्रयोग एक प्रकार से सामासिक पद की भाँति होता है। अत: इसके साथ आने वाले विभक्ति पदों का प्राय: लोप हो जाता है। यह आगे स्पष्ट होगा।

३७३. क्रियार्थक का संज्ञा उद्देश्य जब सम्बन्ध कारक में आता है, तो विभक्ति का विकल्प से लोप होता है, जैसे - इस वक्त उसका आना अच्छा नहीं हुआ। रात को पानी (का) बरसना शुरू हुआ।

३७४. कभी-कभी किसी उद्देश्य को प्रकट करने में भी विभक्ति का लोप हो जाता है, जैसे - वह खाने (के लिये) जाता है।

३७५. यह किसी क्रिया के कर्ता या कर्म की भाँति आती है। जब यह किसी सकर्मक क्रिया से व्युत्पन्न हो तब इसका कर्म पूर्ति के रूप में आता है। ~~जैसे~~ - जैसे- झूठ बोलना बुरा है, खाने में शर्म क्या है।

३७६. क्रियार्थक संज्ञा जब विशेषण के समान प्रयुक्त होती है तो उसके लिंग-वचन कर्ता या कर्म के अनुसार होते हैं, जैसे - मुझे दवा पीनी पड़ेगी, तुम्हें सबके नाम लिखने होंगे।

३७७. जब क्रियार्थक संज्ञा की कर्मपूर्ति व्यक्त करनी हो तो उसे सम्बन्धकारक या कर्म कारक में रखते हैं। जैसे-ऐसी बात के मुंह से निकालने में उनको कुछ झिझक न हुई, इस काम को जल्दी करने में लाभ है।

३७८ क्रियार्थक संज्ञा उद्देश्य प्रकट करने के लिये सम्प्रदान कारक में आती है, जैसे वह देखने को (देखने के लिये) आया है, उनको बैठने को आसन दो ।

३७६ सम्प्रदान कारक में वह प्राय: निमित्त या प्रयोजन के अर्थ में आने पर विभक्ति रहित ही होता है, जैसे - वह उन्हें लेने गये हैं, मैं आपसे कुछ माँगने आया हूँ ।

३८०. क्रियार्थक संज्ञा जब सम्प्रदान कारक में 'है' और 'था' क्रियाओं के साथ आती है तब प्राय: किसी कार्य की सूचना देती है, जैसे - वह लिखने को है , मैं चलने को था ।

३८१. क्रियार्थक संज्ञा सम्प्रदान कारक में आने पर संयुक्त क्रिया के अनेक अर्थों को प्रकट करता है । उक्त रूपों से भिन्न कुछ अन्य रूप यहाँ दिये जाते हैं ।

(अ) वाक्य में मुख्य क्रिया से व्युत्पन्न क्रियार्थक संज्ञा का सम्प्रदान कारक इच्छा या विशेषता सूचित करता है — जैसे - कहने को तो वह भी कह सकता है, चलने को तो मैं भी चला चलूँ ।

(आ) 'कहना' क्रियार्थक संज्ञा सम्प्रदान में मुहावरे की भाँति प्रयुक्त होती है और वस्तुस्थिति की प्रत्यक्षता और उदाहरण के लिये आती है, जैसे - मेरे कहने (भर) को बहुत है, उन्होंने कहने को मेरा काम किया है, कहने को यही क्या कम है ।

(इ) 'होना' क्रिया के साथ विधेय में क्रियार्थक संज्ञा का सम्प्रदान कारक भविष्यत् के साथ साथ तत्परता भी सूचित करता है, जैसे - साहब आने को हैं, वह उठने को है, अब वह चलने को है ।

(ई) कभी कभी सम्बन्ध कारक में 'नहीं' के साथ क्रियार्थक संज्ञा विधेय में आती है, जैसे - वह यहाँ से टलने की नहीं , मैं नहीं उठने का, अथवा , मैं उठने का नहीं ।

वस्तुत: 'उठने को' और 'उठने का' यह दोनों रूप कर्तृवाचक कृदन्त के स्थानापन्न हैं, जैसे - मैं उठनेवाला हूं, मैं उठने वाला नहीं। गाड़ी आने को (आने वाली) होती तो अब तक आ जाती, अथवा गाड़ी आने की (आनेवाली) नहीं।

३८२. इन समस्त रूपों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि क्रियार्थक संज्ञा अपने जातिवाचक रूपं के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों में अपने क्रियात्व से पृथक् नहीं हो पाती और संयुक्त क्रिया की विशेषता उसमें किसी न रूप में निहित रहती है। नीचे कुछ ऐसे ही रूप दिये जाते हैं।

(क) वाक्य में मुख्य क्रिया की उपस्थिति में जब क्रियार्थक संज्ञा 'था' के साथ आती है तब मुख्य क्रिया और क्रियार्थक संज्ञा (क्रिया) की समकालीनता सूचित करती है, जैसे - मेरा स्टेशन पहुँचना था कि गाड़ी छूट गई, मेरा देखना नहीं कि वह रोने लगी।

(ख) निषेधात्मक वाक्यों में क्रियार्थक संज्ञा का उपयोग स्वभाव, दशा या परिस्थितिसूचक के रूप में किया जाता है, जैसे - यह भी कोई बात है कि न बोलना, न चालना, न कहना न सुनना।

(ग) शालीन वाक्यरचना में निषेधात्मक परोक्ष विधि में क्रियार्थक संज्ञा का उपयोग अधिक शक्ति प्रकट करने के लिए, जैसे किसी बात का ख़्याल न करना, शराब के निकट भी मत जाना।

३८३. क्रियार्थक संज्ञा की भी द्विरुक्ति होती है - लिखना लिखाना, पढ़ना, पढ़ाना, वे जाने जाने को हैं, वह बोलने बोलने को हुआ, क्या चलना चलना रट रहे हो, यह सब कहने कहने की बातें हैं।

कर्तृवाचक संज्ञा

३८४ प्रथम रचना - धातु+ना+वाला - चलने वाला, चलने वाले, चलने-वाली

३८५. क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप में - वाला-जोड़ने से कर्तृवाचक संज्ञा बनती

जैसे - चलनेवाला, जाने वाला । इसका रूपान्तर आकारान्त संज्ञा या विशेषण के समान होता है ।

३८६. कर्तृवाचक संज्ञा वस्तुत: क्रिया और संज्ञा की मध्यवर्तिनी है, जिसमें दोनों की विशेषताएं मिलती हैं । अत: यह कभी संज्ञा का, कभी क्रिया का और कभी दोनों का कार्य सम्पन्न करती है ।

३८७. कर्तृवाचककृदन्त यदि सकर्मक क्रिया से व्युत्पन्न है और उसमें भविष्यत्काल का भाव विद्यमान है तो इसकी कर्म पूर्ति या तो सम्बन्ध कारक में होगी या कर्म-कारक में । यदि इसका भाव पूर्णता का हो तो यह सम्बन्ध कारक में ही आता है , जैसे - इस पत्र के लिखनेवाले को उपस्थित करो, क्रोध पीजानेवाले कम ही हैं ।

३८८. यह बहुधा विधेय रूप में निकट भविष्य की सूचना देने के लिये आता हैं । इस दशा में इसे भविष्यत्कालिक कृदन्त विशेषण भी कहा जाता है । जैसे - खेलने-वाली गेंद, जानेवाला नौकर,वह इसी गाड़ी से आनेवाला है, वह आजकल में मरने वाला है ।

३८६. कर्तृवाचक संज्ञा स्वभाव या निरन्तरता भी सूचित करती है, जैसे - रोने-वाला लड़का, पढ़नेवाली आदत, यह पढ़नेवाला लड़का है । दुनिया गिरगिट की तरह रंग बदलनेवाली है ।

३६०. कर्तृवाचक कृदन्त से भूतकाल की भी सूचना दी जा सकती है । कभी कभी निकट भविष्य का भी बोध होता है, जैसे - इसका बेचनेवाला, मरनेवाला । कुछ अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं — इसका खरीदनेवाला, इसको खरीदनेवाला, वह गानेवाली है (अर्थात् वह गायिका है, अथवा, अब वह गाने जा रही है) ।

३६१. प्राय: इसीलिये क्रियार्थक संज्ञा अस्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है, जैसे — सोने वाले शेर को मत छेड़ो (अर्थात् सोते हुए शेर को), यह दोनों लड़नेवाले हैं (यह दोनो लड़ने को तत्पर हैं अथवा यह दोनों लड़ाके हैं) ।

३६२. कर्तृवाचक संज्ञा भविष्यत् बोधक होने से अपूर्णकृदन्त की ही भाँति आता है और कभी कभी अकर्मक क्रिया के साथ आने पर संज्ञा या विशेषण ही होता है , जैसे - गानेवालों से कहो कि जायँ, उस जाने वाले आदमी को बुलाओ ।

३६३. अन्य कृदन्तों की भाँति कर्तृवाचक संज्ञा भी मुहावरे के रूप में प्रयुक्त होती है, जैसे - मरने वाला कब वापस आया है, खाने वाले सब हैं, कमानेवाला कोई नहीं ।

३६४. सकर्मक क्रियार्थक संज्ञा सदैव कर्म के साथ और अकर्मक क्रिया से निर्मित होने पर प्राय: पूर्ति के साथ आती है, जैसे - घड़ी बनानेवाला, झूठ को सच बतानेवाला आदि ।

३६५. द्वितीय रचना - धातु + ना + हारा - चलनेहारा, चलनहार

३६६. यद्यपि हिन्दी में यह क्रियार्थक संज्ञा के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु अब परिनिष्ठित प्रयोगों में यह नहीं आता । हिन्दी की मध्यकालीन रचनाओं और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की गद्य रचनाओं में सिरजनहार, होनहार, मरनहार, करनहार, भंजनहारा, सोनेहारा जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु अब इनका प्रचलन बहुत कम हो गया है ।

३६७. तृतीय रचना - धातु + अइया - गवैया, लड़ैया

३६८. हिन्दी में इस प्रत्यय के योग से संज्ञा शब्द का निर्माण किया जाता है, जैसे - बजवैया, कटवैया, पढ़ैया आदि (अनु० १७०) । इसका प्रयोग क्रिया रूप में नहीं होता । अवधी आदि में यह क्रिया रूप में अवश्य मिलता है ।

३६९. पूर्वकालिक कृदन्त

रचना - पूर्वकालिक क्रिया की रचना केवल क्रियाओं के योग से की जाती है । यह रचना अनेक प्रकार की होती है ।

(क) एक क्रिया - चल, उठ, देख, लिख

(ख) दो क्रिया - चल चल, चल कर, कर के

(ग) तीन क्रिया - चल चल कर, करकर के, चल कर के ,

(घ) चार क्रिया - चल चल करके, पढ़ लिख कर के ।

४००. हिन्दी में पूर्वकालिक क्रिया में - कर के - क्रिया रूपों को प्रत्यय कहने ढंग पुराना है । यह वस्तुत: सहायक क्रिया -कर - के रूप है और इन्हें प्रत्यय नहीं कहा जा सकता । मूल पूर्वकालिक क्रिया' अविकृत धातु' रूप में नहीं वरन् -अ- प्रत्यययुक्त (चल्+ अ-चल) होती है और उक्त 'के' रूप को -कर- का संकोच कहना अधिक उपयुक्त है (दे०, अनु० १५३- १५५) ।

४०१. जब अन्य अन्य क्रिया रूपों की भाँति पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग अन्य शब्दों की तरह किया जाता है तब इसे पूर्व कालिक कृदन्त कहते हैं । हिन्दी में पूर्वकालिक कृदन्त अन्य क्रिया रूपों की भांति सामासिक स्थिति का भी सूचक है और इसके भी उदाहरण यथावत् क्रिया और कृदन्त रूप में प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार पूर्वकालिक (क्रिया अथवा कृदन्त) रूप में यह संयुक्त क्रिया-रचना का विशिष्ट अंग बन कर आता है ।

४०२. पूर्वकालिक कृदन्त के रूप अविकृत रूप में प्रयुक्त होते हैं और मुख्य क्रिया के उद्देश्य से सम्बद्ध होते हैं, जो कर्ताकारक में आता है, जैसे - वह मुझे देखकर चला गया । इस रूप में पूर्वकालिक कृदन्त का प्रयोग वस्तुत: ऐसे वाक्यों में किया जाता है जहाँ अनेक विधेयों के संयोग में क्रिया-विशेषणों के उपयोग की आकांक्षा न हो । इस प्रकार पूर्वकालिक कृदन्तों के प्रयोग से बिना भ्रान्ति के लम्बे लम्बे वाक्य निर्मित किये जा सकते हैं, जैसे - वह सारी बातें बताकर अच्छी तरह समझा कर , बार बार सहेज करके ही गया । सुबह उठकर अखबार पढ़ना, नहा धोकर चार आदमियों से मिलना, फिर खा पी कर कपड़े पहन कर दफ्तर जाकर हँसी ठट्ठा करके दिन बिताना ही अफ़सरों का काम है ।

४०३. पूर्वकालिक कृदन्त का सम्बन्ध कर्ता के अतिरिक्त अन्य कारकों से भी हो

सकता है, जैसे - यह काम करके ही जी को चैन आयेगा, आगे चलकर उन्हें एक पेड़ मिला ।

४०४. यह मुख्य क्रिया के कार्य को तो सूचित करता ही है, मुख्य क्रिया के उद्देश्य का भी निर्देश करता है, जैसे - वह स्कूल जाकर पढ़ा करता है, उस लड़की ने रोकर कहा ।

४०५. यदि क्रिया कर्मवाच्य में हो तो, कर्ता से असम्बद्ध, पूर्वकालिक कृदन्त स्वतंत्र रूप से आता है, जैसे - वह खोद कर जीता निकाला गया ।

४०६. कभी कभी मुख्य क्रिया से असम्बद्ध एक स्वतंत्र कर्ता ही इस कृदन्त के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे - दस बजकर बारह मिनट हुए । यह प्रयोग सीमित है ।

४०७. पूर्वकालिक क्रिया का कर्मवाच्य रूप नहीं होता और यदि इसकी आवश्यकता हो तो भी उसका स्थान कर्तृवाच्य ले लेता है, जैसे - वह हाथ पाँव बाँध कर लाया गया, किला सुरंग लगाकर उड़ाया गया ।

४०८. यदि समापिका क्रिया अकर्मक हो तो पूर्वकालिक कृदन्त भी अकर्मक होता है जैसे - कपड़े धुलकर आये, वह गिरफ्तार होकर आया, मैं बेवकूफ़ बनकर रह गया ।

४०९. कभी कभी जब कर्ता लुप्त रहता है तो पूर्वकालिक कृदन्त स्वतंत्र रूप से आता है, जैसे - कुल मिलाकर लगभग साठ बाराती होंगे, समय पाकर जवान हुआ ।

४१०. पूर्वकालिक कृदन्त का प्रयोग अस्तित्ववाचक क्रियाओं - है और था के बाद नहीं होता ।

४११. पूर्वकालिक कृदन्त जब निषेधवाचक के साथ आता है तो सदैव कारणात्मक ही होता है । इसी प्रकार जब केवल कृदन्त ही निषेधवाचक हो तो निषेधवाचक शब्द पूर्वकालिक कृदन्त के पूर्व ही आएगा, जैसे - इस पत्र का उत्तर न देकर उनसे बात करना अधिक उचित है, उसकी बात न समझकर मैं चुप हो रहा ।

४१२. पूर्वकालिक कृदन्त प्रभाव व्यक्त करने के लिये अथवा निरन्तरताबोधक कार्य का निर्देश करने के लिए द्विरुक्त होता है। यह द्विरुक्ति तीन प्रकार की होती, जैसे-

(क) पूर्वक्रिया की द्विरुक्ति सामान्य द्विरुक्ति होती है—वह रो रो कर कहने लगा, फल तोड़ तोड़ कर झोले में भर दिये, पत्थर मार मार कर घायल कर दिया।

(ख) परक्रिया की द्विरुक्ति वस्तुतः - कर- सहायक क्रिया की द्विरुक्ति होती है और प्रायः निरन्तरता की पूर्णता प्रकट करती है — जैसे - कह कर के, चल करके, खोद करके निकाला।

(ग) पूर्व और पर दोनों की द्विरुक्ति वस्तुतः निरन्तरता की अतिशयता प्रकट करती है, जैसे - चल चल करके, उठ उठ करके, आदि।

४१३. द्विरुक्ति का एक विशिष्ट रूप पूर्वोक्त क्रिया की द्विरुक्ति है जो 'और' संयोजक के साथ होती है, जैसे - उसने लिखा और लिखकर फाड़डाला, वह उठा और उठकर बाहर गया।

४१४. कभी कभी आज्ञा, प्रार्थना और निवेदन के उत्तर में पूर्वकालिक क्रिया के -कर- अथवा -के - अंश का प्रयोग विकल्प से होता है और यह प्रायः उसी दशा में होता है जब मुख्य पूर्वकालिक क्रिया से ही कार्य हो जाय, जैसे - रोटी खा आओ, किन्तु- क्या मैं रोटी खा आऊँ, अथवा आप रोटी खा आइए, अथवा, अच्छा मैं रोटी खा आता हूँ।

४१५. हिन्दी कृदन्तों की एक विशिष्ट प्रकृति मुहावरेदार प्रयोगों में मिलती है, जहाँ प्रायः अर्थ में विशेषता आ जाती है। प्लेट्स, केलाग, ग्रीव्ज़, फिल्लट, गुरु, दुनीचंद, रामलोचनशरण आदि ने इनका विवेचन किया है। पूर्वकालिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

(१) मुख्य क्रिया से पूर्वकालिक क्रिया का सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है —

(क) सामयिक (TEMPORAL).

(ख) कारणात्मक (LOGICAL)

(ग) क्रियाविशेषण सम्बन्धी (ADVERBIAL)

इन तीनों के पृथक् पृथक् उदाहरण दिये जाते हैं :-

(क) सामयिक - यह मुख्य क्रिया के पूर्वगामी या समसामयिक रूप में आता है, जैसे - मैंने हाथ धोकर खाना खाया, वह रो रो कर कहने लगा, यह लोग (सूफ़ी) नमाज़ भी गा गाकर पढ़ते हैं।

(ख) कारणात्मक - यह होने वाले कार्य के कारण या साधन रूप में आता है, जैसे - उसे ज़हर देकर मार डाला गया, उसने लकड़ियाँ बेच बेच कर पैसे जमा किये, इस पवित्र आश्रम का दर्शन करके हम अपना जीवन कृतार्थ करें।

(ग) क्रिया विशेषण सम्बन्धी -कभी कभी मुहावरे के रूप में यह क्रिया-विशेषण की शक्ति प्रकट करता है, जैसे - कान लगा कर सुनो, ले देकर चलता बना, मुख्य करके, ख़ास करके, विशेष करके, ज्यों त्यों करके आदि।

२. स्थिति सूचक रूप में यह मुख्य क्रिया के प्रति विभिन्न स्थितियों (दशाओं) को सूचित करता है, जैसे - वह खिलखिला कर हँसा, क्रोध में भर कर बोल उठा, लँगड़ा कर चलता है, मुँह ढँक कर फफक फफक कर रोने लगा।

३. कृदन्तीय विशेषण के ऐसे रूप जिनमें कभी कभी औपसर्गिक शक्ति दिखाई देती है। यह मुहावरे जैसे प्रयोग प्राय: बढ़ना, करना, हटना, छोड़ना और होना क्रियाओं के पूर्वकालिक रूपों में आते हैं, जैसे -

(क) बढ़ना - इनसे वह हर मानी में बढ़कर है, वह गाँव इससे थोड़ा बढ़के है, चित्र से बढ़कर चितेरे की प्रशंसा करना।

(ख) करना -जो सो करके, वे लल्लू बाबू करके जाने जाते हैं, एक एक करके, कृपा करके, इसे बैटा करके रखो।

(ग) घ हटना —सड़क से थोड़ा हट कर जो मन्दिर है, वह दूकान घंटाघर से कुछ हट कर होगी, थोड़ा हट कर बैठो ।

(घ) छोड़ना- इसे छोड़ कर मेरे और कोई नहीं, घर छोड़ कर और कहाँ जाऊँ ।

(ङ०) होना —इतने बड़े होकर भी लज्जा नहीं आती, ब्राह्मण होकर शराब पीते हो, मैं कानपुर होकर आऊँगा, मैं औनहाँ से होकर तुम्हारे यहाँ आऊँगा ।

सूचना —कृदन्तों के विशेष प्रयोग संयुक्त क्रिया में देखिये ।

अध्याय – ११

कालों के अर्थ

अध्याय – ११

कालों के अर्थ

४१६. क्रिया-रचना में जहाँ एक क्रिया प्रसंग और परिस्थिति भेद से भिन्न अर्थों का अभिधान करती है और वाच्य-परिवर्तन तथा भिन्न क्रिया-संयोगों से नवीन अर्थों और रूपों का विकास होता है, वहां अभिव्यक्ति की आवश्यकता के कारण विभिन्न कालों का भी विविध अर्थों में प्रयोग किया जाता है। यह अर्थ-बोध प्रत्येक काल में समान रूप से नहीं होता। यहाँ विभिन्न कालों के अर्थों और प्रयोगों-सम्बन्धी विशेषताओं पर विचार किया जाता है।

सामान्य वर्तमान काल

४१७. इस काल के निम्नलिखित अर्थ और प्रयोग मिलते हैं --

(क) कथन के क्षण की घटना – मैं लिखता हूँ, अभी पानी बरसता है।

(ख) स्वभाव- वह अच्छा गाती है, ग्वाला सात बजे आता है। सन्त जिसकी प्रशंसा करते हैं।

(ग) सिद्धान्त - सर्वनाम वह शब्द है जो संज्ञा के बदले में आता है।

(घ) शाश्वत सत्य - सूरज पूरब में निकलता है, गंगा समुद्र में मिलती हैं।

(ङ०) ऐतिहासिक वर्तमान- भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं।

(च) निकट भविष्य—मैं तुझे अभी पीटता हूं। थोड़ा रुकिये, मैं आपको एक तस्वीर दिखाता हूं। देखिये, क्या होता है।

(छ) निरन्तरता - मैं कई दिन से देखता हूं कि एक जोड़ा कबूतर सुबह सुबह मुंडेरों पर बैठता है। कब से सुनता हूं कि वे अब आते हैं, अब आते हैं।

(ज) आसन्न भूत - मैं इस समय लखनऊ से आता हूं।

(झ) तात्कालिक वर्तमान —अभी वे पूजा करते हैं, तुम किसका पता पूछते हो ।
(ञ) आवृत्ति - यह लड़के जहाँ जाते हैं वहीं उत्पात मचाते हैं, जब जब ऐसा होता है तब तब भगवान अवतार लेते हैं ।
(ट) तुलना - यह फल ऐसे गिरते हैं जैसे आकाश से ओले गिरते हैं ।
(ठ) शर्त प्रकट करने के अर्थ में - जब सियार की मौत आती है तो शहर की ओर भागता है । जब चींटी की मौत आती है तो पर निकलते हैं । इस प्रकार के वाक्य मुहावरे या लोकोक्ति के रूप में ही ग्रहण करने चाहिये ।

सामान्य भूत —

४१८. सामान्य भूत निम्नलिखित अर्थों में भी आता है —
(क) कथन के पूर्व की घटना का संकेत - मैं कल शाम को लौटा,
(ख) वर्तमान का संकेत - आप बैठिये, मैं तो चला । कभी कभी प्रश्न करने में देखना, समझना आदि क्रियाओं के सामान्य भूत से भी वर्तमान काल व्यक्त होता है, जैसे - देखा, यह कैसी हरकतें करता है, यह क्या कहता है, कुछ समझे (अर्थात् कुछ समझते हो कि यह क्या कहता है) ।
(ग) वर्तमान की अभिव्यक्ति के लिये सामान्यभूत का प्रयोग प्राय: आना, ठहरना, होना क्रियाओं के साथ किया जाता है, जैसे - (तिरस्कार के अर्थ में) आये दुनिया भर के होशियार (गुरु), आप लोग साधु ठहरे, आप हुए या मैं हुआ बात एक ही है ।
(घ) निषेधवाचक अनुपलब्धि में 'होना' क्रिया के भूतकालिक रूप से भी वर्तमान सूचित होता है, जैसे - क्या कहूं मेरे एक भाई न हुआ, आज मेरे पास एक चादर भी न हुई कि जाड़ा काट सकता ।
(ङ०) सामान्य भविष्यत् - मैं गया तो एक कम्बल अवश्य लाऊंगा ।
(च) आसन्न भविष्यत् - आप गये और मैंने किया, तुम चलो मैं आया, अब यह बे मौत मरा ।
(छ) शर्त या सम्बन्धसूचक वाक्यों में मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिये भी सामान्य भूत का प्रयोग भविष्यत् के अर्थ में किया जाता है, जैसे —तुम बोले नहीं कि

मैंने मारा, यदि एक भी कदम आगे बढ़ाया तो मुझसे बुरा कोई न होगा, अगर एक भी कदम बढ़े तो ठीक नहीं है (यहां भूत और वर्तमान दोनों ही भविष्यत् सूचक हैं)। यदि वे चले गये तो जाना व्यर्थ होगा।

सामान्य भविष्यत्

४१६. सामान्य भविष्यत् काल से साधारण काल बोध के अतिरिक्त निम्न-लिखित अर्थ भी प्रकट किये जाते हैं।

(क) वर्तमान की सूचना —ऐसा वर और कहीं न मिलेगा (गुरु)। जो नमक न खायेगा वह भी कोई आदमी होगा।

(ख) शर्त- अगर बराबर दवा दोगे तो दो दिन में ठीक हो जायेगा, यदि ऐसा हुआ तो अनर्थ हो जायेगा।

(ग) संभावना —वह शायद वहाँ न होगा, कभी न कभी तो मुलाकात होगी, किसी न किसी तरह यह काम हो जायेगा।

(घ) प्रार्थना - क्या आप मुझ पर इतनी कृपा करेंगे, मेरा एक छोटा सा काम कर दोगे।

(ङ०) 'होना' क्रिया का सामान्य भविष्यत् प्रयोग सन्देह अर्थ में भी आता है, जैसे- तुम उनके लड़के होगे, वह इस समय घूमता होगा, वह लिखेगा तो लिखेगा नहीं तो कोई और लिखेगा।

(च) आवृत्ति- यह लड़के जहाँ भी जायेंगे, वहीं उत्पात मचायेंगे।

(छ) धमकी के अर्थ में - कहीं भेद खुला तो बड़ी मार पड़ेगी।

अपूर्ण भूत

४२०. अपूर्ण भूत की स्थिति सामान्य और पूर्णभूत के बीच की स्थिति है। अत: इसमें निरन्तरता और संलग्नता का भाव भी आ जाता है। जब अपूर्णताबोधक प्रत्यय -ता- के संयोग से कार्य की अपूर्ण अवस्था सूचित करने की आवश्यकता होती

है तब प्राय: दो भिन्न क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है और अपूर्ण भूत की वास्तविक अवस्था के कथन में कालबोधक प्रत्यय (अस्तित्व वाचक क्रिया) - था का प्रयोग आवश्यक होता है । इसके विविध अर्थ यहाँ दिये जाते हैं ।

(क) क्रिया की अपूर्ण अवस्था - मन्दिर में शाम से ही कथा होती थी, वह बड़ी देर से लिखता था , वह पटरी-पटरी चलता था ।

(ख) निरन्तरता - वह रास्ते में मूंगफली खाता जाता था, रोती चलती थी ।

(ग) अभ्यास - वह नित्य आता जाता, चोर अवसर की ताक में चक्कर लगाता फिरता था, वह मुझे बराबर पढ़ता लिखता मिलता ।

(घ) तात्कालिक भूत के अर्थ में — मैं आठ बजे पाठशाला जाता था (जा रहा था) ।

(ङ०) आदत और नियमितता (अभ्यास नहीं) — बचपन में तुम बहुत सोते थे, वे सुबह तीन मील टहलते थे, वह रोज़ मन्दिर जाता और घंटों पूजा करता था ।

(च) समसामयिक घटनाओं की सूचना — (पूर्णभूत में भी इसी प्रकार -कि- अव्यय के संयोग से वाक्य-रचना की जाती है) - वह जाता ही था कि किसी ने ललकारा। कभी-कभी पूर्व पर घटनाएँ भी इसी प्रकार की होती हैं लेकिन उक्त संयोजन से भिन्न उनमें सूक्ष्म अर्थ भेद द्रष्टव्य है, जैसे - वह लगाम पकड़ता कि घोड़ा हिनहिना उठा, वह लगाम पकड़ता ही था घोड़ा हिनहिना उठा (हिनहिनाने लगा) ।

(छ) आवृत्ति - (आवृत्ति का अर्थ स्वभाव से सम्बद्ध होने के कारण अन्य कालों में भी आता है) - यह लड़के जहाँ जाते वहीं उत्पात मचाते, जब जब धर्म की ग्लानि होती भगवान अवतार लेते, वे जहाँ भी जाते थे गीता अवश्य ले जाते थे

अपूर्ण भविष्यत्

४२१. अपूर्ण भविष्यत् से निम्नलिखित अर्थ प्रकट किये जाते हैं ।

(क) कार्य की अपूर्णता अथवा निरन्तरता — वह चलता होगा, वह पढ़ रहा होगा

(ख) निश्चयात्मक भाव - वे ट्रेन से आती होंगी, सोमवार को मैं पढ़ता रहूंगा, मई में परीक्षाएं होती होंगी, या होती रहेंगी ।

(ग) वर्तमान का संकेत – इस समय वे पढ़ाती होंगी, अभी वे सो रहे होंगे।

(घ) आनुमानिक भूत काल के सन्दर्भ में – तब वे सोते होंगे, सुबह तो वे कसरतकरते होंगे।

(ङ०)अनुमान - यह लकड़ी नेपाल से आती होगी, कोयला खान से निकलता होगा, वे एम०ए० में पढ़ रहे होंगे।

पूर्णवर्तमान–

४२२(क) पूर्ण वर्तमान की स्थिति आसन्न भूत की स्थिति मानी जाती है, इसलिये इससे इन दोनों ही अर्थों का एकत्र बोध माना जाता है। अन्य अर्थ नीचे दिये जाते हैं।

(ख) ऐतिहासिक कथन या विवेचन के अर्थ में – रामायण वाल्मीकि ने लिखी है।

(ग) भूतकालिक क्रिया की असम्पन्नता - डाक्टर साहब अभी तक बैठे हैं। कमरे में एक चोर छिपा बैठा है।

(घ) शर्त के साथ आवृत्ति प्रकट करने के अर्थ में बहुधा भूतकाल की सूचना मिलती है, जैसे – जब जब आप आये हैं कोई न कोई पुस्तक अवश्य लाये हैं, जब जब अनावृष्टि हुई है तब तब अकाल पड़ा है (गुरु)। इस देश में जब भी कोई महासाधक आया है, उसे यह प्रथा खटकी है (हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म साधना)।

(ङ०) अभ्यास – गुरु, बाहरी और अन्य विद्वानों ने पूर्णवर्तमान (आसन्न भूत) में अभ्यास माना है, किन्तु इस काल में अभ्यास नहीं होता। जैसे - आपने कई पुस्तकें लिखी हैं (गुरु), मैंने बहुत से उपन्यास पढ़े हैं (बाहरी)। यह वाक्य वस्तुत: कार्य की पूर्णता ही सूचित करते हैं। यह न तो काल के अभ्यास हैं और न क्रिया के।

(च) पूर्णभूत के अर्थ में – राजा हरिश्चन्द्र बहुत बड़े दानी हुए हैं।

(छ) अपूर्ण और तात्कालिक वर्तमान के अर्थ में -वह सोया है, वह सोया हुआ है (वह सो रहा है) लेटा हुआ है । यह अर्थ केवल अकर्मक क्रियाओं में ही प्राप्त होता है । सकर्मक क्रियाओं की रचना पूर्णता की ही बोधक होती हैं, जैसे - मैंने देखा है, मैंने अभी अभी देखा है, मेरा देखा हुआ है, घोड़ा मरा है अथवा मरा हुआ है ।

पूर्ण भूत

४२३. पूर्णभूत में अनेक अर्थों का विस्तार कम मिलता है । इसके कुछ विशिष्ट अर्थ यहाँ दिये जाते हैं ।

(क) ऐतिहासिक तथ्य का संकेत --सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था ।

(ख) पूर्णभूत कभी-कभी वर्तमान की सूचना देने के अर्थ में आता है, जैसे -मैं आपसे यह कहने आया था कि सभा आठ बजे होगी, मैं तो इसलिये आया था कि आपको समय से दवा दे दूँ ।

(ग) समसामयिक भूतकालीन घटनाओं की सूचना -(यह प्राय: संयोजक अव्यय के साथ आता है), जैसे - वह उठा ही था कि गिर पड़ा, मैं घर से निकला ही था कि तांगा मिल गया । वे आधे ही रास्ते गये थे कि ओले पड़ने लगे ।

(घ) पूर्णभूत के एक ही वाक्य में सामान्यत: दो भिन्न क्रियाओं के साथ -था- का प्रयोग नहीं होता, किन्तु कभी कभी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, जैसे - जिस समय यह पैदा हुआ था, बड़ी घनघोर वर्षा हुई थी । पिछली बार मैं आया था तो यहां ओले पड़े थे ।

पूर्ण भविष्यत्

४२४. पूर्ण भविष्यत् निम्नलिखित अर्थों में आता है -

(क) अनुमान - अशोक तो अब जवान हो गया होगा, ज़मीन गीली है तो रात पानी बरसा होगा ।

(ख) जिज्ञासा और प्रश्न —राम ने धनुष कैसे उठाया होगा ? चांद पर राकेट कैसे उतरा होगा ?

(ग) सन्देह - भूतकाल के अर्थ में - जैसे - मेरी चिट्ठी तो मिल गई होगी, गाड़ी आ गई होगी ।

(घ) सन्देह- वर्तमान के अर्थ में, जैसे - यहीं कहीं पड़ी होगी, पार्क में खेलता होगा ।

(ङ०) संभावनार्थ में --यदि वह आया होगा तो मिलेगा , यदि उसने लिया होगा तो मैं दिला दूँगा ।

(च) आज्ञार्थ में —मेरा प्रणाम पिता जी से कह दोगे (कह देना) ।

(छ) तिरस्कार के अर्थ में —मुझसे क्या मतलब, बनाया होगा कोई चित्र ।

(ज) अस्वीकार की दशा में - मैं क्यों जाऊँगा ? मैं भला क्यों झूठ बोलूँगा ? मेरी क्या गरज़ पड़ी है जो उनसे बोलूँगा ?

आज्ञार्थ

४२५. आज्ञार्थ के दोनों रूपों —प्रत्यक्ष विधि और परोक्ष विधि —में आज्ञा, अनुमति,उपदेश, निषेध, आशीष, शाप, मंगलकामना, चेतावनी, संमति, इच्छा, प्रश्न, कौतूहल, जिज्ञासा, औचित्य, योग्यता, कर्त्तव्य, प्रार्थना, आग्रह और संभावना आदि प्रकट करने की क्षमता निहित है । भाव-समृद्धि के इन रूपों में भविष्यत् की संभावना भी मिलती है । इसी प्रकार, आज्ञा चाहे प्रत्यक्ष विधि में हो या परोक्ष विधि में, हिन्दी में कालावधि के विचार से वह भविष्यत् बोधक होती है । यहाँ केवल उन्हीं रूपों पर विचार किया जाता है जिनका विवेचन पहले (अनु० २७३ - २८३) नहीं किया गया है । संभावना और भावी का सम्बन्ध घनिष्ट होने से भविष्यत् बोधक अर्थों को संभावना में ही लिखा जाता है ।

(क) आदेश - (१) सामान्य - इतना काम आज पूरा कर डालो, बारहवाँ पाठ खोलो, फ़ाइल पेश करो ।

(२) असामान्य - (अर्थात् निवेदन और धमकी सहित) - सर्वसाधारण से निवेदन है कि १५ मार्च तक सायकिल लायसेन्स बनवा लें ,अन्यथा सख्त कार्रवाई की जायेगी ।

(ख) आग्रह —चाहे जैसे भी हो आप इस शादी में आइए अवश्य, मेरा अनुरोध न टालिये । तुम चलो तो सही, इस अवसर पर तुम तो ज़रूर ही आना ।

(ग) शाप- मर जाय, नरक में पड़े । जाय भाड़ में जान छूटी हो ।

(घ) औचित्य, कर्त्तव्य- मनुष्य संकट के लिये संग्रह करे । तुम्हे चाहिये कि माता-पिता की सेवा करो ।

(ङ०) प्रश्न, कौतूहल,जिज्ञासा - इतना बड़ा आदमी और चोरी करे !,क्या यही नैट विमान है ? इतना छोटा, और इतने करतब इसी के हैं ! तुम्हीं बताओ, कोई क्या करे ? आप मिसाइल दिखाइये ।

(च) संभावना और भविष्यत् के अर्थ में —

(१) संभावना - इस अर्थ में प्राय: 'कदाचित् , कहीं , शायद, संभव है' पदों का प्रयोग किया जाता है, जैसे - वह शायद आज आवे, कदाचित् शाम को पानी बरसे, कौन जाने कल क्या हो, जल्दी चलो, कहीं वह मारपीट न करले ।

(२) सन्देह - कभी कभी यह क्रिया की द्विरुक्ति में होता है और द्विरुक्त क्रिया के मध्य में आता है, जैसे - हो न हो, वह चले न चले, उनका क्या आयें न आयें । वे शायद ही आयें । शायद वे ही आयें , संभव है न आयें ।

(३) परामर्श - अच्छा हो कि आज ही चले जायें ।

(४) दृढ़ता - जिसका जिसका मन चाहे आ जाय, मैं तैयार हूँ ।

(५) आदरसूचक विधि (आदरार्थ) - का प्रयोग कभी कभी भविष्यत् के अर्थ में किया जाता है, जैसे - मन करता है कि यहीं बैठ रहिये,

देखिए क्या असर होता है, इतना धन और कहाँ पाइए, का पढ़िये का गुनये का बेद पुराना सुनिये (कबीर) । यहाँ रहिये, देखिये, पाइये आदि रूप कर्मवाच्य के हैं (दे० अनु० १५८) ।

(६) 'चाहिये' भी कर्मवाच्य से व्युत्पन्न होने के कारण भविष्यत् बोधक (अनु० १५८) माना जाता है (कैलाग ,पृ० ४६१, गुरु पृ० ४६२) ।

(७) परोक्ष विधि के दोनों रूप - करना और करियेगा भविष्यत् आज्ञा के ही अर्थ में आते हैं (अनु० २८१) ।

(८) भविष्यत् आदरार्थ के लिये सामान्य आदरार्थ- यदि आप रुपये दीजिये तो वापस न माँगिये (माँगियेगा) ।

(९) आदरार्थ के लिये प्रत्यक्ष विधि के अन्य पुरुष बहुवचन (क्योंकि अन्य पुरुष बहुवचन सदैव आदरार्थ ही होता है) का प्रयोग किया जाता है, जैसे - इसे आप ही लिखें, इधर से आयें, आप लेटे रहें । इस संदर्भ में प्लैट्स[१], कैलाग,[२] फिल्लट[३] और गुरु[४] के सिद्धान्त उपयुक्त नहीं हैं ।

(छ) तात्कालिक आज्ञार्थ - तात्कालिक विधि दो क्रियाओं के योग से सम्पन्न होती है । पहली या मुख्य क्रिया अपूर्णता या पूर्णताबोधक होती है और दूसरी क्रिया विधि क्रिया के रूप में होती है । इसके निम्नलिखित रूप होते हैं ।

१. अपूर्णताबोधक प्रथम - रूप - निरन्तर चलते रहो, यह पुस्तक बराबर

---

१. एग्रामर आव हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, पृ० १३७

२. हिं०ग्रा०, पृ० ४५६

३. हिन्दुस्तानी स्टम्बलिंग ब्लाक्स, पृ० ४६

४. हिं०व्या०, पृ० ४६२

पढ़ते रहो, दो दो घंटे पर दवा पिलाते रहो ।

(२) द्वितीय रूप - चलते रहना, पढ़ते रहना, पिलाते रहना ।

(३) तृतीय रूप - चले जाना का प्रयोग भविष्य आज्ञा और तात्कालिक दोनों रूपों में मिलता है, जैसे - कल चले जाना, तीसरी मील तक बराबर चले जाना (यह वस्तुत: चलते जाना का स्थानापन्न है और इसका प्रयोग विरल है) चले जाना में चले रूप पूर्णताबोधक है किन्तु अपूर्णता के अर्थ में आया है

(४) प्रत्येक पुरुष वचन के साथ इनका प्रयोग हो सकता है ।

(५) सन्दिग्ध रचना में —पढ़ते जाओ, खाते जाओ, पढ़ते जाना, खाते जाना में पहली क्रिया क्रियार्थक है । इनसे एक तो निरन्तरता का बोध होता है (देखिये प्रथम रूप) और दूसरे यह पूर्वकालिक क्रिया (पढ़कर, खा कर) का भी ज्ञान कराती हैं । यह प्राय: सकर्मक क्रिया-रचना में ही होता है

(६) संमति के अर्थ में यही 'चाहिये ' भी - यह भविष्यत् बोधक और भूतकालिक दोनों प्रकार का होता है, जैसे - अच्छे अंक प्राप्त करने के लिये पढ़ते रहना चाहिये; पढ़ते रहना चाहिये था । अन्तिम स्थिति में 'चाहिये' प्रयोग वैकल्पिक होता है, जैसे - पढ़ते रहना था ।

सम्भावनार्थ

४२६. सम्भावनार्थ अपनी प्रयोगप्रक्रिया में संयुक्तवाक्य या मिश्र वाक्य का विषय है । सामान्यत: यह संयोजक अव्ययों, दो या दो से अधिक क्रियाओं अथवा दो भिन्न कालों के योग से सम्पन्न किया जाता है । ऐसी दशा में एक मुख्य होता है और दूसरा गौण या सहायक । स्वयं प्लैट्स (पृ० १३६ का फुटनोट पृ० १५६), कैलाग (पृ० ४६६, ४७१) और गुरु (पृ० ४६३, ४६५ - ६६, ६६ , ४७१ की सूचनाएं) आदि अनेक विद्वानों ने अनेक स्थलों पर इनके काल और अर्थ रूपों के प्रति आशंका ही प्रकट की है । इस प्रकार भी यह सामान्य काल-रचना के अन्तर्गत नहीं आते (दे० अनु० २८४ - ६८) । फ़िल्लट ने भी फ़ारबिस डंकन, हालरायड और कैम्पसन आदि के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए यही

व्यक्त किया है कि यह केवल मिश्रवाक्यों में ही आते हैं । सम्भावनार्थ के जिन चार रूपों का परिगणन (अनु० २६८ में) किया गया है उनके द्वारा व्यक्त विविध अर्थ यहाँ दिये जाते हैं । यहाँ यह संकेत करना उचित है कि नीचे दिये गये समस्त उदाहरण केवल व्याकरण ग्रन्थों से ही उद्धृत हैं ।

४२७. वर्तमान अपूर्ण संभावनार्थ

(क) वर्तमान में संभावना - कदाचित् इस गाड़ी में मेरा भाई आता हो, शायद वह ऐसा समझता हो ।

(ख) सामान्य भूत के अर्थ में - जो तुम कल होते तो अच्छा था ।

(ग) भविष्यत् के अर्थ में - यदि वह लिखता हो तो न छेड़ना ।

(घ) शर्त- मैं जाता तो उनसे अवश्य मिलता ।

(ङ०) अशक्ति - मुझसे कुछ नहीं हो सकता ।

(च) अभ्यास (स्वभाव या धर्म) - ऐसा घोड़ा लाओ जो एक घंटे में दस मील जाता हो । मुझे ऐसा नौकर चाहिये जो सब तरह के काम करता हो ।

(छ) सादृश्य और उत्प्रेक्षा के अर्थ में - वे ऐसे चलते हैं जैसे हाथी झूमता हो । आप ऐसे बोलते हैं मानों मुख से फूल झड़ते हों ।

(ज) अपूर्ण या असिद्ध इच्छा - काश कि मैं भी वहाँ होता, मैं चाहता हूँ कि यह लड़का पढ़ता होता ।

(झ) उपवाक्य का अध्याहार (गुरु के अनुसार पूर्ववाक्य का लोप होता है और केवल उत्तर वाक्य बोला जाता है) - इस समय वह लड़का पढ़ता होता (यदि जीवित होता तो) ।

४२८. वर्तमान पूर्ण संभावनार्थ

(क) आशंका, सन्देह - कहीं चोरों ने उसे मार न डाला हो ।

(ख) शर्त - यदि वह गया हो तो काम बन जायेगा ।

(ग) उत्प्रेक्षा- वह ऐसी बातें बनाता है मानों उसने कुछ भी न देखा हो । वह कमरे

मैं ऐसे घुसा है जैसे कोई चोर हो ।

(घ) सम्भावना - हो सकता है कि उसने ऐसी बात सुनी हो, कौन जाने वह गया हो ।

(ङ०) भविष्यत् के अर्थ में - अच्छा होगा कि उसने यही समझा हो ।

४२६. भूत अपूर्ण संभावनार्थ

(क) अपूर्ण इच्छा - मैं चाहता हूँ कि यह लड़का पढ़ता होता ।

(ख) अपूर्ण इच्छा (भूतकाल में) - तुम भी चाहते थे कि छोटा लड़का पढ़ता होता

(ग) शर्त - यदि मैं ऐसा काम करता होता तो अब तक धनी बन जाता । अगर वह काम करता होता तो अब तक चतुर हो जाता ।

४३०. भूत पूर्ण संभावनार्थ

(क) अपूर्ण इच्छा - तुमने अपना काम एक बार तो कर लिया होता, जो मैंने अपनी लड़की न मारी होती तो अच्छा था ।

(ख) शर्त - अगर वह चला होता तो पहुँच गया होता ।

(ग) उत्प्रेक्षा - वह खाने पर ऐसे टूटा पड़ता था जैसे भूखा भेड़िया हो ।

(घ) प्रश्न - वह न आता तो क्या मैं चला न गया होता ?

अध्याय – १२

संयुक्त-क्रिया

अध्याय- १२

संयुक्त क्रिया

४३१. आधुनिक भारतीय भाषाओं में व्युत्पन्न क्रियार्थक पदों, संज्ञा और क्रियाओं के योग से कथन में चारुता और स्पष्टता आ जाती है । यह परस्पर मिलकर एक ही विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करते हैं । इन संयुक्तपदों में क्रियापद काल रचना की अभिव्यक्ति तो करते ही हैं, प्राय: विशिष्ट धातुओं के योग से नवीन अर्थों का प्रकाशन भी करते हैं । इन समस्त रूपों में संयुक्त क्रिया सामान्यत: क्रिया-प्रत्ययों और सहायक क्रियाओं पर ही अवलम्बित रहती है । इस दृष्टि से विद्वानों ने संयुक्त क्रिया की परिभाषा, रचना और अर्थ पर विस्तार से विचार किया है । इस संदर्भ में विद्वान लेखकों की पूर्वोक्त रचनाओं के अतिरिक्त सर्वश्री केन्नेडी-माडर्न इण्डोआर्यन वर्ब्स, मातेर काटन - ग्लासरी, हिन्दुस्तानी-इंगलिश बेस्ड आन द बाइबिल इन हिन्दी, टी०ग्राहमबेली- ए कलेक्शन आव् हिन्दी रूट्स विद रिमार्क्स आन देअर डेरिवेशन एण्ड क्लासीफिकेशन, मोनियर विलियम्स- इंट्रोडक्शन टु हिन्दोस्तानी, जेस्पर्सन-हाऊ टु टीच ए फ़ारेन लैंग्वेज, धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास , भाग २, विश्वेश्वरदत्त शर्मा - भाषातत्व प्रकाश , रामचन्द्र-वर्मा- अच्छी हिन्दी, प्रेमनारायण टंडन - हिन्दी रचना और उसके अंग, रामनाथ उपाध्याय - हिन्दी-व्याकरण तत्वप्रकाश, जी०वी० दावाने - नामिनल कम्पोज़ीशन इन इण्डो आर्यन तथा किशोरीदास वाजपेयी की हिन्दी - निरुक्त आदि अनेक रचनाओं में संयुक्त क्रिया सम्बन्धी जो सामग्री उपलब्ध होती है उसमें दो बातें मुख्य हैं । प्रथमत: संयुक्त क्रिया अनेक क्रियाओं का समाहार है और दूसरे, यह अर्थविज्ञान और वाक्य-विन्यास का विषय है । इनसे भिन्न गेल्डनर महोदय इसे शिथिल वाक्य

रचना कहते हैं। संक्षेप में, अब तक के समस्त विवेचनों का सार इस प्रकार है।

१. संयुक्त क्रिया दो या दो से अधिक धातुओं के योग से बनती है
२. यह संज्ञादि शब्दों के साथ दूसरी क्रिया का योग करने से बनती है।
३. इसमें मूल और सहकारी क्रियाओं का योग होता है और सहकारी क्रियायें अपना अर्थ बिल्कुल त्याग देती हैं।
४. संयुक्त क्रिया ही संयुक्त काल है।
५. यह कृदन्तों के आगे अन्य क्रियायें जोड़ने से बनती है।
६. कृदन्त की क्रिया मुख्य होती है और काल की क्रिया कृदन्त की विशेषता प्रकट करती है।
७. यह वाक्य-विन्यास का विषय है काल रचना का नहीं।
८. यह सामासिक पद हैं जो मुहावरे की भाँति प्रयुक्त होते हैं।
९. यह ऐसा समास है जो वाक्य में क्रिया का कार्य सम्पादित करता है।
१०. एक क्रिया दूसरी क्रिया के अर्थ से अपना अर्थ मिल देती है, या अपना अर्थ बिलकुल छोड़ देती है तब कोई विशेष अर्थ प्रकट करती है।

४३२. इन सभी रूपों को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि संयुक्त क्रिया में तीन प्रमुख तत्व विद्यमान रहते हैं :--

(क) संयुक्त क्रिया में क्रिया से व्युत्पन्न अनेक क्रियार्थक तत्व (कृदन्तादि) एक ही क्रिया-भाव की अभिव्यक्ति करते हैं।

(ख) सामान्य काल-रचना में अनेक क्रियाओं का योग संयुक्त क्रिया-रचना ही है क्योंकि कर्मवाच्य और भाववाच्य की अभिव्यक्ति अनेक क्रियाओं के योग से की जाती है।

(ग) प्राय: सहायक क्रिया अपने वास्तविक अर्थ का त्याग करके नवीन अर्थ का प्रकाशन करती है।

४३३. परिभाषा-

उक्त तीनों रूपों के आधार पर संयुक्त क्रिया की परिभाषा निम्न-

लिखित रूप में की जा सकती है —संयुक्त क्रिया ऐसी अनेक क्रियाओं और क्रियार्थक तत्वों का समवाय है जो एक निश्चित अर्थ को प्रकट करती हैं अथवा व्यापार का क्रमिक विकास व्यक्त करती हैं । जैसे - वह पढ़ रहा है, उठ कर बैठ गया, लिखा जाकर काट दिया गया ।

४३४. सहकारी और सहायक क्रिया का अन्तर —

सामान्यत: सहायक क्रिया - (था, है, रह, हो) - को कालबोधक या व्यापारबोधक और सहकारी क्रिया (मार डाला, गिर पड़ेगा) को संयुक्त क्रिया का अन्तिम अंश माना जाता है । मेरी दृष्टि में सहकारी और सहायक क्रिया का यह भेद व्यर्थ है । इसके कारणों पर नीचे विचार किया जाता है ।

(क) यह उल्लेख किया जा चुका है कि - हो - रह् - आदि क्रियायें मूलत: मुख्य क्रिया हैं और जब अन्य क्रिया के साथ मिल कर व्यापार की दशा या काल का बोध कराती हैं तब इन्हें सहायक क्रिया कहते हैं (अनु० ३३०) । संयुक्त क्रिया का अन्तिम अंश भी काल अथवा व्यापार का बोध कराता है । जैसे - मार डाला, गिर जायेगा, गिर पड़ा था, मारे डालता था ।

(ख) सामान्य सहायक क्रियायें भी संयुक्त क्रिया के अन्तिम अंश की भाँति अपने मूल अर्थ का त्याग कर देती हैं, जैसे - चल रहा था, खा रहा होगा - में -रह था और-होगा- का कोई पृथक् अर्थ नहीं है ।

(ग) संयुक्त क्रिया के प्रथमांश की भाँति सामान्य रचना में भी मुख्य क्रिया धातु रूप में ही रहती है, जैसे - आ रहा है , पी जाता है, पी रहा है , पी गया होगा आदि ।

४३५. निष्कर्ष —

(क) हिन्दी में सहकारी क्रिया नहीं होती । केवल सहायक क्रिया होती है ।

(ख) कोई भी क्रिया मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त

हो सकती है ।

(ग) सहायक क्रिया अपने वास्तविक अर्थ का त्याग करती है ।

(घ) अनेक सहायक क्रियायें एक साथ प्रयुक्त हो सकती हैं ।

क्रिया-रचना का विस्तार -

४३६. संयुक्त क्रियाओं के अर्थ आदि पर विचार करने के पूर्व यह मनोरंजक तथ्य महत्त्वपूर्ण होगा कि एक निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति में कितनी क्रियायें या क्रियार्थक तत्व एक साथ प्रयुक्त किये जाते रहे हैं । इनमें सामान्य काल-रचना, कार्य-व्यापार का क्रमिक विकास, अनेक क्रिया-संयोग तथा अनेक कृदन्तों का एकत्र प्रयोग प्राप्त होता है । यह समस्त उदाहरण हिन्दी के विविध ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं से साभार ग्रहण किये गये हैं । क्रियाओं की स्पष्टता की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में संयोजित किया जाता है ।

वर्ग - अ

१. एक क्रिया -- (क) चले, चला, चलेगा
(ख) है, था, होगा

२. दो क्रिया - (क) चलता है -था- होगा । चला है -था-होगा ।
(ख) चला गया, उठ गया

३. तीन क्रिया - (क) चल रहा है -था- होगा । चला गया है -था- होगा
(ख) देखा गया है -था- होगा ।

४. चार क्रिया- (क) चलताआरहा है । चला आ रहा है । देखता जा रहा है । देखा जा रहा है ।
(ख) देखा जाता होता है । देखा जाता होता था ।

५. पांच क्रिया - (क) चलता आ रहा होता है। देखता आ रहा होता है।
(ख) चला जा रहा होता है। देखा जा रहा होता है।

वर्ग - आ

१. दो क्रिया - आया जाय, चल दीजिये, कहना है।

२. तीन क्रिया - उठा दिया जाय, मँगा लेना था, आया जाता है (भविष्यत्)।

३. चार क्रिया - आया किया चला गया, लिखा किया मिट गया।

४. पांच क्रिया - आया किया भेज दिया गया, लिखा किया मिटा दिया गया।

वर्ग - इ

१. दो क्रिया - उठ बैठा, गिर पड़ा, मार डाला, खा डालेगा, पढ़ने लगा।

२. तीन क्रिया - (क) उठ बैठता है, मार डालता है, चल जाता है।
(ख) आते हुए देखा, रोती हुई गई, मारता हुआ
(ग) करते करते मरा, भागता भागता आया, चलते पहुँचा।
(घ) खाने गया है, जाना चाहता था, उठना पड़
(ङ०) उठ कर जाये, भाग कर आया, देख हँसी।

३. चार क्रिया - (क) उठ उठ बैठता है, चलते हुए गिर पड़ा।
(ख) चलते चलते पढ़ता था, कहती कहती चली आई
(ग) घूमने टहलने गया होगा, माँगने जाँचने आते हैं।
(घ) मार कर डाल गया, पकड़ कर छोड़ दिया।

(ङ०) उठ उठ कर गिरा, खा खा कर मरा

(च) आते आते आ गई, पढ़ते पढ़ते पढ़ लिया ।

४. पांच क्रिया — (क) उठ कर बैठ जाता है, घूम फिर कर आ गया ।

(ख) उठते बैठते मारता रहता है, आते जाते दिख जाता

(ग) सुन सुन कर थक गया, डुबा डुबा कर मारा गया ।

(घ) मिटते मिटते मिटती चली गई, काटते काटते काट डाला है ।

(ङ०) मार काट कर चलता बना ।

५. छः क्रिया - (क) भूमते हुए चला आ रहा है

(ख) उठ उठ कर गिर जाता है

(ग) पटक पटक कर मारा गया था

(घ) हँसते बोलते गिर कर तड़पने लगा ।

(ङ०) चलते चलते गिर कर मर गया ।

६. सात क्रिया — (क) चलते चलते कह कर भाग गया होगा ।

(ख) उठ कर भागता हुआ चला गया था ।

(ग) मार काट कर डाल दिया जाता है ।

(घ) उठते उठते गिर कर लौटने लगा था ।

(ङ०) देख दिखाकर चला आ रहा होगा ।

७. आठ क्रिया — (क) पटक पटक कर मारते मारते मार डाला गया

(ख) चलते चलाते दिखा सुना कर आ रहा हूँ

(ग) घूमते घुमाते देखते दिखाते चला आ रहा होगा ।

(घ) लिखते लिखते लिख कर थक गया होता हूँ ।

८. नौ क्रिया -- (क) पटक पटक कर मारते मारते मार डाला गया था
(ख) कटवा बँधवा कर घसीटता हुआ चला आ रहा था ।
(ग) पढ़ लिख कर के नहा धोकर खाना पीना चाहिये ।

६. दस क्रिया -- मुड़ मुड़ कर देखते हुए फिसल कर गिर पड़ा होगा ।

१०. ग्यारह क्रिया - खिला पिला कर देखते दिखाते हँसता गाता चला आ रहा था ।

४३७. उक्त समस्त रूपों को केवल `क्रिया` कहा गया है । वस्तुत: यह केवल क्रिया नहीं हैं, वरन् क्रिया से व्युत्पन्न ऐसे क्रियार्थक तत्व हैं जो एक ही वक्तव्य के प्रकाशन में मुख्य क्रिया के अंग बन जाते हैं । इन क्रियार्थक तत्वों में मुख्य रूप से अपूर्णकृदन्त, पूर्णकृदन्त, पूर्वकालिककृदन्त, क्रियार्थक संज्ञा और द्विरुक्त क्रियायें आती हैं । इन सबके सामूहिक प्रभाव के कारण हिन्दी-संयुक्त क्रिया मुहावरेदार बन जाती है । इस प्रकार संयुक्त क्रियाओं की रचना सामान्यत: कृदन्तरूपों अथवा क्रिया प्रत्ययों और सहायक क्रियाओं के योग से ही होती है। इनके व्याकरणिक रूपों और प्रयोगों के सम्बन्ध में व्याकरण ग्रन्थों में बहुत कुछ कहा जा चुका है । यहाँ संयुक्त क्रिया की उन विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो क्रिया रचना के विस्तार से निष्कर्षत: प्राप्त हुई हैं । यह इस प्रकार हैं ।

१. एक साथ क्रिया के ग्यारह रूप प्राप्त होते हैं (अधिक भी हो सकते हैं) ।

२. एक साथ अनेक सहायक क्रियाओं का प्रयोग होता है -मारा जा रहा होता हूँ ।

३. संयुक्त क्रिया के अनेक रूपों से विभक्तियों का लोप हो जाता है । अत: इसमें सामासिक विशेषता आ जाती है ।

४. एकाधिक पूर्वकालिक रूप साथ-साथ आते हैं (अर्थात् एक पूर्वकालिक रूप दूसरे पूर्वकालिक रूप का पूर्वकालिक रूप होता है, जैसे --पढ़ लिख कर के नहा धो कर खाना-पीना चाहिये ।

५. पूर्वकालिक क्रिया रूपों के व्यवहित प्रयोग भी होते हैं, जैसे -मुड़ मुड़ कर देखते हुये फिसल कर गिर पड़ा ।

६. -ता और-ते- प्रत्ययान्त रूपों का एकत्र प्रयोग - उठते बैठते मारता रहता है ।

७. एक ही क्रिया भिन्न रूपों में एकत्र प्रयुक्त होती है, जैसे --मिटते मिटते मिट गया ।

८. पूर्णकृदन्त के पाँच एकत्र प्रयोग -लिखा किया मिटा दिया गया ।

९. सभी कृदन्तों का एकत्र प्रयोग - चलता चलता गिर कर लौटने लगा ।

कर्तृवाचक संज्ञा --

४३८. इन विशेषताओं में व्यवहित रूपों की स्थिति अव्ययों से भिन्न है और अन्तिम विशेषता में सभी कृदन्तों में कर्तृवाचक की गणना नहीं है । इसका कारण यह है कि क्रिया रूप में कर्तृवाचक का प्रयोग सीमित है और उक्त सन्दर्भ में वह क्रिया रूप की अपेक्षा कर्तृवाचक रूप में ही आयेगा, जैसे -चलने वाला चलते चलते गिर कर लौटने लगा । इस रूप में भी सभी कृदन्तों का एकत्र प्रयोग सिद्ध हो जाता है, लेकिन यह स्थिति क्रिया का लक्ष्य नहीं थी ।

४३९. संयुक्त क्रिया की धातु -

यह कहा जा चुका है कि हिन्दी में संयुक्त धातु नहीं होती । गुरु महोदय ने 'उठा ले जा सकें' पद को एक धातु माना है । यह उचित नहीं जान. पड़ता क्योंकि इसे धातु मानने में प्रत्ययान्त रूपों का व्यवधान आता है और प्रत्यय युक्त धातु को धातु न कह कर क्रियापद कहना ही श्रेयस्कर है । दूसरे, यदि इसे संयुक्त धातु मानें तो उक्त क्रिया-विस्तार के सभी रूप धातु मात्र ही होंगे, जो संभव नहीं है । अत: इस संयुक्त रूप को क्रियापदों अथवा क्रियार्थक तत्वों का सम-

वाय कहना ही उचित है। संयुक्त क्रिया में सभी पदों की धातुएँ स्वतंत्र अस्तित्व सम्पन्न तो होती हैं किन्तु एकत्र अवस्था में एक दूसरे पर पूर्णतया निर्भर होती हैं यह निर्भरता भी संयुक्त क्रिया का कारण है। इसी प्रकार स्वीकार करना, भस्म करना आदि भी हैं (दे० अनु० ४४७)।

४४०. संयुक्त-सहायक क्रियायें –

संयुक्त क्रिया में प्रयुक्त सहायक क्रियायें दो प्रकार की हैं --प्रमुख और गौण। प्रमुख सहायक क्रियाओं में उन क्रियाओं की गणना की जाती है जो अधिक प्रयुक्त हैं। गौण क्रियायें स्वभावत: कम प्रयुक्त क्रियायें हैं। लेकिन यह द्रष्टव्य है कि गौण क्रियायें, जिनका विकास परवर्ती प्रतीत होता है, इस प्रवृत्ति के प्रसार की सूचक हैं। यह इस प्रकार हैं।

प्रमुख सहायक क्रियायें - आना, उठना, करना, चलना, चाहना, चुकना, जाना, डालना, देना, पड़ना, पाना, बैचना, बैठना, रहना, लगना, लेना, सकना, होना

गौण सहायक क्रियायें --निकलना, पकड़ना, पटकना, बसना, भरना, भैजना, मरना, मानना, मारना, रखना।

४४१. द्वैतक्रियापद –

कुछ लोगों ने पुनरुक्त और द्वैतक्रियापदों को भी संयुक्त धातुओं में परिगणित किया है। इस बात का खण्डन किया जा चुका है (अनु० १२५ - १२६)। यह संयुक्त क्रिया में अन्य गौण धातु के रूप में द्विरुक्त होकर, अथवा विशेषण, क्रियाविशेषण या पूर्वकालिक रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

४४२. रूप के अनुसार वर्गीकरण --

रूप-रचना के आधार पर संयुक्त क्रियाओं को चार प्रकार का माना जा सकता है --अपूर्णकृदन्त, पूर्णकृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त और क्रियार्थक संज्ञा से

निर्मित। प्लैट्स, कैलाग, उदयनारायण तिवारी, कामताप्रसाद गुरु आदि ने रूप-रचना और अर्थ की दृष्टि से इन पर विस्तार से विचार किया है। यहाँ संक्षेप में कैलाग के अनुसार, किंचित् संशोधन के साथ, संयुक्त क्रियाओं का वर्गीकरण दिया जाता है।

४४३. (१) पूर्वकालिक कृदन्त पदयुक्त -

(क) भृशार्थक (INTENSIVES) जैसे, गिर पड़ना, गिरा देना, खा जाना, पी लेना, फाड़ डालना, फेंक देना।

(ख) शक्यताबोधक (POTENTIALS)- पूर्वकालिक कृदन्त के साथ "सकना" के योग से सम्पन्न होते हैं, जैसे - आ सकना, कर सकना, देख सकना, पी सकना, मोड़ सकना।

(ग) पूर्णताबोधक - (COMPLETIVES)- यह चुकना क्रिया के साथ पूर्णकालिक रूपों के योग से सम्पन्न किये जाते हैं, जैसे - कर चुकना, खा चुकना, जा चुकना, पढ़ चुकना, लिख चुकना।

४४४. (२) आकारान्त क्रियामूलक विशेष्यपदयुक्त -

(क) पौन: पुन्यार्थक (FREQUANTATIVES) - यह आकारान्त क्रियामूलक विशेष्य पद के साथ करना क्रिया के योग से निष्पन्न होते हैं, जैसे - आया करना, खेला करना, जाया करना, पढ़ा करना आदि।

(ख) इच्छार्थक (DESIDERATIVES) —आकारान्त क्रियामूलक विशेष्यपद के साथ चाहना क्रिया के योग से निर्मित होते हैं, जैसे - किया चाहता हूँ, चाहता हैं, कभी कभी आना चाहती है का भी प्रयोग होता है।

४४५. (३) असमापिकापदयुक्त -

(क) आरम्भबोधक (INCEPTIVES.) असमापिका पद के विकारी रूप के साथ लगना क्रिया के योग से - करने लगना, खाने लगना।

(ख) अनुमतिबोधक (PERMISSIVES.)- असमापिका पद के विकारी रूप के साथ देना क्रिया के योग से , जैसे - करने देना, जाने देना, आने देना ।

(ग) सामर्थ्यबोधक (ACQUISITIVES)- असमापिका पद के विकारी रूप के साथ पाना क्रिया के योग से जैसे - आने पाना, करनेपाना, जाने पाना ।

४४६. (४) अपूर्ण तथा पूर्ण कृदन्त पदयुक्त —

(क) निरन्तरताबोधक (CONTINUATIVES)- यह अपूर्ण कृदन्त के साथ रहना के योग से सम्पन्न होते हैं, जैसे - आता रहना, पढ़ता रहना ।

(ख) प्रगति बोधक (PROGRESSIVES) - यह अपूर्णकृदन्त के साथ जाना क्रिया के योग से निर्मित होते हैं, जैसे - बढ़ती जाती है, घटती जाती थी, पढ़ते जाते थे ।

(ग) गत्यर्थक (STATICALS) - यह अपूर्णकृदन्त के साथ गतिबोधक क्रिया के योग से निष्पन्न होते हैं, जैसे - गाते हुए चलता है, चलते हुए गाता है ।

(घ) उक्त रूप पूर्णकृदन्त के साथ आने पर भूत काल का अर्थ प्रकट करते हैं, जैसे - बढ़ा जाता था, घटाया गया था, इस स्थिति में कर्मवाच्य प्रमुख हो जाता है ।

४४७. (५) विशेष्य अथवा विशेषण पदयुक्त --

यह विशेष्य अथवा विशेषण पद के साथ करना, होना, लेना, आदि क्रियाओं के योग से सम्पन्न किया जाता है, जैसे - भोजन करना, विश्राम करना, अंगीकार करना, सुख देना, आलिंगन करना, आचरण करना, निवारण करना , समापन करना ।

सूचना — केलाग ने एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है जिसके प्रति गुरु महोदय और

उनके अनुकरण पर अनेक लोगों ने क्रिया के पूर्व आने वाले शब्द को भी क्रिया के अन्तर्गत मान लिया है। किन्तु इन्हें मुहावरा कहना अधिक उपयुक्त है अथवा यह नामधातु रूप हो सकते हैं, यद्यपि नामधातु कहने में भी संकोच ही होता है। संयुक्त क्रिया के दोनों अंश अथवा सम्पूर्ण प्रक्रिया ही धातुज होती है और यह हिन्दी धातुओं से व्युत्पन्न नहीं हैं।

४४८. समापनः इस प्रकार हिन्दी-क्रिया-रचना अपनी अर्थवत्ता में अत्यन्त सीमित प्रत्ययों के द्वारा विविध क्रिया रूपों के माध्यम से व्यापक भावबोध कराने में समर्थ है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके क्रिया-प्रत्यय उसके कृदन्त प्रत्ययों से अभिन्न हैं।

इति शुभम्

—

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची
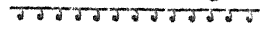
१. अच्छी हिन्दी — रामचन्द्र वर्मा, वाराणसी, सं० २००६

२. अपभ्रंश काव्यत्रयी — गायकवाड़ सिरीज़, बड़ौदा, १६२७

३. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन — वीरेन्द्र श्रीवास्तव, दिल्ली, १६६५

४. अपभ्रंश साहित्य — हरिवंश कोछड़, दिल्ली

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् — कालिदास, सं० — सीताराम चतुर्वेदी

६. अभिधान चिन्तामणि — हेमचन्द्र

७. अभिनव हिन्दी व्याकरण — अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, १६४०

८. अभिनवहिन्दी व्याकरण — ना०नागप्पा

९. अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन — कपिलदेव द्विवेदी

१०. अलंकारतिलक — वाग्भट

११. अशोक के फूल — हजारीप्रसाद द्विवेदी

१२. आधुनिक हिन्दी व्याकरण — कैलाशचन्द्र अग्रवाल

१३. आयारंगसुत्त — हरमनयाकोबी

१४. इंट्रोडक्शन टु कम्पैरेटिव फिलोलोजी — पी०डी० गुणे

१५. इंट्रोडक्शन टु प्राकृत — ए०सी०वुल्नर, लाहौर, १६३५

१६. इंट्रोडक्शन टु मैथिली डायलेक्ट — ग्रियर्सन, १६०६

१७. इन्ट्रोडक्शन टु हिन्दोस्तानी — मौनियर विलियम्स

१८. इंट्रोडक्शज टु हिन्दुस्तानी लैंग्वेज — डब्ल्यू येट्स, कलकत्ता, १८३६

१९. इंडेक्स टु द रूट्स, वर्ब फार्म्स एण्ड प्राइमरी डैरीवेटिव्स — ह्विटनी, १८८५

२०. इवोल्यूशन आव् अवधी — बाबूराम सक्सेना, १६३७

२१. ईडियम एण्ड ग्रामर — जे०सी० नेस्फील्ड

२२. उक्तिरत्नाकर (साधुसुन्दरगणी) सं० — जिनविजयमुनि, जयपुर १६५७

२३. उक्तिव्यक्ति प्रकरण (दामोदर पंडित) सं० जिनविजय मुनि

२४.	उत्तरज्भयणासुत्त	सं० रायधनपति सिंह बहादुर, कलकत्ता, १९
२५.	उत्तररामचरित	भवभूति
२६.	उत्तरीभारत की सन्त परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, प्रयाग
२८.	उर्दू कवायद	डा० अब्दुल हक्
२९.	उर्दू शहपारे	डा० मौहिउद्दीन कादरी
३०.	उवासगदसाओ	सं०ए०एफ०आर० हार्नले, कलकत्ता, १८९०
३१.	ए कम्पैरेटिव् ग्रामर आव् द गौडियन लैंग्वेज	हार्नले - लन्दन, १८८०
३२.	ए कम्पैरेटिव् ग्रामर आव् द माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज् आव् इण्डिया	जान बीम्स, लन्दन, १८७९
३३.	ए कंकार्डेन्स आव संस्कृत धातुपाठाज्	जे०बी० पालसुले, पूना, १९५५
३४.	ए कलेक्शन आव् हिन्दी रूट्स विद रिमार्क्स आन दैअर डेरीवेशन एण्ड क्लासिफिकेशन	टी० ग्राहम, बैली
३५.	ए कम्पैरेटिव मराठी ग्रामर	आर०बी०जोशी, १९००
३६.	ए ग्रामर आव् दबंगाली लैंग्वेज	फारबिस डंकन, लन्दन १८७५
३७.	ए ग्रामर आव् द पाली लैंग्वेज	था दी आँग, १९००
३८.	ए ग्रामर आव् द ब्रजभाखा	मिर्जाखान, सं० ज़ियाउद्दीन, विश्वभारती १९३५
३९.	ए ग्रामर आव् द संस्कृत लैंग्वेज	कीलहार्न
४०.	ए ग्रामर आव् द हिन्दी लैंग्वेज	रैव०एस०एच०कैलाग, लन्दन, १९५५
४१.	ए ग्रामर आव् द हिन्दुस्तानी ऑर उर्दू लैंग्वेज	जान टी०प्लैट्स, लन्दन, १९०९
४२.	ए ग्रामर आव् द् हिन्दोस्तानी लैंग्वेज विद ब्रीफ् नोट्स आव् ब्रज एण्ड दक्खिनी डायलेक्ट्स	जे० आर० बैलेन्टाइन, लंदन, १८४२
४३.	ए बैसिक ग्रामर आव् माडर्न हिन्दी....	डा० आर्येन्द्र शर्मा
४४.	ए वैदिक वर्ड कंकार्डेन्स	विश्वबन्धुशास्त्री, वी०वी०आर० इंस्टीट्यूट लाहौर, १९४२
४५.	ए संस्कृत हैंडबुक फार द फायर साइड	ब्युरिट, लन्दन, १८७८

४६. ए हायर संस्कृत ग्रामर	एम०आर०काले,मोतीलाल बना०,१६६१
४७. ऐन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आव् लैंग्वेज	लिओनार्ड ब्लूमफ़ील्ड, न्यूयार्क
४८. औरिजिन एण्ड डैवेलपमैण्ट आव् द बँगाली लैंग्वेज	डा० सुनीतिकुमार चटर्जी,कलकत्ता,१६२६
४६. ऋतम्भरा	डा० सुनीतिकुमार चटर्जी,साहित्यम०,प्रय
५०. कबीर की भाषा	डा० मातावदल जायसवाल,कैलाश ब्रदर्स, इलाहाबाद, १६६५
५१. कबीर ग्रन्थावली	श्यामसुन्दर, १६२८
५२. करकंड चरिउ	मुनिकनकामर, सं० - डा० हीरालालजैन कारंजा, बरार, १६३४
५३. कर्णाटक भाषाभूषण	कै०बी०बी०राइस, १८८४
५४. कर्पूर मंजरी	राजशेखर, सं० मनमोहनघोष, कलकत्ता १६४८
५५. कविप्रिया	केशवदास,१६५२
५६. काव्यादर्श	दण्डी, पूना, १६३८
५७. काव्यालंकार	भामह, चौखम्बा संस्कृतसिरीज़,बनारस, १६२८
५८. काव्यालंकार	रुद्रट,सं०सत्यदेव चौधरी,दिल्ली,१६६५
५६. कीर्तिलता	विद्यापति,सं०बाबूरामसक्सेना,प्रयाग, सं० १६८६
६०. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा	शिवप्रसाद सिंह, साहित्य भवन, इलाहाबाद,१६५५
६१. कुवलयमाला कहा	उद्योतनसूरि, सं० डा०ए०एन०उपाध्ये०
६२. कौमुदीमहोत्सव	डा० रामकुमार,वर्मा ,
६३. क्रियारत्नसमुच्चय	गुणरत्नसूरि, सं०-सतीशचन्द्रविद्याभूषन काशी, १६०८
६४. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास	ब्रजरत्नदास,बनारस, सं० १६६८
६५ गउडवहो	वाक्पतिराज, भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट,पूना, १६२७

६६. गाथा सप्तसती — सातवाहन, निर्णयसागर प्रेस, १६३३

६७. गोरखबानी, भाग १ — डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं० १६६१

६८. ग्रामर आव् ओल्डेस्ट कनारीज़ इन्सक्रिप्शन्स — ए०एन० नरसिंह, १६४४

६६. ग्लासरी हिन्दुस्तानी इंगलिश वेस्डआन द बाइबिल इन हिन्दी — मातैर काटन

७०. चंद बरदाई और उनका काव्य — विपिनबिहारी त्रिवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५२

७१. जम्बुसामि चरिउ — वीरकवि, जयपुर (अप्रकाशित)

७२. जसहर चरिउ — सं० पी०एल० वैद्य, कारंजा जैन ग्रन्थमाला,

७३. टीचर्स एण्ड आथर्स लिस्ट आव फोर थाउजेंड इम्पार्टेंट हिन्दी वर्ड्स — रेव०जे०सी० कोयनिंग, बैलोदबाजार, सी०पी०, १६३७

७४. ठेले पर हिमालय — डा० धर्मवीर भारती

७५. नेमिणाहचरिउ — लक्ष्मणदेव

७६. तरंगावईकहा — पादलिप्त, सं० हरमनयाकोबी

७७. तुलसीदास की भाषा — देवकीनन्दन श्रीवास्तव, लखनऊ, सं० २०१५

७८. द एटीमोलोजीज़ आव यास्क — सिद्धेश्वर वर्मा, होशियारपुर, १६५३

७६. द केस सफिक्सेज आव् इण्डोईरेनियन, भाग १ — फ्रेंकलिन एडगर्टन, १६११

८०. दक्खिनी हिन्दी — बाबूराम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६५२

८१. दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन, बिहारराष्ट्रभाषा षद्, पटना, १६५६

८२. द जातक, भाग १-६ — टी०डब्ल्यू राइस डेविड, लन्दन १८७७

८३. द निघण्टु एण्ड द निरुक्त — डा० लक्ष्मणस्वरूप, आक्सफोर्ड, १६२०

८४. द निरुक्त — स्कोल्ड, लन्दन, १६२६

८५. द प्राकृत प्रकाश — कावेल

८६. द संस्कृत लैंग्वेज — टी० बरो, लन्दन

८७. द सिस्टम आव् ग्रामर — आटो जेस्पर्सन, लन्दन, १९३३

८८. देशीनाममाला — हेमचन्द्र, सं० मुरलीधर बनर्जी, कलकत्ता, १९३१

८९. दोहाकोष — राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभा०परि०, पटना, १९५७

९०. दोहावली — तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

९१. नवीन हिन्दी व्याकरण — धीरेन्द्र वर्मा और बाबूराम सक्सैना

९२. नामिनल कम्पोज़ीशन इन इण्डोआर्यन — जी०वी० दावाने

९३. नागानन्द — श्रीहर्ष, मोतीलाल बनारसीदास

९४. नागकुमारचरित — पुष्पदन्त, सं०-हीरालाल जैन, कारंजा, बरार, १९३३

९५. नाट्यशास्त्र — भरतमुनि, अनु० भोलानाथ शर्मा, कानपुर, १९५

९६. नायाधम्मकहा — रायधनपतिसिंह जी बहादुर, कलकत्ता, १९३३

९७. निरुक्तम् — यास्क, सं० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

९८. न्यू लाइट इन जनरल इंगलिश — श्रीप्रकाश गुप्त, गाज़ियाबाद, १९६६

९९. पउमचरिउ — स्वयंभू, (१) सं० - हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, भारतीयविद्या०भ०, बंबई, सं०२००६ (२) सं० हरमनयाकोबी, भावनगर, १९१४

१००. पण्णवणा — बनारस, सं० १९४०

१०१. पण्हावगारणाइं — कलकत्ता, सं० १९३३

१०२. पदावली — विद्यापति, सं० रामवृक्ष बैनीपुरी, पटना

१०३. परमात्म प्रकाश एण्ड योगसार आव् जोइन्दु — ए०एन० उपाध्ये, बम्बई, १९३७

१०४. परिभाषेन्दुशेखर — नागेशभट्ट

१०५. पाइअसद्दमहण्णावो — पं०हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, कलकत्ता, १९२३

१०६. पालि प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण	डा० सुकुमार सेन, अनु० महावीरप्रसाद लखेड़ा
१०७. पालिमहाव्याकरण	जगदीशकाश्यप, मोतीलाल बनारसीदास
१०८. पालि व्याकरण	भिक्षु धर्मरक्षित, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, सं० २००४
१०९. पाहुड़दोहा	मुनिरामसिंह, सं०- हीरालाल जैन, कारंजा बरार, सं० १९९०
११०. पुरातत्वनिबन्धावली	राहुलसांकृत्यायन, इंडियन प्रेस, प्रयाग
१११. पुरानी राजस्थानी	तैसीतौरी, अनु० नामवर सिंह, ना०प्र०सभा काशी सं० २०१२
११२. पुरानी हिन्दी	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (प्रथम सं०) ना॰ प्र॰ स॰ काशी.
११३. पृथ्वीराजरासो	ना०प्र०सभा, काशी, १९०४-१३
११४. पृथ्वीराजरासो की भाषा	डा० नामवर सिंह
११५. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य	डा० रामसिंह तोमर, हिन्दी-परिषद् प्रका० प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६४
११६. प्राकृत कल्पतरु	रामशर्मतर्कवागीश, इण्डियन एण्टीक्वैरी, जिल्द ५१
११७. प्राकृत पैंगलम्	सं० (१) चन्द्रमोहन घोष, एशियाटिक सोसा० आव बैंगाल, कलकत्ता, १९०२, तथा (२) डा० भोलानाथ व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५९
११८. प्राकृत प्रवेशिका	ए०सी० वुल्नर, अनु० बनारसीदास जैन, पंजाब यूनी०, लाहौर, १९३३
११९. प्राकृतभाषाओं का रूपदर्शन	नरेन्द्रनाथ, रामाप्रका०, लखनऊ
१२०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	आरपिशल, अनु० हेमचन्द्र, जोशी, बिहार भाषा परिषद, पटना, १९५८
१२१. प्राकृत लक्षणम् (चण्ड)	सं०-ए०एफ०रूडोल्फ हार्नेले, कलकत्ता,

१२४. प्राकृत विमर्श — डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, विश्व विद्या०, २००६

१२५. प्राकृत शब्दानुशासन — त्रिविक्रम

१२६. प्राकृत व्याकरण — हैमचन्द्र, सम्पा० पी०एल० वैद, बम्बई संस्कृत प्राकृत सिरीज़, १९५८

१२७. प्राकृत शब्द प्रदीपिका — नरसिंह

१२८. प्राकृत सर्वस्वम् — मार्कण्डेय, सम्पा० - भट्टनाथस्वामिन, विजगापट्टमङ्क, १९१२

१२९. प्री आर्यन एण्ड प्री द्राविडियन इन इंडिया — प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९२९

१३०. बिहारी मीमांसा — डा० रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रका०, दिल्ली

१३१. बिहारी ~~मीमांसा~~ भाषाओं की उत्पत्ति और विकास — नलिनीमोहन सान्याल, रामनारायणलाल पब्लिशर और बुकसेलर इलाहाबाद-१९४२

१३२. बिहारी-सतसई — इण्डियन प्रेस (संस्करण) इलाहाबाद

१३३. बिहारी सतसई का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन — डा० (श्रीमती) रामकुमारी मिश्र, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद १९७०

१३४. बीसलदेव रासो — नरपति नाल्ह, सम्पा० सत्यजीवन वर्मा, ना० प्र०स०, काशी, सं० १९८२

१३५. बुद्धचरित — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९७९

१३६. ब्रजभाषा — डा० धीरेन्द्रवर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५४

~~१३७. बुद्धचरित — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १९७९~~

१३७ बुद्धिस्ट इंडिया — टी० डब्ल्यू राइस डेविड, लन्दन, १९०३.

१३८. ब्रजभाषा और खड़ीबोली का तुलनात्मक अध्ययन — डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, सरस्वती पुस्तक सदन आगरा

१३९. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली — डा० कपिलदेव सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, १९५६

१४०. भरतबाहुबलिरास — शालिभद्र सूरि सम्पा० - लालचन्द्र भगवान गांधी, अहमदाबाद १९९७ वि०

१४१. भविसयत्त कहा — धनपाल, सं० दलाल और गुणे गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़, १९२३ ई०

१४२. भारत का भाषा सर्वेक्षण खण्ड १, १ — ग्रियर्सन, अनु० डा० उदयनारायण तिवारी प्रका० शासन, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश

१४३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी — डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, राजकमल प्रका०, दिल्ली, १९५४, तथा अंग्रेजी संस्करण, १९४३

१४४. भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश — शिवशेखर मिश्र, प्राच्यविभाग लखनऊ, यूनिवर्सिटी

१४५. भारतीय आर्य भाषा — ज्यूल ब्लाख़ (अनु० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) हिन्दी समिति सूचना विभा (उ०प्र०)१९६३

१४६. भाषातत्व प्रकाश — विश्वेश्वरदत्त शर्मा

१४७. भाषाभास्कर — डब्ल्यू एथरिंगटन, १८७१

१४८. भाषा विज्ञान — डा० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद ।

१४९. भाषाविज्ञान — डा० श्यामसुन्दरदास साहित्यरत्नमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८१

१५०. भाषा तत्वबोधिनी — पं० रामसजन

१५१. भाषाविज्ञान और हिन्दी — डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, भारतीय इलाहाबाद

१५२. भूषण — विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणीवितान, बनारस, सं० २०१०

१५३. भोजपुरी भाषा और साहित्य — डा० उदयनारायण तिवारी, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४
१५४. मज्झिमनिकाय — (१) सं० वी ट्रेंकनर भाग१, पालीटैक्स्ट, सोसाइटी, लंदन, १८८१
१५५. मराठी भाषाचे उद्गम वा विकास — के०पी० कुलकर्णी
१५६. महापुराण (तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार) — पुष्पदन्त, सं० - पी०एल० वैद्य, बम्बई
१५७. महाभाष्यम् (भाग १) — पतंजलि, सं० कीलहार्न
१५८. महाभाष्यम् (सम्पूर्ण, भाग१-३) — चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७
१५९. माडर्न इण्डो आर्यन वर्ड्स — कैन्नैडी
१६०. मालविकाग्निमित्र — सं० शंकर पाण्डुरंग पंडित, बम्बई, १८८९
१६१. मुलतानी और उर्दू के ताल्लुकात — लाहौर यूनिवर्सिटी
१६२. मैटिरियल्स फार रसंताली ग्रामर — पी०ओ० बाडिंग
१६३. मृच्छकटिक — शूद्रक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६
१६४. यास्क्स निरुक्त — सं० वी०के० राजवाडे, पूना १९४०
१६५. रघुवंशम् — कालिदास
१६६. रचना मयंक — सुरेश्वर पाठक, सरस्वती भंडार, पटना, १९८७
१६७. रत्नावली — श्री हर्ष, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ,
१६८. राउलवेलि और उसकी भाषा — माताप्रसाद गुप्त, लोकभारती प्रका०,
१६९. राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ
१७०. राजस्थानी भाषा और साहित्य — हीरालाल माहेश्वरी, कलकत्ता, १९६०
१७१. रामचरित मानस — तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर
१७२. रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) — स्वयंभू, सं० प्रो० वेलणकर
१७३. लघुसिद्धान्त कौमुदी — टीका० श्रीधरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९५०

१७४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इण्डिया — ग्रियर्सन- (प्राय: सभी जिल्दें)

१७५. लीलावईकहा — कोऊहल, सं० डा० ए०एन० उपाध्ये, १९४९

१७६. लैंग्वेज एण्ड लिंग्विस्टिक प्राब्लेम — डा० सुनीतिकुमार चटर्जी

१७७. वज्जालग्गा — जूलियस लावर, बिब्लियोथिका सिरीज़, कलकत्ता, १९१४ से १९२३ ई०

१७८. वर्णरत्नाकर — ज्योतिरीश्वर ठाकुर, सं० सुनीतिकुमार चटर्जी, तथा बबुआ जी मिश्र, बिब्लोथिका इंडिका, १९४०

१७९. वर्बलकम्पोज़ीशन इन इंडोआर्यन — रामचन्द्र नारायण वले, पूना १९४८

१८०. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ — खुशालचन्द्र गोरावाला, श्रीवर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति, सागर, १९४९

१८१. वाक्यपदीयम् — भर्तृहरि, सं० चारुदेवशास्त्री, लाहौर

१८२. विक्रमोर्वशीयम् — कालिदास

१८३. विक्रमस्मृतिग्रन्थ — उज्जैन, सं० २००३

१८४. विचारधारा — डा० धीरेन्द्र वर्मा

१८५. विद्धशालभंजिका — सं० भास्कररामचन्द्र आप्टे, पूना, १८८६

१८६. विद्यापीठ अभिनन्दनग्रन्थ — काशी विद्यापीठ रजतजयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ

१८७. विनयपत्रिका — तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

१८८. विवागसुय — राय धनपति सिंह जी बहादुर, कलकत्ता, सं०१९३

१८९. विवाहपन्नत्ति — बनारस, १९३३

१९०. विष्णुधर्मोत्तर पुराण

१९१. वैदिकसाहित्य परिशीलन — रजनीकान्त शास्त्री

१९२. वैयाकरणभूषणसार — कौण्डभट्ट

१९७. व्याकरण संजीवन — रामावतार शर्मा, पटना, १९३५

१९८. व्याकरणसिद्धान्त सुधानिधि — विश्वेश्वर, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९२४

१९९. व्यावहारिक हिन्दी व्याकरण — हरदेवबाहरी, लोकभारती, प्रकाशन, १९७२

२००. शुद्धहिन्दी कैसे लिखें — राजेन्द्र सिंह, भारती भवन, पटना

२०१. ~~शुद्ध हिन्दी क~~ श्रीबहादुर सिंह जी सिंघी स्मृति ग्रन्थ — जिन विजय मुनि, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४५

२०२. षड्भाषाचन्द्रिका — लक्ष्मीधर, सं० रावबहादुर कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी, बाम्बे संस्कृत सिरीज़, १९१६

२०३. सन्देशरासक — अब्दुलरहमान, सं० जिनविजय मुनि, बम्बई, १९४५

२०४. सन्देशरासक — सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी ग्रन्थागार, बम्बई, १९६० ई०

२०५. संस्कृत ग्रामर — मैक्समूलर

२०६ संस्कृत ग्रामर — मैक्डानेल

२०७ संस्कृत ग्रामर — ह्विटनी

२०८. संस्कृत ग्रामर — मोनियर विलियम

२०९. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन — डा० भोलाशंकर व्यास

२१०. संस्कृत भाषा — टी०बरो, अनु० भोलाशंकर व्यास

२११. संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका — डा० बाबूराम सक्सैना, रामनारायण लाल, १९५१

२१२. संस्कृत सिनटैक्स — जे०एस०स्पेइयर, १८८६

२१३. संस्कृति के चार अध्याय — रामधारी सिंह 'दिनकर' उदयाचल, पटना, १९६६

२१४. सद्गुरु कबीर साहब का साखीग्रन्थ — श्रीमान् महन्त बालकदास जी साहब, बड़ौदा

२१५. सनत्कुमार चरित — हरमन याकोबी- १९२१

२१६. सरस्वती कंठाभरण — भोजराज, निर्णयसागर, १९२५ ई०

२१७. साइंस आव् लैंग्वेज़ - जिल्द १ — मैक्समूलर, लन्दन, १८७३ ई०

२१८. साइंस आव् लैंग्वेज़ — आई०जे०एस० तारापुरवाला, कलकत्ता, १९३१

२१९. सामान्य भाषाविज्ञान — डा० बाबूराम सक्सैना, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

२२०. सावयधम्म दोहा — देवसेन, सम्पा० डा० हीरालाल जैन, १६२६वि०

२२१. साहित्य दर्पण — विश्वनाथ, सम्पा० डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभ०, वाराणसी, १६७० ई०

२२२. सिद्धान्त कौमुदी — भट्टोजि दीक्षित

२२३. सिद्ध साहित्य — डा० धर्मवीर भारती

२२४. सुदर्शन चरित (सुदंसणचरिउ) — नयनन्दी, अहमदाबाद, १६३२

२२५. सूर की भाषा — डा० प्रेमनारायण टंडन, हिन्दी साहित्य भंडार गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ, १६५७

२२६. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य — डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १६५८

२२७. स्टडीज इन द्राविडियन फिलोलोजी — रामकृष्णैया, १६३५

२२८. स्टडीज़ आव् नार्थ इण्डियन लैंग्वेजेज — टी० ग्राहमबेली

२२६. हरिवंश पुराण — धवल कवि

२३०. हाईस्कूल इंग्लिशग्रामर — पी०सी०रेन

२३१. हाउ टु टीच ए फारेन लैंग्वेज — ओटो जैस्पर्सन

२३२. हिन्दी — बदरीनाथ भट्ट, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ, सं० १६८१

२३३. हिन्दी : उद्‌भव विकास और रूप — हरदेव बाहरी, १६६५

२३४. हिन्दी कारकों का विकास — शिवनाथ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२३५. हिन्दी काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग १६४५

२३६. हिन्दुस्तानी ग्रामर — एम०सी सहगल

२३७. हिन्दुस्तानी स्टम्बलिंग ब्लाक्स — डी०सी० फिल्लट, लंदन, १६१७

२३८. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग — डा० नामवर सिंह, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १६५२

२३६. हिन्दी को मराठी संतों की देन — विनयमोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १६५७

२४०. हिन्दी क्रियाओं का अर्थपरक अध्ययन — कृष्णगोपाल रस्तोगी

२४१. हिन्दी धातु कोष — मुरलीधर श्रीवास्तव
२४२. हिन्दी-निरुक्त — किशोरीदास वाजपेयी
२४३. हिन्दी पर फारसी का प्रभाव — अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, प्रयाग, १९३९ ई०
२४४. हिन्दी भाषा — डा० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद, १९६६ ई०
२४५. हिन्दी भाषा और नागरी लिपि — बालगोविन्द मिश्र, हिन्दी साहित्य, प्रेस, इलाहाबाद, १९५७
२४६. हिन्दी भाषा का इतिहास — धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकैडेमी, इलाहाबाद नवम संस्करण, १९५७
२४७. हिन्दीभाषा का उद्गम और विकास — डा० उदयनारायण तिवारी, राजकमल प्रका० दिल्ली, १९६३ ई०
२४८. हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण — भोलानाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६३ ई०
२४९. हिन्दी रचना और उसके अंग — प्रेमनारायण टंडन
२५०. हिन्दी व्याकरण — कामताप्रसाद गुरु, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पांचवां संस्करण, सं० २०१५
२५१. हिन्दी व्याकरण — दुनीचन्द, २००७
२५२. हिन्दी व्याकरण — किशोरीदास वाजपेयी, १९६८
२५३. हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा — ज०म० दीमशित्स, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६६
२५४. हिन्दी व्याकरण कौमुदी — रामदहिन मिश्र
२५५. हिन्दी व्याकरण तत्व प्रकाश — रामनाथ उपाध्याय
२५६. हिन्दी व्याकरण रत्नाकर — सद्गुरुशरण अवस्थी
२५७. हिन्दी शब्दानुशासन — किशोरीदास वाजपेयी, ना०प्र०स०काशी
२५८. हिन्दी साहित्य — सं० धीरेन्द्रवर्मा, १९५७
२५९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल — हजारीप्रसाद द्विवेदी, पटना, १९५४
२६०. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — रामकुमार वर्मा, १९४४

२६१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २ — सं० धीरेन्द्र वर्मा, ना०प्र०स०,काशी
२६२. हिन्दी साहित्य की भूमिका — हजारीप्रसाद द्विवेदी
२६३. हिन्दी सिमैन्टिक्स — हरदेव बाहरी
२६४. हिस्टारिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश — जी०वी० तगारे,पूना १९४८
२६५. हिस्टारिकल ग्रामर आव इन्सक्रिप्शनल प्राकृत — एम०ए०मेहन्दले,पूना १९४८
२६६. हिस्ट्री आव् पंजाबी लिटरेचर — मोहनसिंह
२६७. हिस्टारिकल लिंग्विस्टिक्स इन इण्डोआर्यन — डा० एस०एम० कत्रे

कोशग्रन्थ

१. अभिनव हिन्दी कोश — हरिशंकर शर्मा
२. अवधी कोश — रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'
३. एकम्परेटिव एण्ड एटिमोलाजिकल डिक्शनरी आव नेपाली लैंग्वेज — आर०एल० टर्नर,लन्दन, १९३१
४. ए डिक्शनरी आव द पाली लैंग्वेज — आर०सी० चाइल्डर्स
५. ए डिक्शनरी आव द हिन्दू लैंग्वेज — रेवरेण्ड जे०डी० बेट
६. ए न्यू हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी — एस०डब्ल्यू० फेलन पी०एच०डी०
७. एटिमोलाजिकल गुजराती इंगलिश डिक्शनरी — एम०एन० बैलसरे
८. इनसाइक्लोपीडिया आव् लिटरेचर(न्यूयार्क) — डा० उपाध्ये

९. नालन्दा विशाल शब्दसागर	नवलजी
१०. पाली इंगलिश डिक्शनरी	टी०डब्ल्यू राइस डेविड विलियम स्टीड,१९२१
११. प्रचारक हिन्दी शब्दकोश	सं० पं० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' बनारस, १९५० ई०
१२. प्रामाणिक हिन्दी कोश	रामचन्द्र वर्मा साहित्यरत्नमाला कार्यालय, धर्मकूप,बनारस
१३. भाषा विज्ञान कोश,भोलानाथ तिवारी	
१४. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी	मोनियर विलियम्स,आक्सफोर्ड,१८९९
१५. संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी	कैपेलर
१६. संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे
१७. सूर ब्रजभाषा कोश	प्रेमनारायण टण्डन
१८. हिन्दी मुहावरा कोश	डा० भोलानाथ तिवारी
१९. हिन्दी मुहावरा कोश	डा० सरहिन्दी
२०. हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश	विश्वेश्वरनारायण श्रीवास्तव,देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' इण्डियन प्रेस, १९५२
२१. हिन्दी लोकोक्तिकोश	विश्वम्भरनाथ खत्री
२२. हिन्दी-शब्द-संग्रह	मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव,राजवल्लभसहाय
२३. हिन्दी शब्दार्थ पारिजात	चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा,रामनारायण लाल अग्रवाल,इलाहाबाद
२४. हिन्दी शब्दसागर	श्यामसुन्दर दास, ना०प्र०स०काशी,जुलाई १९१२
२५. हिन्दोस्तानी डिक्शनरी	जान टी० प्लैट्स

<u>पत्र-पत्रिकाएं</u> -

१. इंडियन एंटीक्वैरी

२. इंडियन लिंग्विस्टिक्स

३. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली

४. एनल्स आव् द भंडारकर औरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट,पूना
५. एलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़
६. एशियाटिक सौसायटी आव् बैंगाल
७. कौशोत्सव स्मारक संग्रह,काशी, सं० १९८५
८. गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट जर्नल,इलाहाबाद
९. गायकवाड़ औरियंटल सिरीज़
१०. गुजरात वर्नाक्यूलर सौसायटी,अहमदाबाद
११. जर्नल आव् एशियाटिक सौसायटी आव् बैंगाल
१२. जर्नल आव् रायल एशियाटिक सौसायटी
१३. जर्नल आव द् अमेरिकन औरियण्टल सौसायटी
१४. जर्नल आव द बाम्बे ब्रांच आव द रायल एशियाटिक सौसायटी
१५. नया समाज,कलकत्ता, १९५६
१६. न्यू इंडियन एंटीक्वेरी,पूना
१७. नागरीप्रचारिणी पत्रिका,काशी
१८. बुलेटिन आव् द डेकनकालेज,रिसर्च इंस्टीट्यूट,पूना
१९. बुलेटिन आव् द स्कूल आव् औरियंटल स्टडीज़
२०. मरुभारती, वर्ष २, अंक २
२१. मैम्वायर्स आव् द एशियाटिक सौसायटी आव् बैंगाल
२२. राजस्थान भारती, जुलाई १९५३
२३. विशाल भारत, कलकत्ता, १९३० -३८
२४. सम्मेलन पत्रिका,प्रयाग
२५. सरस्वती, इलाहाबाद
२६. हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद
२७. हिन्दी अनुशीलन,इलाहाबाद ।